UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186135

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H371.1/R26A Accession No. H2940
Author रायबर्न ।
Title अध्यापन के सिद्धान्त । 1956
This book should be returned on or before the date last marked below.

अध्यापन के सिद्धान्त

प्रथम हिन्दी संस्करण मार्च १९५६

(C) १९५६, दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड,
लखनऊ

मुद्रण
न्यू थॉट प्रेस,
इलाहाबाद

भूमिका

आज रायबर्न महोदय की 'Principles of Teaching' को हिन्दी भाषा का नवीन परिधान पहिना कर पाठकों के समक्ष रखते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। राष्ट्र भाषा बनकर हिन्दी ने जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है वह किसी से छिपा नहीं है। ऐसी अवस्था में हिन्दी भाषा की माँग बढ़ जाना स्वाभाविक ही है। विश्वविद्यालय की कक्षाओं में हिन्दी माध्यम स्वीकार हो जाने के कारण विद्यार्थियों को हिन्दी मे लिखी हुई संदर्भ पुस्तकों की आवश्यकता और भी अधिक जान पड़ने लगी है। इस दिशा में विद्यार्थी समाज की किंचित्मात्र सेवा करने के अभिप्राय से से उपर्युक्त पुस्तक का रूपान्तर किया गया है।

लेखक ने अपनी इस छोटी-सी रचना में "गागर में सागर" भर दिया है; फल-स्वरूप अध्यापन के व्यावहारिक स्वरूप का कोई भी पहलू इससे अछूता नहीं रह पाया है। यद्यपि इस पुस्तक का जन्म अबसे लगभग ग्यारह वर्ष पूर्व (१५-१०-१९४४) हुआ था तथापि इसमें दिये गये सुझाव इतने स्वाभाविक एवं व्यावहारिक हैं कि आज भी वे ज्यों के त्यों लागू किये जा सकते हैं। यही कारण है कि यह पुस्तक प्रशिक्षण कक्षाओं में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की एक अमूल्य निधि बन गई है।

उस "अमूल्य निधि" को किसी प्रकार की काट छांट किये बिना ही पाठकों के पास तक पहुंचा देने के अभिप्राय से पुस्तक का अनुवाद करते समय इस बात का पूरा पूरा ध्यान रक्खा गया है कि भाषा परिवर्तन के साथ भाव परिवर्तन न होने पाये। जहां कहीं इसका भय जान पड़ा है वहां हिन्दी शब्दों के साथ-साथ अंग्रेज़ी शब्द भी दे दिये गये हैं। हिन्दी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कम-से-कम किया गया है और भाषा को सर्वग्राह्य बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है। इस प्रकार अनुवादक एवं प्रकाशक द्वारा इस बात का भरसक प्रयत्न किया गया है कि पुस्तक पूर्णतया सफल हो। पाठकों से निवेदन है कि यदि इसमें कोई त्रुटि रह गई हो तो अपने सुझाव देकर हमें अनुगृहीत करें। यह अनुवाद अंग्रेज़ी संस्करण के १९४९ के पुनर्मुद्रण से किया गया है।

—प्रकाशक

१०-३-५६

: १ :

अध्यापन का स्वरूप

शिक्षा में तीन केन्द्र बिन्दु होते हैं—शिक्षक, बच्चा और विषय। अध्यापन प्रथमतः वह सम्बन्ध है जो इन तीनों के मध्य स्थापित होता है। इसका उदाहरण हमें इस वाक्य से मिलता है कि 'अध्यापक रामप्रसाद को इतिहास पढ़ाता है'। इस वाक्य में तीन संज्ञाओं के बीच का सम्बन्ध प्रदर्शित होता है। इन संज्ञाओं का दो व्यक्तियों और एक वस्तु के लिये प्रयोग किया गया है; शिक्षक, शिष्य (रामप्रसाद) और इतिहास (विषय)। क्रिया शब्द 'पढ़ाता है' तीनों में सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार अध्यापन का सर्वप्रथम कार्य यही है। हमारे पास एक व्यक्ति है जिसे हम अध्यापक कहते हैं। वह प्रौढ़ है। हमारे पास एक बच्चा है और हमारे पास एक विषय है। अध्यापन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वह प्रौढ़ व्यक्ति उस बच्चे और उस विषय को एकत्र कर देता है।

इन तीनों मूल तत्त्वों का (जैसा कि हम उन्हें कह सकते हैं) इस सम्बन्ध में अपना-अपना स्थान होता है। जब तक यह तीनों न हों 'अध्यापन' हो ही नहीं सकता। परन्तु जैसा कि हमें अपने वाक्य में संज्ञाओं की स्थिति से पता चलता है, इस सम्बन्ध की स्थापना और विकास की क्रिया में अध्यापक एक सक्रिय कर्ता है। आगे चल कर जब हम 'सीखने' के स्वरूप पर विचार करेंगे तो हम देखेंगे कि बच्चा भी अत्यन्त क्रियाशील होता है। परन्तु जब हम शिक्षण की प्रक्रिया को 'अध्यापन' के दृष्टि कोण से देखते हैं तो उस समय अध्यापक की विशिष्ट क्रियात्मिकता हमारे विचाराधीन होती है। वह सक्रिय रूप में अपने शिष्यों को अध्यापित करता है। जिस समय हम अध्यापन के स्वरूप पर विचार करते हैं उस समय हमारा प्रयोजन अध्यापक की क्रियात्मिकता से होता है। जिस समय हम 'सीखने' के स्वरूप पर विचार करते हैं तो हमारा प्रयोजन शिष्य की क्रियात्मिकता से होता है।

तो जब अध्यापक अपने शिष्य का किसी विषय विशेष के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है उसे कतिपय बातें जाननी होती हैं तभी उसे अपने कार्य में कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है। इन में से एक सब से महत्त्वपूर्ण बात उस बच्चे की प्रकृति है जिसे वह अध्यापन करने का प्रयत्न कर रहा है। इसका अर्थ यह है कि सामान्य रूप से उसे बच्चों की प्रकृति का ज्ञान होना चाहिये तथा इसके अतिरिक्त यथा सम्भव उन विशेष बच्चों की प्रकृति का भी ज्ञान होना चाहिये जिन्हें वह अध्यापित कर रहा है।

अध्यापक को यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक बच्चा प्रत्येक अन्य बच्चे से भिन्न होता है। उसे यह समझ लेना चाहिये कि बच्चे शारीरिक स्वास्थ्य तथा शारीरिक शक्तियों में भिन्न होते हैं; उनको बुद्धि की मात्राओं में अन्तर होता है, उनमें भिन्न-भिन्न योग्यतायें होती हैं और उनकी मानसिक प्रकृतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। उसको सदैव यह ध्यान में रखना चाहिये कि किन्हीं दो बच्चों के घर का वातावरण समरूप नहीं होता। उनकी रुचियाँ भिन्न होती हैं और उन रुचियों के विकास की सुविधायें भी भिन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त दो बच्चों की सामान्य बौद्धिक शक्ति का स्तर लगभग समान तो हो सकता है परन्तु उनकी विशिष्ट योग्यताओं में बहुत बड़ा अन्तर होगा। और यदि दो बच्चों की विशिष्ट योग्यतायें भी लगभग समान हों तो उन्हें इस योग्यता के विकास की जो सुविधायें प्राप्त होंगी उनमें भारी अन्तर हो सकता है। बच्चों के संवेगात्मक विकास और स्थिरता में भी उनके नैतिक गुणों की भांति बड़ी असमानता होगी। एक सफल सम्बन्ध स्थापित करने में अध्यापक की सफलता इन्हीं भिन्नताओं को समझने और उन्हें व्यवहार रूप में बरतने पर निर्भर करेगी।

अध्यापक को स्वयं अपने सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान होना चाहिये जिससे कि वह स्वयं अपनी भावनाओं को और बच्चों के प्रति अपने व्यवहार को समझ सके। उसे उस विषय का ज्ञान होना चाहिये जिसे वह अपने शिष्यों को पढ़ाने का प्रयत्न कर रहा है। उसे इसका ज्ञान होना चाहिये कि बच्चे और विषय को कैसे सम्बन्धित किया जाये, अर्थात् उसे पद्धति का ज्ञान होना चाहिये। उसे इसका भी ज्ञान होना चाहिये कि स्वयं उसका, उसके व्यक्तित्व का, उसकी प्रवृत्तियों तथा उसके कार्यों और जो कुछ भी वह कहता या करता हो उसका बच्चों

पर क्या सम्भावित प्रभाव पड़ेगा। अपने बच्चों पर पड़ने वाले इन प्रभावों का ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उससे अध्यापक को ठीक पद्धति का उपयोग करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इस प्रकार यह उत्तमतर अध्यापन का साधन बनता है। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि अध्यापक जो एक तरुण जीवन को अपनी पाठशाला के भीतर और बाहर उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों से निपटते हुये विकसित होने में सहायता देने के कार्य में सक्रिय रूप से संलग्न है स्वयं उसका जीवन के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण अर्थात् जीवन दर्शन होना चाहिये। उसकी अपनी निश्चित धारणायें होनी चाहियें उसे ईश्वर और मानव जाति में विश्वास तथा आस्था होनी चाहिये उसके मन में सत्य तथा उसके प्रसार की उमंग होनी चाहिये। उसे अपने देश तथा समस्त विश्व की सेवा में संलग्न होना चाहिये। यथा सम्भव वह विश्व तथा जीवन के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण तथा वह गुण जिन्हें हम 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' का नाम देते हैं, प्राप्त करने के लिये निरन्तर अपना मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।

'इस प्रकार अध्यापक को चाहिये कि एक ओर तो उस बच्चे की प्रकृति को ध्यान में रक्खे जिसे पढ़ाना है दूसरी ओर सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष कर ज्ञान की उस विशेष शाखा के स्वरूप को ध्यान में रक्खे जिसको कि उसे पढ़ाना है। जब यह कहा जाता है कि अध्यापन का सिद्धान्त मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र दोनों पर निर्भर करता है तो उस का तात्पर्य यही है। कारण यह है कि जिन्हें पढ़ाना है उनके मानसिक जीवन के भावों का ज्ञान मनोवैज्ञानिक ज्ञान है जिसे प्राप्त करने में हमें मनोविज्ञान के अध्ययन से सहायता मिलती है परन्तु हम केवल अध्ययन से उसे प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार का ज्ञान स्वयं अपने प्रयत्न से उन बच्चों के सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करके ही प्राप्त किया जा सकता है जिन्हें हमें पढ़ाना है। मनोवैज्ञानिक अन्तर्ज्ञान ही से अध्यापन कार्य प्रभावशाली न बन जायेगा। कारण यह है कि बच्चों के मानस बहुधा त्रुटिपूर्ण ढंग से कार्य करते हैं तथा इसके अतिरिक्त उनकी नितान्त अपूर्ण धारणाओं से सन्तुष्ट हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसलिये अध्यापन कार्य में ज्ञान की सामग्री ऐसे रूप में प्रस्तुत करनी चाहिये कि उसके वास्तविक निहित सम्बन्धों को समझा जा सके और एक भाग की दूसरे भाग पर निर्भरता स्पष्ट की जा सके। अध्यापन में तर्कशास्त्र के प्रयोग से हमारा तात्पर्य यही है

कि समस्त अध्यापन जो ज्ञान सामग्री के अन्तर्गत वास्तविक सम्बन्ध स्थापित करता है तर्कात्मक है।"[1]

इससे हम अध्यापन के एक अन्य अंग की ओर पहुँच जाते हैं। अध्यापन का अर्थ है ज्ञान देना। यह व्याख्या है। जब कोई अध्यापक पढ़ाता है तो उस समय वह बहुधा अपने शिष्यों को नया ज्ञान देता होता है। बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जिन्हें वह स्वयं नहीं जान सकते। बहुत सी ऐसी बातें हैं कि जब तक उन्हें बताया न जाये उन्हें उनका कभी ज्ञान नहीं हो सकता। बहुत सी ऐसी वस्तुयें हैं जिनकी न वह आवश्यकता अनुभव करते हैं और न प्रयोग ही जानते हैं। इन सब बातों को उन्हें बताना पड़ता है विशेष कर प्रारम्भिक पाठ-शाला में अध्यापक का बहुत अधिक समय बातें बतलाने, उन्हें ज्ञान देने और उन्हें कार्य करने और वस्तुयें प्राप्त करना सिखाने ही में व्यतीत होगा। अध्यापन का महत्त्वपूर्ण अंग ज्ञान का संचार है।

कहानी कहने की कला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है जो अध्यापक अपने में उत्पन्न कर सकता है। अच्छे कहानी कहने वाले को ज्ञान संचार का कार्य सदैव सहज लगेगा। यदि यह कार्य खेल का रूप ले ले तो और अधिक रुचिकर और आकर्षक बनाया जा सकता है। सभी प्रकार के अध्यापन कार्य यदि खेल की भावना से किये जायँ तो अधिक प्रभाव पूर्ण होते हैं, जिनमें ज्ञान संचार कोई अपवाद नहीं है। इस सम्बन्ध में हम कुछ बातों को आगे चल कर विस्तार पूर्वक लेंगे उदाहरणार्थ हम जो ज्ञान दे रहे हों उसका सदैव किसी ऐसी बात से सम्बन्ध जोड़ना जो बच्चे को पहले से ज्ञात हो, अपनी व्याख्या को स्पष्ट और क्रमबद्ध बनाना जिससे कि हम जो कुछ बतलाने का प्रयत्न कर रहे हैं बच्चा उसे भली भांति समझ ले और अब बोध कर सके। इस बात का पूर्ण ध्यान होना भी विशेष कर महत्त्वपूर्ण है कि हम जिन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं, बच्चा उन्हें ठीक ढंग से समझता हो। अध्यापन का बहुत सा ज्ञानात्मक भाग अपने उद्देश्य में केवल इसी कारण असफल रहता है कि अध्यापक ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिनके अर्थ का ज्ञान बच्चों को केवल असम्यक् रूप से होता है या कभी-कभी पूर्णतया अशुद्ध होता है। सामान्य बुद्धि की बात है

---

[1] जे वेल्टन, प्रिंसिपुल्ज़ ऐण्ड मेथड्स ऑव टीचिंग पृ० १६-२० (यू० टी० प्रेस) १६२६

कि इसका पूर्ण ध्यान रक्खा जाये कि हम जिस विषय पर बात कर रहे हों हमारे बच्चे उन्हें समझते रहें। यह भी सामान्य बुद्धि की बात है कि हम बहुत तेजी से आगे न बढ़ें और आगे बढ़ते हुये पक्का करते चलें। यदि हम ज्ञान का बोझ लादते जायें और क्षण भर ठहर कर यह न देखें कि वह ग्रहण हुआ भी अथवा नहीं तो हमारे प्रयत्न का बहुत भारी अंश व्यर्थ हो जायेगा। थोड़े शब्दों में इसका अर्थ केवल यह है कि ज्ञान देते समय हमें अपने कार्य के दोनों अंगों को ध्यान में रखना चाहिये प्रथम बच्चा और उसकी शक्तियाँ तथा प्रकृति, द्वितीय विषय तथा उसकी क्रमबद्ध प्रस्तुति।

परन्तु ज्ञान देने का कार्य महत्त्वपूर्ण होते हुये भी यह अध्यापन का सबसे अधिक: महत्त्वपूर्ण अंग नही है। उससे भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण वह तथ्य है कि अध्यापन का अर्थ "सिखवाना" है। बच्चों को बातें बतला देना आधा कार्य भी नहीं हैं। अध्यापक होने के नाते हमारा मुख्य कार्य यह है कि बच्चों से सिखवाना। वास्तविकता तो यह है कि बच्चों को हम जो कुछ बतलाते हैं उसी से शिक्षा नहीं मिल जाती। यह तो उस प्रतिवादन के द्वारा उत्पन्न होती है जो हम उसके भीतर उत्पन्न कर देते हैं। दूसरे शब्दों में वास्तविक शिक्षा वह नहीं है जो बच्चे के लिये हम कर देते हैं वरन् यह वह है जिसे हम उसे किसी न किसी पद्धति के द्वारा स्वयं अपने आप करने के लिये प्रेरित करते हैं। यह एक सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य है और वह आधार शिला है जिस पर हमारे समस्त कार्य और हमारी सारी पद्धतियों को आधारित होना चाहिये। अध्यापन का सर्वप्रथम मौलिक सिद्धान्त यह है कि अध्यापन का अर्थ है कि बच्चे को स्वयं बातों के सीखने तथा करने में सहायता देना। इस प्रकार अध्यापक एक साधक होता है। वह इस कार्य के लिये है कि वह सिखवाये, विकास में सहायता दे और बच्चे को अपने विषयों तथा वातावरण से स्वयं अपना सम्बन्ध स्थापित करने के योग्य बना दे।

"जब अध्यापक अपने कार्य का साधक स्वरूप स्पष्ट ढंग से पहचानता है तभी शिक्षण का अपना वास्तविक कार्य—'दूसरों से सिखवाना पूरा होता है। यहाँ सीखने में कार्य करने तथा समझने दोनों ही की शक्तियाँ सम्मिलित हैं। इसका अर्थ है परिस्थितियों से प्रभावपूर्ण ढंग से निपटने की शक्ति के रूप में ज्ञान प्राप्त करना।"[1]

१—जे० वेल्टन—प्रिंसिपुल्ज़ ऐण्ड मेथड्स ऑफ टीचिंग पृ० २१ (यू०टी० प्रेस)

इस प्रकार जब हमें बतलाना या ज्ञान देना भी पड़ता है तो हमारा उद्देश्य केवल यह नहीं होता कि बच्चा अपने ज्ञान का भण्डार उसी ढंग से भर ले जैसे गोदाम में काग़ज़ का ढेर भर दिया जाता है। हमारा अधिकतर उद्देश्य तो यह होता है कि उसके भीतर उचित प्रतिवादन उत्पन्न कर दें जिससे कि वह विभिन्न परिस्थितियों में उचित प्रतिवादन करना सीख लें और उसे ऐसे साधन प्राप्त हो जायें कि वह प्रभावपूर्ण प्रतिवादन करने के योग्य हो जाये। इस दृष्टिकोण से शिक्षण कार्य बच्चे को अपने वातावरण के प्रति प्रभावपूर्ण ढंग से प्रतिवादन करने में सहायता देने की वस्तु बन जाता है।

"बच्चे को उससे शिक्षा नहीं मिलती, जो उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, वरन् यह उस प्रतिक्रिया से प्राप्त होती है जो प्रस्तुत बातों से उसके मन में उत्पन्न हो जाती है। संभव है कि किसी पाठ से कुछ बच्चों में किसी प्रकार का प्रतिवादन उत्पन्न न हो, और यदि हो भी तो अशुद्ध रूप से हो। यदि किसी बच्चे में अपने भूगोल के पाठ द्वारा यह प्रतिवादन हुआ हो कि वह बिना उनमें निहित तथ्यों को समझे हुये केवल शब्दों को रट ले, तो वह पाठ उसके लिये शिक्षापूर्ण नहीं है। **उसे शिक्षा दी ही नहीं गई** यद्यपि संभव है कि उसके समीपस्थ शिष्य के लिये, जिसके मन में उचित प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, वह पाठ शिक्षापूर्ण हो।"[१]

इससे हमें यह परिणाम मिलता है कि शिक्षण का अर्थ है बच्चे को अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाने में सहायता देना। जन्म ही से बच्चा अपने प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के प्रति किसी न किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करता रहता है। इनमें से कुछ बातें फलदायक होती हैं और बच्चे को विकास में सहायता देती हैं, तो कुछ बातें इसके विपरीत होती हैं। उदाहरणार्थ बच्चा अपने माता पिता से प्रेम करना सीखता है। यह एक फलदायक प्रतिक्रिया है क्योंकि प्रेम समस्त वास्तविक विकास के लिये आवश्यक है और एक क्रियात्मक सृजनात्मक शक्ति है। परन्तु बच्चा ईर्ष्यालु और स्वार्थी बनना भी सीखता है। यह हानिपूर्ण प्रतिक्रियायें हैं। जिस समय घर या पाठशाला में बच्चे के समक्ष कोई कठिनाई आ जाती है तो वह कभी-कभी उस कठिनाई पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह एक फलदायक प्रतिक्रिया है। कभी-कभी वह उसे टालने और उससे जी चुराने का प्रयत्न करेगा

१—एफ० एन० फ्रीमैन—हाऊ चिल्ड्रेन लर्न—पृ० ८ (हैरप)

यह एक हानिपूर्ण प्रतिक्रिया है। इस प्रकार समस्त जीवन काल में इसी ढंग का अनुकूलीकरण होता रहता है। शिक्षण-कार्य का एक अंग यह भी है कि बच्चे को अपने वातावरण के प्रति सम्यक् अनुकूलीकरण करने में सहायता दी जाये। यह कार्य वातावरण में कुछ परिवर्तन कर अथवा बच्चे को सुदृढ़ बना कर किया जा सकता है। पाठशालाओं के होने का एक कारण यह भी है कि बच्चे को जीवन की कठिनाइयों से एक समय ही में नहीं वरन् धीरे-धीरे निपटने का अवसर मिलता रहे जिससे कि उसे भविष्य में आने वाली कठिनाइयों के लिये तैय्यार होने का समय प्राप्त हो जावे। पढ़ाते समय हम अपने बच्चों को अपनी शक्तियों के उचित उपयोग करने का अवसर दे सकते हैं और इस प्रकार उन्हें अनुकूलीकरण की इस प्रतिक्रिया में सहायता दे सकते हैं। उदाहरणार्थ बच्चे में लड़ने और संघर्ष करने की शक्ति होती है। यदि हमारा अध्यापन कार्य उत्तम है तो वह यह भी सीख लेगा कि अपने कार्य में जो कठिनाइयाँ आयें उन पर विजय पाने के लिये इस शक्ति का उपयोग कैसे किया जाये। उसमें सहयोग देने की शक्ति होती है। यदि हमारा शिक्षण कार्य उत्तम है तो वह इस शक्ति का लाभदायक ढंगों से प्रयोग करना सीखता जायेगा। बच्चे को अपने आप को अपने वातावरण के अनुकूल बना लेने में सहायता देने का यह कार्य शिक्षणकार्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका सामाजिक, आत्मिक, और शारीरिक विकास इसी पर निर्भर करता है। हमारा एक उद्देश्य यह भी है कि बच्चे को सामाजिक रूप से प्रभावशाली, अर्थात् समाज का एक सुयोग्य सदस्य बनायें जो सामूहिक हित के लिये योगदान करता रहे। वातावरण के प्रति उचित अनुकूलीकरण इस कार्य की आवश्यक आधार शिला है।

"सारांश रूप में हम पाठशाला के मूल कार्य को निम्नलिखित कह सकते हैं (१) इस प्रकार का वातावरण उपलब्ध करना जो वैयक्तिक तथा सामाजिक विकास के लिये अधिकतम अनुकूल हो। (२) इस वातावरण के अंतर्गत स्वस्थ विकास के लिये उत्तेजन तथा पथ प्रदर्शन करना। (३) बच्चों को ऐसी आदतें, निपुणतायें, ज्ञान, रुचियां, तथा मानसिक प्रवृत्तियां प्राप्त करने में सहायता देना जिनकी उन्हें परिपूर्ण और उपयोगी जीवन व्यतीत करने में आवश्यकता पड़ेगी।"[१]

१—हैंडबुक ऑव सजेशन्स फॉर टीचर्स पृ० १५ (बोर्ड ऑव एजुकेशन, लन्दन)

उपरोक्त उदाहरण में मैं "उत्तेजन" शब्द की ओर ध्यान आकर्षित करता रहूँगा। उत्तेजन तथा उत्प्रेरण अध्यापन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और जब तक हम अध्यापन के उत्प्रेरक अंग पर ध्यान न दें तब तक हम अध्यापन के वास्तविक रूप को नहीं समझ सकते। अध्यापक को ऐसा होना चाहिये जो अपने बच्चों को उत्साह विभोर कर दे। वह उनकी कार्य करने तथा क्रियाशील बनने की स्वाभाविक इच्छाओं के विकास में प्रोत्साहन देता है और इन इच्छाओं का उचित मार्गीकरण करने में पथप्रदर्शन करता है। यह कम से कम उसका एक मुख्य उद्देश्य होना चाहिये। शिक्षण की परिभाषा प्रोत्साहन के रूप में की गई है। हम देख चुके हैं कि यह बच्चों से सिखवाना है। उनसे सिखवाने के लिये हमें उनके उत्साह, उनकी इच्छाओं तथा रुचियों को जागृत करना और इस उत्साह, इन इच्छाओं और रुचियों का उचित ढंग से पथप्रदर्शन करना होता है। प्रत्येक बच्चे के भीतर क्रियाशील होने की जन्मजात प्रवृत्ति निहित रहती है जो विभिन्न मूल-प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट होती रहती है। शिक्षण का अधिकांश भाग यह है कि क्रियाशीलता की इस इच्छा की पूर्ति के अवसर उपलब्ध किये जायें और बच्चों को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जावे कि वह उसकी सहायता से क्रियाशील होने की प्रवृत्ति का उपयोगी तथा फलदायक ढंगों से उपयोग कर सकें।

परन्तु जहाँ यह सत्य है कि बच्चे क्रियाशील होना और स्वयं कार्य करना चाहते हैं यह तथ्य भी कभी हमारे चित्त से नहीं उतरना चाहिये कि उन्हें पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है और समस्त स्कूल कोर्स में इसकी आवश्यकता है। शिक्षण केवल प्रोत्साहन नहीं वरन् उत्पन्न क्रियाशीलता के उपयोग का पथ-प्रदर्शन भी है। अध्यापक को अपने बच्चों को उचित बातों के सीखने तथा सर्वोत्तम विधि से सीखने में पथप्रदर्शन करना होता है। अन्त कथित अध्यापक के इस कार्य का महत्त्व जितना भी समझा जावे थोड़ा है। अध्यापक को सर्वोत्तम विधि से कार्य करने में अपने बच्चों का पथप्रदर्शन करना है जिससे कि निपुणता की समस्याओं में समय, सामग्री, और शक्ति नष्ट न हो और परिणाम सर्वोत्तम निकले। उसे अध्ययन और सीखने की विधि तथा चिन्तन करने के उचित ढंग और सामग्री के मूल्यांकन करने की उचित पद्धतियों में अपने बच्चों का पथप्रदर्शन करना होता है। उसे अपने शिष्यों की गुणांकन करने की शक्ति का पथप्रदर्शन करना तथा इस प्रकार उनके संवेगों का

प्रशिक्षण करना पड़ता है। उसे कार्य तथा व्यवहार के उत्तम आदर्श प्रस्तुत करने पड़ते हैं। संक्षेप में, उसके शिष्य क्रमशः विकास तथा उन्नति करते समय अपने प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के प्रति जो भी अनुकूलीकरण करते हैं, उसे सब का पथप्रदर्शन करना पड़ता है।

यह पथप्रदर्शन विभिन्न विधियों द्वारा किया जायेगा। अध्यापक व्यक्तिगत शिष्य और उसकी आवश्यकताओं तथा विषय के अनुसार अपनी पद्धति में परिवर्तन करता रहेगा। पथप्रदर्शन के इस कार्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग उत्प्रेरणा है। अध्यापक प्रत्येक कार्य के लिये उत्तम सम्भव उत्प्रेरण प्राप्त करने में सतर्क रहेगा। वह व्यक्तिगत शिष्यों की विशिष्ट योग्यताओं को दृष्टिगत रख रुचियों के निर्माण में पथप्रदर्शन करेगा। वह अपने शिष्यों को निम्न कक्षाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं तथा सृजनात्मक कार्यों का पूर्णरूप से परीक्षण करने का अवसर प्रदान करके उन्हें इन रुचियों की खोज करने में सहायता देगा। वह अपनी मूल प्रवृत्यात्मक शक्तियों का उपयोग करने में उनका पथप्रदर्शन करेगा और उन्हें इन शक्तियों का उत्कर्षन तथा उचित मनोभावों का निर्माण करने के योग्य बना देगा। जब वह जीवन में एक आदर्श ग्रहण करेंगे तो वह उनका पथप्रदर्शन करेगा। शिक्षक निर्देश तथा उदाहरण द्वारा ही सबसे उत्तम पथप्रदर्शन करता है। जिन विधियों से वह कार्य करता है, जिन पद्धतियों का वह उपयोग करता है, जो भी उसकी आदत तथा दृष्टिकोण हों, चाहे अच्छे चाहे बुरे, सभी उसके शिष्यों को अपने जीवन के प्रति अनुकूलीकरण करते समय पथप्रदर्शन करते हैं।

परन्तु इसी के साथ-साथ अध्यापक वाद विवाद के द्वारा तथा ठोस समस्यायें उत्पन्न होने पर परामर्श देकर और अपने शिष्यों से व्यक्तिगत बातचीत करके इससे भी अधिक निश्चित ढंग से सचेत रूप में पथप्रदर्शन करता है। वह अपने शिक्षण में जोर देकर भी पथप्रदर्शन करता है।

"इस प्रकार अध्यापन के व्यवहार कार्य में दो मूल क्रियायें निहित होती हैं। (क) शिक्षात्मक सामग्री को शिष्यों के उपयोग के लिये प्रस्तुत करना चाहे वह वस्तुगत बोधात्मक हो चाहे वह शाब्दिक सामग्री। (ख) इस सामग्री के महत्त्वपूर्ण शिक्षात्मक तत्वों की ओर शिष्यों की मानसिक क्रियाशीलता का पथप्रदर्शन करना इसके द्वारा वह इन तत्त्वों का स्पष्ट परिचय प्राप्त करते हैं और अपने विकासस्तर के अनुसार अधिकतम स्पष्टता से उनको समझ लेते हैं।

यह दूसरा अंग—अर्थात् पथप्रदर्शन—ही वास्तव में प्रभावशाली तथा मानसिक रूप से उत्तेजक शिक्षण को नित्यक्रम रूपी अध्यापन से पृथक् करता है। इसका परिणाम यह होता है कि सीखने वाले की मनोदृष्टि सदैव छाया की ओर लगी न रहकर प्रकाश की ओर मुड़ जाती है।"[1]

शिक्षण का जहाँ अर्थ है बच्चे को अपने आपको क्रियाशील रखने की इच्छा के प्रयोग का अवसर प्रदान करना वहाँ उसमें बच्चों के संवेगों की प्रशिक्षा भी सम्मिलित है। कार्य भावना पर निर्भर करता है। यदि हम ठीक कार्य की इच्छा करते हैं तो हमें ठीक भावना उत्पन्न करनी चाहिये। यदि हम ठीक विकास की इच्छा रखते हैं तो हमें बच्चों को उचित बातों में रुचि उत्पन्न करने में सहायता देनी चाहिये। इस प्रकार अध्यापन केवल बच्चों की मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों का प्रोत्साहन तथा विकास कार्य नहीं है वह संवेगात्मक जीवन का प्रोत्साहन तथा प्रशिक्षण कार्य भी है। अध्यापन का यह वह अंग है जो सामान्य रूप से, कम से कम व्यवहार में तो उपेक्षित हो ही जाता है परन्तु यदि हम बच्चों के स्थिर संवेगात्मक जीवन के विकास की आवश्यकता को दृष्टिगत नहीं रखते तो हमारा शिक्षण अत्यन्त एकाङ्गी तथा विकृत हो जाएगा।

यह एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध में यहाँ जो कुछ स्थान दिया जावे, उससे कहीं अधिक विस्तार की आवश्यकता है। इसमें अभी बहुत अधिक अनुसंधान और प्रयोगात्मक कार्य करने की आवश्यकता है। मैं केवल कुछ तत्त्वों की ओर संकेत कर सकता हूँ, जिनकी ओर हमें ध्यान देना होगा तभी हम शिक्षण के इस अंग में निहित तथ्यों को वास्तविक रूप से समझ सकते हैं।

उत्तम शिक्षण को बच्चे को संवेगात्मक स्थिरता के विकास करने के योग्य बना देना चाहिए। इस कार्य के लिए बच्चे को स्नेह की आवश्यकता होती है। यह केवल पाठशाला ही का कार्य नहीं है कि जो बच्चे वहाँ आयें उन्हें स्नेह का वातावरण उपलब्ध करे। यह कार्य मुख्यतः घर का है। परन्तु घर जो कुछ भी करता हो या जिसका करना उसका कर्त्तव्य हो, पाठशाला को इस ओर पूरा ध्यान देना चाहिये कि जो बच्चे वहाँ आयें यह अनुभव करें कि वह पाठशाला में स्नेहमय और सहानुभूतिपूर्ण व्यक्तियों के मध्य में हैं। जब तक बच्चे में यह

१—ए० पिन्सेन्ट—दि प्रिंसिपुल्ज़ ऑव टीचिंग मेथड्—पृ० २६७ (हैरप)—१६४१

भावना उत्पन्न नहीं होती कि स्वयं वह भी शिक्षक के लिये महत्व रखता है और उसे जिन समस्याओं के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है उनमें शिक्षक भी उसी के पक्ष में है (अर्थात् शिक्षक उसका मित्र है) तब तक शिक्षण की पद्धति चाहे कितनी ही आधुनिक और उसकी व्यवस्था चाहे कितनी ही उत्तम क्यों न हो, शिक्षण का बहुत कुछ मूल्य नष्ट हो जायेगा।

ऐसे मैत्री पूर्ण वातावरण से प्राप्त एक प्रमुख लाभ वह सुरक्षा की भावना है जिसकी अनुभूति बच्चे को होती है। यह संवेगात्मक स्थिरता के विकास के लिये सब से बढ़ कर महत्त्वपूर्ण है। यदि बच्चा भय और अनिश्चय के चंगुल में फंसा रहे तो उसके संवेगात्मक जीवन का यथोचित विकास नहीं हो सकता। असुरक्षा की भावना अन्त में दमन तथा उससे उत्पन्न होने वाले भयंकर परिणामों का रूप धारण करती है। बहुत से संवेगात्मक अतिक्रमों की जड़ में, विशेषकर आजकल, बहुधा भय ही निहित होता है। इसी कारण स्नेह तथा मित्रता के द्वारा सुरक्षा की भावना उत्पन्न करने का महत्त्व होता है।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि मित्रता का अर्थ कोमलता नहीं है। हमें माता-पिता अथवा शिक्षक किसी के प्रचण्ड स्नेह के फलस्वरूप उत्पन्न गतिरोध को रोकना चाहिये। फिर भी बच्चे के लिये यह संभव है कि वह अपने पाव पर खड़ा हो और अपना कार्य स्वयं करे परन्तु यह भी अनुभूति करता रहे कि उसके पीछे एक ऐसे मित्र की सहानुभूति और हित चिन्ता भी है जो उसे उत्तम से उत्तम सहायता देने को सदैव तत्पर है। बहुत से कार्यों की भांति हमें यहाँ भी मध्य मार्ग अपनाना पड़ता है, न अत्यधिक कोमलता और मुँह में कौर डालना और न अत्यधिक हृदय हीनता और कठोरपन, यही आदर्श है।

मित्रता पर आधारित शिक्षण का एक लाभदायक फल यह भी है कि इससे बच्चे को निष्कपट और सत्य हृदय बनने के लिये प्रोत्साहन मिलता है। उसे भाग कर अपने अन्तर में शरण लेने और बातों के छिपाने का प्रलोभन नहीं होता। उसका स्वभाव बन जाता है कि बातों को खोल कर सामने लाये और उनके सम्बन्ध में एक ऐसे श्रोतागण के समक्ष वार्तालाप करे जिन्हें वह सहानुभूतिपूर्ण समझता है। वह अपनी अनुभूतियों पर बातचीत करने को तैयार रहता है जिसके फल स्वरूप दमन का भय बहुत कम हो जाता है। जहाँ तक बच्चे के संवेगात्मक जीवन का सम्बन्ध है निष्कपटीपन की स्वस्थ प्रवृत्ति से भलाई छोड़ कोई दूसरा परिणाम नहीं निकल सकता।

इस प्रकार के निष्कपटीपन और सत्यहृदयता के फलस्वरूप भावना की सत्यहृदयता उत्पन्न होती है। यह तथ्य संवेगों के प्रशिक्षण में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। यदि बच्चों की यह भावना हो कि वह अपनी अनुभूतियों को ठीक-ठीक कह भी सकते हैं तो एक ओर तो उनमें स्वयं अनुभूति करने तथा दूसरों को आशा के अनुसार अनुभूति न करने की आदत का निर्माण होगा दूसरी ओर शिक्षक को भी ठीक-ठीक अनुमान हो जायेगा कि वह अपने बच्चों सहित किस स्थान पर हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें सहायता देना तथा पथप्रदर्शन करना अधिक सुगम हो जाता है। बहुधा हमारा शिक्षण इस प्रकार का होता है कि हम अपने शिष्यों को अपनी ही इच्छा के अनुसार अनुभूति कराना चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जीवन तथा चरित्र के प्रति असत्यहृदयता उत्पन्न हो जाती है। बच्चों को पाठशाला में स्वयं अपनी अनुभूतियाँ करने की आज्ञा होनी चाहिये और उनसे किसी भी दूसरे व्यक्ति की भावनाओं की नकल नहीं करवानी चाहिये। उन्हें इस प्रकार शिक्षा नहीं देनी चाहिये कि वह किसी वस्तु को सुन्दर समझें जब कि वास्तव में उनकी अनुभूति कृत्रिम हो और वह उस वस्तु को स्वयं सुन्दर न समझते हों। कदाचित् उन्हें इस वस्तु को सुन्दर समझना चाहिये परन्तु जब तक वह स्वयं इस तथ्य तक न पहुँच जायें यह कहना कि वे उसे सुन्दर समझते या मानते हैं विशुद्ध पाखण्ड होगा। उनकी यह धारणा नहीं होनी चाहिये कि किसी कविता का केवल इस कारण सुगुणांकन करना है क्योंकि उनका अध्यापक स्वयं ऐसा करता है और उनसे भी वही आशा करता है। संभव है कि उन्हें अध्यापक की सहायता तथा संकेतों द्वारा धीरे-धीरे कविता के सौन्दर्य का स्वयं आभास हो जाये परन्तु यह उनकी स्वयं अपनी अनुभूति होनी चाहिये। किसी शिक्षक अथवा पाठ की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जुटाया गया किसी अन्य व्यक्ति की द्विगत अनुभूति न हो। शिक्षण का सर्वप्रथम मूल तत्त्व यह है कि उसके बच्चे सत्यहृदय बन जायें। तभी शिक्षक उनकी उन्नति में सहायता देने के लिये अपनी योजनायें बना सकता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हम बच्चों को मन चाहे ढंग से अनुभूति करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ दें और उनके पथप्रदर्शन का कोई प्रयत्न न करें। इसका अर्थ यह हुआ कि बच्चों को स्वयं उचित संवेग उत्पन्न करने में सहायता देना हमारा लक्ष्य होगा। यदि अध्यापक देखता है कि जब उसके विचार के

अनुसार सहानुभूति प्रकट होनी चाहिये थी उस समय सहानुभूति का अभाव प्रतीत हो रहा है, तो वह अपने बच्चों को सहानुभूति प्रदर्शन शक्ति के विकास में सहायता देने के हेतु योजना बना सकता है। यदि वह देखता है कि क्रोध प्रदर्शित होने के समय वास्तव में प्रदर्शित नहीं हो रहा है तो वह इस परिस्थिति से निपटने के लिये फिर योजना बनायेगा। परन्तु यथार्थ शिक्षण द्वारा कभी भी द्विगत अनुभूति उत्पन्न नहीं होगी।

शिक्षण कार्य में इस मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध का एक लाभदायक परिणाम यह भी है कि इसके द्वारा बच्चे के हृदय में अपराध अथवा तुच्छता की भावनायें रखने का खटका घट जायेगा। यह दोनों ही बातें ऐसी हैं जो बच्चों के संवेगात्मक जीवन में विभिन्न स्थलों पर भारी हानि पहुँचा सकती हैं। शिक्षक के स्नेह तथा मित्रता का बच्चों को ज्ञान होने से जो सहृदयता उत्पन्न होती है उसी के द्वारा हम इस अस्थिरता की प्रवृत्ति पर विजय पा सकेंगे।

जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे हमारे समस्त कार्यों में क्रियाशीलता का प्राधान्य होना चाहिये। अपने शिष्यों के संवेगात्मक जीवन में सहायता देने का प्रयत्न करते समय शिक्षक सदैव ऐसे अवसरों की खोज करता रहेगा जिसके द्वारा उसके शिष्य अपने संवेगों को कार्य रूप में प्रकट कर सकें। संवेग एक बार जागृत किये जाने पर कार्य रूप में प्रकट होने का प्रयत्न करता है। यह अध्यापक का कर्त्तव्य है कि इन परिणाम रूपी कार्यों के होने पर ध्यान दे। देखा जाता है कि पाठशाला में संवेग उत्पन्न कर दिये जाते हैं परन्तु कार्य करने का कोई अवसर उपलब्ध नहीं किया जाता। इसका अर्थ यह है कि संवेग का बल नष्ट हो जाता है और बच्चे के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को हानि पहुँचती है।

परन्तु केवल कार्य का होना पर्याप्त नहीं है, उसकी दिशा का भी उचित होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में हमें अपने शिष्यों का इस प्रकार की क्रियाओं में पथप्रदर्शन करना है जिसके द्वारा वह अपनी मूल प्रवृत्यात्मक प्रेरणाओं का उत्कर्षन कर सकें और उन्हें अपनी मूलप्रवृत्तियों को संलग्न संवेगों के साथ संगठित करने में सहायता मिले जिससे कि उनमें सुयोग्य मनोभाव निर्मित हो सकें। यही मनोभावों की व्यवस्था शिक्षण का एक प्रमुख कार्य है। जिस पर सम्पूर्ण चरित्र का निर्माण आधारित होता है। जब मनोभाव उत्तम वस्तुओं से अनुलग्न होती हैं तो उसी के अनुसार उनका प्रशिक्षण तथा चरित्र निर्माण होता है। तो इस दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा कार्य का यह

र्थ हो जाता है कि शिक्षार्थियों द्वारा अपने क्रमशः विकासमय जीवन में त्कर्षन कराने पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जावे। शिष्य के दृष्टिकोण के अनुसार ह एक अचेत क्रिया है। शिक्षक के दृष्टिकोण के अनुसार यह एक कठिन ार्य है जिसके लिये प्रत्येक व्यक्तिगत शिष्य का अध्ययन करना आवश्यक है। ह ऐसा कार्य जिसके लिये अत्यन्त निपुणतापूर्वक योजना बनाने तथा कार्य रने की आवश्यकता है।

हम बता चुके हैं कि शिक्षण उत्प्रेरक होता है। यह तथ्य बच्चे के वेगात्मक जीवन के विकास के सम्बन्ध में जितना सत्य है, उतना किसी दूसरे ेत्र में नहीं है। अपने क्रमशः जीवन के विकास में शिक्षण के द्वारा बच्चे को क ऐसा जीवन आदर्श ग्रहण करने की प्रेरणा मिलनी चाहिये, जो उसकी मस्त शक्तियों को एकोन्मुख कर दे उसके मनोभावों को उसकी सेवा में लगा े और उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को एक दिशा दे सके। शिक्षण कार्य एक यक्तिगत सम्बन्ध है इसलिये वह उत्प्रेरक हो सकता है। शिक्षक और शिष्य ा वह व्यक्तिगत सम्बन्ध जितना कम होगा, उतना ही कम वह शिक्षण हलाने के योग्य होगा।

अध्यापन को अधिकतम सफलता तभी प्राप्त होगी जब कि यह सम्बन्ध, र्थात् शिक्षक और शिष्य के व्यक्तित्व की यह अन्तर-क्रिया सृजनात्मक हो। ससे मेरा सरल शब्दों में तात्पर्य यह है कि यथार्थ शिक्षण में शिक्षक का च्चे पर ऐसा प्रभाव पड़ना चाहिये कि बच्चे को यथाशक्ति अपनी शक्तियों के योग का प्रोत्साहन मिले। इस कार्य को सम्भव बनाने के लिये यह सम्बन्ध ेम का होना चाहिये—भय का नहीं। प्रेम सृजनात्मक होता है तो जैसा कि म मनोभावों के सम्बन्ध में देख चुके हैं यथार्थ शिक्षण का अर्थ शिक्षक और च्चे के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होता है। वास्तव में समस्त यथार्थ शिक्षण का ाधार यही है चाहे वह ज्ञान देना हो अथवा बच्चे को सिखवाने में सहायता देना हो या उन्हें प्रयत्न तथा विकास के लिये उत्प्रेरित करना हो। अन्तिम रूप में, शिक्षण एक मानवीय सम्बन्ध है और यथार्थ शिक्षण केवल तभी हो सकता है जब शिक्षक और शिष्य के मध्य मित्रता का सम्बन्ध स्थापित हो जाये।

"अच्छा शिक्षक कुछ खींचता नहीं वह केवल देता है—वह देना केवल

अच्छा शिक्षक केवल अपने बच्चे को समझता ही नहीं है वह शिशु का अनुमोदन भी करता है।[1]

इस दृष्टि से शिक्षण मुख्यतः संकेत कार्य है। शिक्षक के व्यक्तित्व तथा उदाहरण कार्यों द्वारा बच्चे को निरन्तर संकेत प्राप्त होते रहते हैं। दोनों ही इस विषय में अचेत हो सकते हैं। बच्चे तो निस्सन्देह होंगे ही परन्तु शिक्षक के आदर्श, उसकी आदतें उसके कार्य मौखिक शब्द सभी बच्चों को प्रभावित करते रहते हैं और बहुधा उसके जाने बिना कि क्या हो रहा है वास्तविक शिक्षण होता रहता है। हार्वर्ड के स्वर्गीय अध्यक्ष इलियट ने एक बार कहा था कि "शिक्षक का महानतम मूल्य इसमें नहीं है कि नित्य क्रम सम्बन्धी अपने कर्तव्यों का कितना नियमित पालन करता है वरन् इसमें है कि उसमें अपने मानसिक तथा नैतिक व्यक्तित्व तथा उदाहरण कार्य के प्रभाव द्वारा अपने विद्यार्थियों को नेतृत्व देने तथा उत्प्रेरित करने की शक्ति कितनी अधिक है।"[2]

इस प्रकार शिक्षण में सचेत तथा अचेत दोनों ही प्रक्रियायें सम्मिलित हैं और सबसे अधिक प्रभावशाली भाग बहुधा वही होता है जिसकी हमें चेतना नहीं होती। इसलिये यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि उनका बच्चों से इस व्यक्तिगत सम्बन्ध को (जिनसे वह भागना भी चाहें तो नहीं भाग सकते) सृजनात्मक अथवा दूसरे शब्दों में उत्प्रेरक तथा उत्साह वर्धक मित्रता का सम्बन्ध बनाने में शिक्षक का कितना भारी उत्तरदायित्व होता है।

जैसा कि हम अनुकूलीकरण के विषय पर विचार करते समय देख चुके हैं शिक्षण वह है जिसके द्वारा बच्चे को पाठशाला के पश्चात् आने वाले जीवन की तैयारी करने में सहायता मिलती है। पाठशाला एक ऐसा वातावरण है जो बच्चे के अनुसार क्रमिक रूप से श्रेणी बद्ध किया जाता है, जिसके फलस्वरूप बच्चा पाठशाला छोड़ते समय संसार तथा उसकी समस्याओं से निपटने को तैयार हो जाता है। यदि पाठशाला में शिक्षण सच्चे आदर्शों द्वारा पथ प्रदर्शित होता रहा है और यदि यथोचित पद्धति का प्रयोग किया गया है तो बच्चे को अवश्य

१—ए० एस० नील—दि प्राब्लेम टीचर—पृ० ११—(हरबर्ट जेन्किन्स)

२—एन० एल० वार्सिंग—प्रोग्रेसिव मेथड्ज़ ऑव टीचिंग इन सेकेन्ड्री स्कूल्ज़ पृ० ४५-४६ (हैरप)

ही ज्ञान प्राप्त हो चुका होगा जो जीवन में उसके लिये उपयोगी सिद्ध होगा। उसे अपने ज्ञान और ज्ञान के साधनों के प्रयोग की शिक्षा मिल चुकी होगी। उसे अपनी बुद्धि उपयोग करने की और स्वयं सोचने तथा कार्य करने को शिक्षा मिल चुकी होगी। उसे अपने ऊपर भरोसा करने तथा साहस और दृढ़ता के साथ कठिनाइयों से निपटने की शिक्षा मिल चुकी होगी। उसके चरित्र का निर्माण हो चुका होगा जिसके फलस्वरूप उसकी अच्छी आदतें बन गयी होंगी जिनके द्वारा उसे अपने सांसारिक जीवन में बड़ी सहायता मिलेगी। उसके मनोभाव उच्च होंगे तथा सुयोग्य वस्तुओं के चारों ओर केन्द्रित होंगे। उसका सम्पूर्ण विकास ऐसा होगा कि वह अपनी समस्त शक्तियों तथा सभी प्राप्त अवसरों का पूरा-पूरा लाभ उठा सकेगा और उसका सम्पूर्ण जीवन एक उच्च आदर्श के पथप्रदर्शन के अन्तर्गत व्यतीत होगा। यह सारी बातें पूरी करते समय शिक्षक शिष्य को जीवन के लिये तैयार करता जाता है और इस प्रकार शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अंग यह है कि वह तैयारी का साधन होता है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि शिक्षण का स्वरूप केवल इस तथ्य से निर्धारित होना चाहिए कि वह तैयारी का साधन है। भविष्य के लिये सब से उत्तम तैयारी यह है कि वर्तमान में उत्तमता और सत्यता के साथ जीवन व्यतीत किया जाये। बारह वर्षीय बालक के लिये भविष्य की सर्वोत्तम् तैयारी यही है कि वह इस समय इतना उत्तम जीवन व्यतीत करे जितना कि एक बारह वर्षीय बालक को व्यतीत करना चाहिये। परन्तु यहाँ भी शिक्षण तैयारी का एक साधन है और बालक को किसी भी विशेष स्थल में परिपूर्ण जीवन निर्वाह करने में सहायता दे कर उसे भविष्य की तैयारी में भी सहायता दे रहा है। इस प्रकार शिक्षण के साथ एक तैयारी सम्बन्धी अंग सदैव लगा रहेगा।

सारांश यह है कि शिक्षण एक सम्बन्ध है जो बच्चे को अपनी समस्त शक्तियों का विकास करने में सहायता देता है। शिक्षण के द्वारा उसे ज्ञान प्राप्त होता है और वह कार्य करने की शिक्षा प्राप्त करता है। उसे स्वयं सीखने में सहायता मिलती है। वह अपनी समस्त शक्तियों का उपयोग करने को उत्प्रेरित होता है। जिसके फलस्वरूप वह यथोचित अनुकूलीकरण कर सकता है और स्वयं अपने को भविष्यकाल के लिए तैयार करता है। जब बच्चे का उत्तम शिक्षण हो चुकता है तो वह एक संयमवद्ध विकसित व्यक्तित्व सहित पाठशाला छोड़ता है। वह आत्म विश्वासी होता है। उसमें उत्तम रुचियाँ होती

हैं। वह समाज के जीवन में सृजनात्मक भाग लेने को तत्पर रहता है। जीवन तथा उसकी समस्याओं के प्रति उसका एक साहसपूर्ण और सृजनात्मक दृष्टि-कोण होता है। उसे ज्ञान तथा उसके प्रयोग करने की योग्यता से यथासम्भव परिपूर्ण कर दिया गया है। अधिक ज्ञान प्राप्त करने तथा एक महान आदर्श द्वारा पथप्रदर्शित होकर उत्तम जीवन निर्वाह के लिये अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग करने की कामना उसके चित्त में उत्पन्न हो चुकती है।

: २ :

अध्यापन पद्धति के सिद्धान्त

सामान्य सिद्धान्त

अध्यापन के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् हमें अब यह देखने का प्रयत्न करना चाहिये कि जब हम सचमुच अध्यापन कार्य आरम्भ करते हैं तो हमें किन सिद्धान्तों द्वारा पथप्रदर्शित होना चाहिये। हमारी पद्धतियां किन सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिये। तथा इन सिद्धान्तों का व्यवहार रूप में प्रयोग करने की विधि को भी देखने का प्रयत्न करना होगा।

अपनी पद्धति का आधार रूपी सिद्धान्त खोजते समय हमें बच्चे के स्वभाव के सम्बन्ध में अपने समस्त ज्ञान को सदैव ध्यान में रखना चाहिये। यह ज्ञान ही पद्धति के निर्माण में हमारा मुख्य पथप्रदर्शक होगा।

तो हमें सम्पूर्ण शिक्षण कार्य में बच्चों से सम्बन्धित यह अधिकतम महत्त्व-पूर्ण तथ्य सदैव स्मरण रखना चाहिये कि बच्चे स्वभावतः क्रियाशील होते हैं। तथा कथित मूल प्रवृत्यात्मक प्रेरणायें ही हमारी सामान्य क्रियात्मिकता के प्रेरणा के प्रकट होने की विधियाँ हैं।

हमारे कार्य का अन्ततः लक्ष्य यह है कि बच्चा जीवन निर्वाह करना तथा कार्य करना सीख ले और वह कार्य करके ही सीखता है। ज्ञान तभी उसका अपना होता है जब वह उसका प्रयोग करता है और उसे किसी न किसी रूप में प्रकट करता है और उसे इस प्रकार अपने जीवन तथा अनुभव का एक वास्तविक अंग बना लेता है। तभी इसी कारण शिष्य की क्रियात्मिकता का सिद्धान्त समस्त शिक्षण में सबसे प्रथम महत्त्व रखता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि बच्चा प्रत्येक पाठ में क्रियाशील होगा, यद्यपि उसे अधिकाश पाठों में अवश्य होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रकार के प्रत्येक पाठ

द्वारा यदि उसमें स्वयं क्रियात्मिकता की आवश्यकता न पड़ती हो क्रियात्मिकता अवश्य उत्पन्न होनी चाहिये।

तो जीवन एक निरन्तर अनुभव है। हम जो कुछ भी करते हैं उसकी शृंखला भूतकाल तथा भविष्य से जुड़ी होती है। बच्चे के पाठशाला आने से बहुत पूर्व ही उसका अनुभव आरम्भ हो जाता है और पाठशाला में रहते समय पाठशाला के बाहरी जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी निरन्तर चलता रहता है। वह मानसिक तथा शारीरिक रूप में क्रियाशील बना रहता है। इसलिये जब हम उससे कोई नया अनुभव करवाना चाहते हैं तो इस प्रकार विचार अथवा कार्य करना मानो कि एक रिक्त सन्दूक हमारे समक्ष है जिसमें हम बच्चे के पूर्व प्राप्त ज्ञान पर ध्यान दिये बिना मनचाहा ज्ञान भरते जायें असम्भव है। समस्त ज्ञान जो सचमुच ग्रहण होता है क्रियाशीलता के द्वारा ही प्राप्त होता है। यह क्रियाशीलता निरन्तर चलती रहती है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा नया ज्ञान बच्चे के जीवन का एक वास्तविक अंग बन जाये तो हमें उसका सम्बन्ध बच्चे की क्रियाशीलता के साथ स्थापित करना पड़ेगा। इसका अर्थ यह है कि हमें उसका सम्बन्ध उसके पिछले अनुभव से स्थापित करना होगा। यह हमारा पद्धति सम्बन्धी दूसरा सिद्धान्त है। जब कभी भी हम शिक्षा देते हों तो हमें चाहिये कि हम जो कुछ भी प्रदान करने का प्रयत्न कर रहे हों चाहे वह ज्ञान हो अथवा निपुणता या सुगुणाङ्कन का विषय उसे बच्चे के पिछले अनुभव से सम्बद्ध कर दें। हमें नये को पुराने से सम्बद्ध करना चाहिये तभी नये की क्रियाशीलता की धारा, अर्थात् बच्चे के जीवन में अपना स्थान बना पायेगा। अध्यापन करने के लिये हमें पूर्व प्राप्त अनुभव का अपने कार्य में प्रारम्भ बिन्दु के रूप में उपयोग करना चाहिये।

परन्तु बच्चे का पूर्व प्राप्त अनुभव उसकी मूल प्रवृत्तियों के कार्य करने से प्राप्त हुआ है। मूल प्रवृत्तियों द्वारा क्रियात्मिकता उत्पन्न हुई है। बच्चे को इन मूल प्रवृत्तियों की लीक पर कार्य करने में आनन्द आता है। जो भी उसे इन मूल प्रवृत्तियों के प्रयोग का अवसर प्रदान करती हैं उसे उसी में रुचि होती है। अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों द्वारा अनुशासित विभिन्न विधियों से कार्य करने की कामनायें ही उसके उद्देश्य हैं। इस प्रकार जब हम बच्चे की पिछली क्रियात्मिकताओं से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो उसी के साथ हम उसकी रुचियों से भी सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी कारण अपने नये ज्ञान अथवा निपुणता

का सम्बन्ध किसी पूर्व प्राप्त अनुभव अर्थात् किसी प्रकार की पिछली मानसिक अथवा शारीरिक क्रियात्मिकता से सम्बद्ध करने का महत्त्व होता है। केवल ऐसे सैद्धान्तिक ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करना जो बच्चों को पहले दिया जा चुका है परन्तु उसके द्वारा कोई वास्तविक सजीव अनुभव उसे प्राप्त नहीं हो सका अधिक लाभदायक नहीं है। वास्तविक अनुभव से मेरा अर्थ है बच्चे की वास्तविक क्रियात्मिकता।

उदाहरणतः सम्भव है कि बच्चे ने समुद्र के सम्बन्ध में सुना हो और उसका कुछ सैद्धान्तिक ज्ञान भी हो परन्तु उसने कभी देखा नहीं है। ऐसी दशा में इस विशुद्ध सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ नाव-वहन अथवा गहरे समुद्र में मछली पकड़ने के ज्ञान का सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है। उसको अनिश्चित ढंग का आभास तो हो सकता है परन्तु कोई अर्थपूर्ण अथवा वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु यदि बच्चे ने समुद्र देखा है उसके भीतर गया है या उस पर यात्रा की है तो हमारा सम्बन्ध जोड़ना वास्तविक तथा सजीव होगा। हम जिस विषय की शिक्षा देना चाहते हैं उसको किसी क्रियात्मक अनुभव से सम्बद्ध करना सदैव सम्भव नहीं होगा, विशेषकर वर्तमान काल में जब कि हमारे पाठशाला कार्य में बच्चे की क्रियात्मिकता का उतना महत्त्व नहीं होता जितना कि होना चाहिये। फिर भी यथासम्भव हमारा लक्ष्य यही होना चाहिये **कि हम जिस विषय को पढ़ाना चाहते हों उसको बच्चे के वास्तविक जीवन से हमें सम्बद्ध करना चाहिये।**

यदि हम ऐसा करते हैं तो हम पद्धति के तीसरे सिद्धान्त को भी कार्यान्वित कर लेते हैं जो यह है कि **हमें रुचि उत्पन्न करनी चाहिये।** यदि हमारा शिक्षण बच्चे के क्रियात्मक जीवन अर्थात् बच्चे के जीवन की मूलप्रवृत्यात्मक क्रियात्मिकता से सम्बद्ध करता है तो हम आप ही आप रुचि उत्पन्न कर देते हैं (यहाँ हम मूलप्रवृत्यात्मक शब्द का विस्तृत मनोवैज्ञानिक अर्थ लेते हैं)। बच्चे को उस वस्तु में रुचि होती है जिसके द्वारा उसकी मूलप्रवृत्यात्मक क्रियात्मिकता आगे बढ़ सकती हो। उदाहरणतः बच्चों को अपनी उत्सुकता सम्बन्धी मूलप्रवृत्ति की क्रियात्मिकता के कारण वस्तुओं के खोज निकालने में रुचि होती है। उसको अपनी कलह सम्बन्धी मूलप्रवृत्ति की क्रियात्मिकता के फलस्वरूप ही प्रतियोगिता में रुचि होती है। उसमें कलह सम्बन्धी मूलप्रवृत्ति के फलस्वरूप ही ऐसी वस्तुओं में रुचि होती है जिनके द्वारा उसे अपने लक्ष्य की पूर्ति में बाधक

कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में सहायता मिलती हो। इस प्रकार अपने कार्य को उद्देश्यों तथा क्रियात्मिकताओं से सम्बद्ध कर हम रुचि उत्पन्न करते हैं। यदि क्रियात्मिकता-सिद्धान्त भी कार्यान्वित होता रहे तो इस रुचि को पुनः शक्ति मिलती रहेगी। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि समस्त पाठशाला में मौलिक रुचि उत्पन्न कर देना सम्भव होता है। अधिक मात्रा में कटुअभ्यास तथा घिस्सूपन का कार्य भी करना पड़ता है। फिर भी यदि उसको किसी उद्देश्य की पूर्ति अथवा ऐसे कार्य से सम्बद्ध कर दिया जाये जिसके द्वारा क्रियात्मिकता की मूलप्रवृत्यात्मक इच्छा अपने भिन्न-भिन्न रूपों में पूरी होती हो तो कटुअभ्यास तथा घिस्सूपन का कार्य भी वृहत्तर हित को दृष्टिगत रखते हुये हर्ष पूर्वक किया जायेगा और पूरा होगा।

शिक्षण पद्धति का चौथा सिद्धान्त जिसकी ओर मैं संकेत करना चाहता हूँ, यह है कि प्रत्येक पाठ का कोई **निश्चित लक्ष्य** होना चाहिये। संभवतः यह बात अत्यन्त साधारण लग रही हो परन्तु हम देखते हैं कि बहुत से शिक्षकों की आदत बन जाती है कि वह अपने समक्ष कोई विशिष्ट अथवा सामान्य लक्ष्य रक्खे बिना पाठ देते रहते हैं और बच्चों को उसके सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं होता। यदि हम अपने मन में पाठ लक्ष्य को स्पष्ट कर लें तो हमारा शिक्षण स्पष्ट तथा अधिक निश्चित होगा जिससे वह अधिक रोचक और प्रभावशाली बन जायेगा। अपने पाठ के लक्ष्य के सम्बन्ध में निश्चित होना हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि आगे बढ़ने में हमारी विस्तृत कार्य विधि हमारे लक्ष्य ही पर निर्भर करेगी। यदि हमारा लक्ष्य किसी कविता के सुगुणाङ्कन की शिक्षा देना है तो हम कविता में निपुणता की शिक्षा देने का लक्ष्य अपने समक्ष रख कर जिस विधि का प्रयोग करते उससे पूर्णतया भिन्न विधि का अपने पाठ में प्रयोग करेंगे। इसके अतिरिक्त बच्चों को भी पाठ का लक्ष्य ज्ञात होना चाहिये। हम जो कुछ करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसका ज्ञान होने से बड़ी सहायता मिलती है और चल रहे कार्य में हमारी रुचि अत्यन्त बढ़ जाती है। इस सम्बन्ध में बच्चे भी हमारी ही भाँति अनुभूति करते हैं। वह चाहते हैं कि कोई निश्चित वस्तु उनके सम्मुख रहे।

हमारे लक्ष्य पर वह सामग्री भी निर्भर करती है जिसको हम **अपने पाठ के लिये** छाँटते हैं। यह एक और सिद्धान्त **चयन का सिद्धान्त है**। जब कोई शिक्षक किसी विषय की शिक्षा देने की तैयारी करता है तो उसे अत्यन्त

सावधानीपूर्वक वह समस्त सामग्री छाँटनी पड़ती है जिसका प्रयोग उसे अपने पाठ में करना है। वह बाबर के विषय में इतिहास का पाठ पढ़ाते समय बाबर सम्बन्धी सारी बातें नहीं पढ़ा सकता। जिन तथ्यों को वह अपनी कक्षा के लिये आवश्यक समझता है केवल उन्हीं को छाँट लेता है। वह पाठ्य-पुस्तक के पाठ में प्रयुक्त प्रत्येक नये शब्द या मुहावरे को नहीं ले सकता। उसे केवल उन्हीं को छाँटना है जिन पर वह अधिक ध्यान देने वाला है। चयन का यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और चयन की योग्यता पर बहुत कुछ शिक्षक की अपने कार्य में सफलता निर्भय करती है।

चयन के पश्चात् **विभाजन का सिद्धान्त** आता है। शिक्षक की अपने पाठ की प्रस्तुति क्रमिक होनी चाहिये। यह बात हर प्रकार के पाठ पर लागू होती है। शिक्षक के मानस तथा उसकी पाठ नोट-बुक में अपनी सामग्री का पूर्णतया निश्चित विभाजन होना चाहिये। उसकी अपनी सामग्री निश्चित क्रम अथवा पदों में प्रस्तुत करनी चाहिये। प्राकृतिक रूप से यदि इस प्रकार कार्य किया जाये तो शिष्यों के लिये उसकी बातों का समझ लेना अधिक सहज हो जाता है। एक विभाजन अथवा पद दूसरे विभाजन तक पहुँचा देता है जिसके फलस्वरूप कक्षा के लिये समझना सहज बन जाता है। यदि शिक्षक अपनी सामग्री का इस प्रकार विभाजन नहीं करता तो इसका भय है कि उसकी प्रस्तुति अनिश्चित सम्मिश्रित तथा उलझावपूर्ण हो जाये और इसी प्रकार उसकी कक्षा भी उलझ जाये। अपनी प्रस्तुति में जिस समय वह आगे बढ़ता है तो उसमें एक स्पष्ट तर्कात्मक क्रम होना चाहिये। प्रत्येक पद के समाप्त होने पर भी, यदि आवश्यकता प्रतीत हो, उस पद का सारांश दिया जा सकता है।

इससे हमें सातवाँ अर्थात् **अभ्यास अथवा दुहराने** का सिद्धान्त प्राप्त होता है। यदि पाठ ऐसा है जिसमें किसी निपुणता की शिक्षा दी जा रही है तो जैसा कि हम देखेंगे, अभ्यास उस पाठ का प्रमुख भाग होगा। यदि पाठ ऐसा है जिसमें कोई नया ज्ञान प्रस्तुत किया जा रहा है तो पदों अथवा पाठ के अन्त अथवा दोनों के अन्त पर दुहराना अत्यन्त आवश्यक है। बच्चों के शिक्षण में पुनरावृत्ति परमावश्यक है। तथा अभ्यास और दुहराना अत्यन्त आवश्यक है। नवयुवक तथा अवस्था प्राप्त शिक्षकों में भी कभी-कभी यह विचार करने की प्रवृत्ति होती है कि जब उन्होंने किसी विषय-विशेष अथवा

उसके किसी भाग को 'पूरा कर दिया' तो समस्त कार्य समाप्त हो गया और कुछ करना शेष नहीं रहा। परन्तु कठिनाई तो यह है कि अधिक मात्रा में अभ्यास तथा दुहराने के बिना वह सचमुच ग्रहण नहीं होता और चित्त से उतर जाता है और प्रथमतः बहुत कुछ किया हुआ कार्य केवल अभ्यास तथा दुहराने पर ध्यान न देने के कारण नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार पद्धति के सामान्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं जिनको हमें पढ़ाते समय सदैव ध्यान में रखना चाहिये।

१—क्रियात्मिकता का सिद्धान्त
२—जीवन से सम्बद्ध करने का सिद्धान्त
३—रुचि का सिद्धान्त
४—निश्चित लक्ष्य का सिद्धान्त
५—चयन का सिद्धान्त
६—विभाजन का सिद्धान्त
७—दुहराने तथा अभ्यास का सिद्धान्त।

सिद्धान्तों का प्रयोग

अब हमें देखना है कि पाठ देते समय हम इन सिद्धान्तों का किस प्रकार प्रयोग कर सकते हैं।

पाठों के तीन मुख्य प्रकार होते हैं। पहले को हम ज्ञान प्राप्ति के हेतु दिया पाठ, दूसरे को निपुणता प्राप्ति के हेतु पाठ और तीसरे को सुगुणाङ्कन शक्ति के विकास के लिये पाठ कह सकते हैं। पहले का उदाहरण है प्रारम्भिक पाठशाला में इतिहास का पाठ, वह पाठ जिनमें अङ्कगणित के किसी नये नियम को पढ़ाया जा रहा हो तथा भूगोल के कुछ पाठ जिनमें ज्ञान दिया जाता है। दूसरे के उदाहरण हैं वह पाठ जिनमे पठन अथवा लेखन की यांत्रिक पद्धति की शिक्षा दी जाती है, मानचित्र बनाने के भूगोल पाठ, रेखाङ्कन तथा हस्तकला के पाठ, ऐसे पाठ जिनमें किसी विदेशी भाषा की शिक्षा दी जा रही है। तीसरे के उदाहरण वह पाठ हैं जिनमें कोई कविता उसके अर्थ अथवा यांत्रिक पद्धति पर विशेष ध्यान दिये बिना बच्चों के सम्मुख प्रस्तुत की

जाती है। इस प्रकार के पाठ गद्य में भी दिये जा सकते हैं। ऐसे पाठ विशेष रूप से साहित्य, रेखाङ्कन कला तथा संगीत में आते हैं। इन पाठों की विभिन्न प्रकारों में से प्रत्येक की स्वयं अपनी विधिकला होती है।

१—ज्ञान की प्राप्ति-तैयारी। अपने बच्चों को ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बनाने का प्रयत्न करते समय हमें सर्वप्रथम कार्य यही करना है कि उन्हें उसके पाने के लिये तैयार कर दें। यह बच्चों तथा अध्यापक दोनों के लिये आवश्यक है। बच्चों के पूर्व प्राप्त ज्ञान के सम्बन्ध में यथासम्भव ठीक-ठीक ज्ञान होना शिक्षक के लिये आवश्यक है। इसके अतिरिक्त बच्चों में रुचि उत्पन्न करना तथा नये दिये जाने वाले ज्ञान प्राप्ति के लिये उन्हें उत्सुक बना देना भी शिक्षक के लिये आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि यदि पाठ को सचमुच सफल बनाना है तो कक्षा और शिक्षक में सहयोग होना चाहिये। यह प्रक्रिया जिसमें शिक्षक पता लगाता है कि बच्चे क्या जानते हैं और अनुभव करते हैं कि वे क्या नहीं जानते तथा उनके मन में अपने ज्ञान की वृद्धि करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, तैयारी कहलाती है।

हम देख चुके हैं कि जिन सिद्धान्तो के अनुसार हमें कार्य करना है उनमें से एक ज्ञान को जीवन से सम्बद्ध करने का सिद्धान्त भी है। यदि शिक्षक को ऐसा करना है तो उसे कुछ आभास होना चाहिये कि बच्चे क्या जानते हैं और वह क्या कर चुके हैं। अर्थात् उसे अपने बच्चों के पूर्व प्राप्त अनुभव का यथासम्भव ज्ञान होना चाहिये। कक्षा-शिक्षण में एक कठिनाई यह भी है कि प्रत्येक बच्चे का पूर्व प्राप्त अनुभव भिन्न-भिन्न होगा। फिर भी, कक्षा शिक्षण में हमें एक मध्यस्तर खोज निकालने का प्रयत्न करना ही पड़ता है चाहे शुद्ध मनोविज्ञान की दृष्टि से यह प्रक्रिया कितनी ही त्रुटिपूर्ण क्यों न हो तथा शिक्षक को अपनी कक्षा के थोड़े-बहुत पूर्व प्राप्त अनुभव का भी पता लगाना होगा।

इस अनुभव तथा ज्ञान का पता लगाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अध्यापक जब तक यह नहीं जानता उसके पाठ के अस्पष्ट रह जाने का भय है। उसके बच्चों के मानस क्रियात्मक ढंग से उसको अपने जीवन की किसी वस्तु से सम्बद्ध न कर पायेंगे। बच्चों के मानस क्रियाशील होते हैं (जैसा कि हमें सदैव स्मरण रखना चाहिये) तथा बच्चे स्वभावतः अपने पूर्व

प्राप्त अनुभव ही से वस्तुओं का सम्बद्ध करना चाहते हैं। यदि हम बच्चों से ऐसे शब्द तथा मुहावरे प्रयोग करवाने का प्रयत्न करें जिनको उन्होंने इससे पूर्व न कभी सुने और न देखे हों तो यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगा। इसलिये इस प्रकार के पाठ को पढ़ाने में पहला पद बच्चे के पूर्व प्राप्त ज्ञान तथा अनुभव को ज्ञात करना है। यह शिक्षक को अपने पाठ को जीवन से सम्बद्ध करने में सहायता देता है। बच्चों को इसके द्वारा अपने जीवन में अभाव को समझने में सहायता मिलती है। जब शिक्षक उनसे प्रश्न पूछता है और उनके पूर्व प्राप्त ज्ञान को उनके सम्मुख उपस्थित कर देता है तो स्वयं स्पष्ट हो जायेगा कि रिक्त स्थान कहाँ पर है अथवा कोई उपयोगी तथ्य ऐसा है जिसको वह नहीं जानते। पाठ का कार्य यह है कि इस अभाव की पूर्ति करे। यदि शिक्षक निपुण है तो वह इस तैयारी के पद को बच्चों को अपना सहकारी बनाने के लिये प्रयोग करेगा। इस प्रकार वह जो कुछ करने जा रहा है उसका कारण उन्हें बतला सकेगा। और बहुधा उनकी सहानुभूति तथा कामनायें प्राप्त कर सकेगा। जितना ही अधिक वह इस कार्य को कर सकेगा और शिष्यों के उद्देश्यों को जितना अधिक विषय से सम्बद्ध कर सकता है उतनी ही अधिक सफलता उसे प्राप्त होगी।

उदाहरणतः यदि शिष्य पाठशाला अथवा कक्षा की एक दुकान चला रहे हैं तो उन्हें अंकगणित के कतिपय नियमों का ज्ञान, जिसे वह अब तक सीख नहीं पाये हैं, प्राप्त कर लेने की आवश्यकता का अनुभव कराने के अवसर ढूँढ निकालना कठिन न होगा। इस प्रकार शिक्षक उनके उद्देश्यों को अपने पक्ष में कर लेता है। यदि बालक कोई नाटक खेलना चाहते हैं तो इस बात का मातृभाषा के किन्हीं पाठों की आवश्यकता का अनुभव कराने के हेतु उपयोग किया जा सकता है। फिर बच्चों के पूर्व प्राप्त अनुभव का उपयोग कर तथा उनके सम्मुख अनुभव का वह अभाव जो उनके लिये बाधक है, भली भाँति रख कर शिक्षक उनका सहयोग प्राप्त कर लेता है, और यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उनमें रुचि भी उत्पन्न कर देता है।

यह कार्य प्रत्येक पाठ में समान मात्रा में नहीं किया जा सकता कुछ परिस्थितियाँ तथा कुछ पाठ दूसरों की अपेक्षा इस प्रकार उद्देश्यों के उपयोग के लिये अधिक उपयुक्त हैं। परन्तु इस प्रकार की तैयारी कम से कम यह जानने

के लिये कि कहाँ से आरम्भ हो और जीवन से सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जावे, अवश्य होना चाहिये।

यहाँ चेतावनी का एक शब्द कह देना भी आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं कि तैयारी का पद प्रत्येक पाठ में विस्तृत हो। जब पाठ किसी पाठशाला का एक अंग हो तो बहुधा एक दो प्रश्न ही पर्याप्त होंगे। प्रत्येक दशा में शिक्षक को अपनी नई सामग्री सहित शीघ्रता पूर्वक बढ़ने को अपना लक्ष्य बनाना चाहिये। यद्यपि यह आवश्यक है कि हम बच्चों के मानस को क्रियाशील कर दें जिससे कि वही तथ्य उस समय उनके चिन्तन में सर्व प्रमुख रहे जिसको हम ज्ञान से सम्बद्ध करना चाहते हैं। तथापि यह आवश्यक नहीं है कि अपने पाठ के प्रत्येक तथ्य को किसी न किसी पूर्व तथ्य से सम्बद्ध करने के प्रयत्न द्वारा उन्हें उकता दें। इस प्रकार की विस्तृत कार्य विधि पूर्णतया अनावश्यक है और हमें चाहिये कि जिस समय हम रुचि उत्पन्न करना चाहते हैं, उल्टे उसका हनन न होने दें।

"इसलिये शिक्षक·····यथा संभव संक्षिप्त तथा सूक्ष्म रूप से ज्ञान के सूत्र को हस्तगत कर ले और शिष्यों को ऐसी विचारदिशा पर ले आयें जो उन्हें अपनी वर्तमान प्राप्तियों से आगे बढ़ाकर नये उद्देश्य तक पहुँचा दें। अध्यापक अपनी कक्षा को जितना अधिक जानता है वह उतनी ही शुद्धतापूर्वक तथा शीघ्रतापूर्वक इस कार्य को कर सकेगा। जब कक्षा उसके लिये अपरिचित हे तो उसे पिछले शिक्षक के अनुभव से सहायता मिल सकती है परन्तु किसी भ दशा में उसका प्रारंभ उतना निश्चित या उतना तीक्ष्ण नहीं हो सकत जितना कि उन शिष्यों के लिये होगा जिन्हें वह स्वयं जानता है। यह प्रारम्भ विन्दु का निर्धारण तथा स्वयं अपने को बच्चों की मानसिक अवस्था औ प्रवृत्ति में रखने की यह शक्ति ही शिक्षण में वास्तविक कलाकार को तथ्यों तथ मूलसूत्रों के घोंटने वाले से विशिष्ट बनाती है। यह जानना कि शिष्य किस स्थान पर हैं और उन्हें किस स्थान के लिये प्रयत्न करना चाहिये अच्छे शिक्षण की दो सर्वप्रथम परमावश्यकतायें हैं।" [१]

लक्ष्य का वर्णन—तैय्यारी के उपरान्त दूसरा पद लक्ष्य का वर्णन है

१—जे० वेल्टन०—प्रिंसिपुल्ज़ ऐण्ड मेथड्स ऑव टीचिंग पृ० ५६-(यू० टी० प्रेस)।

निस्सन्देह, शिक्षक के लिये अपने लक्ष्य को जानना आवश्यक है। परन्तु बच्चे के लिये भी पाठ का लक्ष्य जानना उतना ही आवश्यक है। यदि तैयारी भली-भाँति की गई है तो लक्ष्य लगभग स्वतः निकल आयेगा। परन्तु चाहे ऐसा हो अथवा न हो, लक्ष्य का निश्चित रूप से वर्णन अवश्य कर देना चाहिये जिससे शिष्यों को ठीक-ठीक ज्ञात हो जाये कि वह किस कार्य के लिये प्रयत्न कर रहे हैं तथा किस ओर बढ़ रहे हैं। बच्चे चाहते हैं कि बातें निश्चित हों। उनकी रुचि का अवश्य ही हनन हो जायेगा यदि शिष्य यह नहीं जानते कि अध्यापक किस कार्य के लिये प्रयत्न कर रहा है या वह स्वयं वही क्यों कर रहे हैं जो अध्यापक उनसे करवाना चाहता है। कोई लक्ष्य सम्मुख रख कर यदि क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ा जाय तो छोटे बच्चे भी उनको समझ सकते हैं। इसलिये लक्ष्य का स्पष्ट वर्णन अवश्य होना चाहिये।

ऐसा करने की विधि परिस्थितियों के अनुसार भिन्न भिन्न होगी। किसी पाठ्य पुस्तक की किसी पाठमाला के लिये यह कार्य अत्यन्त सहज होगा। बच्चे एक बार पाठ्य पुस्तक को आरम्भ करने के पश्चात् अध्यापक की भाँति ही उसका सामान्य लक्ष्य समझ लेंगे। परन्तु ऐसी पाठमाला के लगभग सभी पाठों में विशेष गौण लक्ष्य निहित होंगे जिनकी ओर अध्यापक को ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा। अङ्कगणित के किसी पाठ में लक्ष्य केवल यह हो सकता है कि इसके पूर्व जो नियम सीखा है, उसका अभ्यास हो जाये। परन्तु यह बात शिष्यों को ज्ञात हो जानी चाहिये। हम सिद्धान्त के रूप में यह कह सकते हैं कि शिष्यों को स्पष्ट रूप से विदित होना चाहिये कि वह क्या करने जा रहे हैं। यदि अन्वेषण पद्धति जैसी पद्धति का प्रयोग किया जा रहा हो जिसमें बच्चों को वह नियम या सिद्धान्त बताये बिना, जिसकी वह खोज कर रहे हैं, स्वतः कुछ ढूँढ निकालने में सहायता दी जाती है तो भी शिष्यों को पता होना चाहिये कि वह किस नियम अथवा सिद्धान्त की खोज में व्यस्त हैं। सुगुणाङ्कन पाठ में उन्हें यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि उनसे किसी कविता अथवा चित्र में क्या ढूँढ निकालने की आशा की जाती है परन्तु उन्हें यह अवश्य बतलाया जा सकता है कि उस कविता अथवा चित्र के सम्बन्ध में स्वयं उनके अपने विचार क्या हैं। ऐसी दशा में जब बच्चों को लक्ष्य बता दिया जाता है तो हम यह निर्धारित नहीं करते कि उन्हें कहाँ पहुँचना है। हम उन्हें केवल यह बतलाते हैं कि हम खोज के पथ पर यात्रा आरम्भ कर रहे हैं और जब हम

अन्त तक पहुँच जायेंगे, तभी हम देखेंगे कि हमने क्या सीखा है। इस प्रकार देखने में आयेगा कि कभी-कभी आध्यापक जो लक्ष्य स्वयं अपने लिये निर्धारित करेगा और जो वह अपने शिष्यों के समक्ष रक्खेगा दोनों पूर्णतया समरूप न होंगे। शिक्षक को यह विदित रहेगा कि वह कहाँ जाना चाहता है और लिखित रूप में उसको प्रत्यक्ष ज्ञान रहेगा कि वह क्या करने के लिये प्रयत्न करने जा रहा है। शिष्य के दृष्टिकोण से यदि उन्हें ठीक-ठीक पता हो जाये कि उन्हें क्या खोजना था, तो रुचि, शिक्षात्मक मूल्य और प्रशिक्षा सभी नष्ट हो जायेंगे। वैज्ञानिक अनुसन्धान करते समय शिष्यों को यह पता न होना चाहिये कि पुस्तक के अनुसार उत्तर क्या होना है। उन्हें केवल यह ज्ञान होना चाहिये कि वह क्या खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं और अनुसन्धान किस लिये कर रहे हैं, तब वह इसी तरह अपना काम करते जायें और अन्त में देखें कि वे कहाँ पहुँच गये।

प्रस्तुति अथवा विकास—दूसरा पद वह है जिसे प्रस्तुति कहा जा सकता है। इसका अर्थ केवल यह है कि अध्यापक शिष्यों को कोई नया ज्ञान प्रदान अथवा प्रस्तुत करता है। यह मूलशब्द "प्रस्तुति" पूर्णतया शुद्ध नहीं है क्योंकि वह शिष्य द्वारा ज्ञान की निश्चेष्ट प्राप्ति की ओर संकेत करता है, जब कि हम जानते हैं कि शिष्य का मानस क्रियाशील है। हम इसे जो भी नाम दें ("विकास" शब्द प्रस्तावित किया गया है जो सम्भवतः प्रस्तुति से उत्तमतर है) यह एक ऐसी स्थिति है जब नयी सामग्री या नये कार्य को प्रविष्ट किया जाता है जिसे शिष्य क्रियात्मिकता पूर्वक ग्रहण कर लेता है। कई बार ऐसा भी होता है कि शिष्य को नया ज्ञान देना या स्वयं नया ज्ञान प्राप्त करने के लिये उत्प्रेरित करना होता है। यह स्थिति तृतीय स्थिति है, चाहे हम उसे कोई भी नाम दें। इस स्थिति में जो कुछ होगा या जिस पद्धति का प्रयोग किया जायेगा, सब कुछ पाठ के लक्ष्य द्वारा निर्धारित होगा। यह वह स्थिति है जहाँ मुख्यतः एक विशेष प्रकार के शिक्षण अर्थात् व्याख्या पद्धति का प्रयोग किया जाता है।

शिष्य को नया ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बना देने के इस उपक्रम के सम्बन्ध में चयन तथा विभाज्य के सिद्धान्त को ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है। यही वह उपक्रम है जिसमें इन सिद्धान्तों का उपयोग होता है। शिक्षक को बुद्धिमता पूर्वक चयन कर लेना चाहिये कि उसे स्वयं क्या बताना है और

शिष्यों से कितना स्वयं ढूँढ़ निकालने की आशा की जाती है। तब उसे अपनी सामग्री को तर्कसंगत खंडों में विभाजित कर क्रमिक तथा स्पष्ट ढंग से क्रमबद्ध करना होता है। यदि प्रथम कक्षा को कोई कहानी ही सुनानी हो तो भी कहानी की प्रस्तुति में भी यह दोनों सिद्धान्त ध्यान में रखने चाहिये।

सामान्यीकरण—चतुर्थ पद जिसे हम विशिष्ट रूप से देख सकते हैं वह है जिसे कभी-कभी युक्तिकरण या सामान्यीकरण कहा जाता है। जिस समय मानस ज्ञान ग्रहणकरता है तो वह अपनी पूर्व प्राप्त सामग्री से उसको समतुलन तथा वितुलन करता है। जब कोई बच्चा जो कुत्ते से पहले से परिचित है, प्रथम बार घोड़ा देखता है, तो वह घोड़े को बड़ा कुत्ता ही कहता है। इसी प्रकार हम जो भी नये तथ्य सीखते अथवा खोज निकालते हैं तो उसकी तुलना हम उससे करते हैं जो हमें पहले से ज्ञात है। इसी प्रकार के समतुलनों द्वारा हम सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करते हैं। हमारा मानस वस्तुओं को नियमबद्ध करना तथा अपने ज्ञान को सुव्यवस्थित ढंग से क्रमबद्ध करना चाहता है। इस प्रकार हम सामान्यीकरण करते हैं। बच्चा देखता है कि हवा में फेंकी हुई गेंद भी नीचे आ जाती है, पत्थर नीचे आ जाता है, ईंट नीचे आ जाती है, और इन्हीं अनुभवों से वह एक सामान्य सिद्धान्त बना लेता है। खेलों में यह प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखने में आती है। बच्चों के अपने खेलों के नियम होते हैं और वह उनका पालन करने में बड़ी कड़ाई करते हैं। वह नियम बनाने योग्य होना पसन्द करते हैं।

बहुधा यही वह पद होता है जो उस समस्या का उत्तर उपलब्ध करता है जिसको लेकर पाठ आरम्भ हुआ था। इस पद के द्वारा पाठ का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। शिष्य अब तक नये आधार पर खड़ा होता है और उसके पास एक वस्तु होती है जिसका वह प्रयोग तथा परीक्षण कर सकता है।

युक्तिकरण अथवा सामान्यीकरण का यह पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है यद्यपि प्रत्येक पाठ में इसका होना आवश्यक नहीं है। स्वभावतः इसका प्रयोग उस पाठ में जिसे हम आगमनिक कहते हैं अधिक होता है।

"फिर भी युक्तिकरण का यह पद दूसरे पदों की भाँति ही महत्त्वपूर्ण है और उसके लिये समय अथवा अवसर उपलब्ध करना आवश्यक है। परीक्षा की तैयारी में स्मरण शक्ति को इतना श्रेष्ठ बना दिया गया है कि जब अध्यापक अपने क्षेत्र को ढकने के लिये अधीर होता है तो चिन्तन की अधिक मन्द

तथा कठिन प्रक्रिया को बहुधा लुप्त कर दिया जाता है। बच्चे के चिन्तन में त्रुटियाँ प्रदर्शित होने की सम्भावना रहती ही हैं। उसका शीघ्रतापूर्वक परिणाम निकालना सम्भावित है, उदाहरण को त्रुटिपूर्ण रूप से प्रमाण समझ ले। किसी विशेष उदाहरण को आधार बनाकर तर्क करे, अथवा संक्षेप में साधारण तर्क शास्त्र की सभी भ्रान्तियों में फँस जाये। उसे इन त्रुटियों से मुक्त कराना सहज नहीं है और इसके लिये अधिक समय तथा धैर्य की आवश्यकता है। इस प्रकार अध्यापक इस चिन्ता मे रहता है कि शिष्य के स्थान पर स्वयं चिन्तन कर सघर्ष से बच जाये। आगे चलकर राजनैतिज्ञ के रटे-पिटे नारों, पार्टी पत्रों तथा सूत्रों के रूप मे इसी पद्धति की पुनरावृत्ति होती है।[1]

शिक्षण सम्बन्धी इस पद अथवा शिक्षण के इस अंग के सम्बन्ध में एक तथ्य सदैव स्मरण रखना चाहिये कि युक्तिकरण अथवा सामान्यीकरण की प्रक्रिया यथासंभव शिष्य के द्वारा ही होनी चाहिये। निपुण शिक्षक वही है जो बच्चे को स्वयं अपने अनुभवों पर आधारित स्वतः अपने परिणाम प्राप्त करने में सहायता दे सकता हो। बच्चों को पूर्व निर्मित सामान्य परिणाम अथवा विचार बोध (मनोवैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार) प्रदान कर देना जो बच्चे के स्वयं अपने अनुभव तथा अपने वस्तुबोध पर आधारित न हों बुरा शिक्षण है। उदाहरणतः बच्चे के प्रयोग किये बिना या ऐसा देखे बिना उससे यह आशा करना कि वह यह सीख लेगा कि साधारण दबाव पर पानी १०० सें० पर उबलता है बुरा शिक्षण है। बच्चे को बहुत से अनुभव कर लेने की आज्ञा देना और तब उसे सामान्य सूत्र बतला देना भी बुरा शिक्षण है। अध्यापक की सहायता तथा पथ प्रदर्शन के द्वारा बच्चे से स्वयं सामान्यीकरण करवाना चाहिये।

प्रयोग—पाँचवाँ पद जो हम ले सकते हैं प्रयोग है। यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि हम देख चुके हैं, ज्ञान तभी ज्ञान है जब उसका उपयोग होता हो। प्रत्येक दशा में कार्य के पिछले पदों में जो परिणाम प्राप्त हुये हैं उनका वास्तविक व्यवहार में परीक्षण करना होगा। संभव है, कि जब किसी सामान्य सूत्रको व्यवहार में लागू कर उसका परीक्षण किया जाये तो

१—एफ० स्मिथ ऐन्ड ए० एस० हैरिसन—प्रिंसिपुल्ज़ ऑव क्लास टीचिंग पृ० ३०१ (मैकमिलन)

अशुद्धियाँ प्रकट हों। फिर भी यदि प्राप्त ज्ञान को स्थायी बनाना है तो उसका उपयोग करना चाहिये। बच्चों को अपने पूर्व प्राप्त ज्ञान को अभिव्यक्त करने, क्रियाशील होने, तथा अधिक प्रगति करने का अवसर देना चाहिये। हमारा क्रियात्मिकता का सिद्धान्त (मानसिक तथा शारीरिक) यहीं पर आता है। बच्चे अङ्कगणित का कोई नियम सीखते हैं। उन्हें ऐसे प्रश्न करने का अवसर देना चाहिये जिनमें इस नियम का उपयोग होता हो। वह किसी देश या स्थान के विषय मे भौगोलिक तथ्य सीखते हैं। उन्हें मानचित्र अथवा रेखाचित्र बनाने का अवसर मिलना चाहिये। वह मातृभाषा अथवा अँग्रेजी में नये-नये शब्द-समूह अथवा मुहावरे सीखते हैं। उन्हें उन शब्द समूहों तथा मुहावरों के उपयोग का अवसर मिलना चाहिये। निस्संकोच कहा जा सकता है कि व्यावहारिक कार्य का यह उपक्रम यदि प्रत्येक पाठ मे नहीं तो कम से कम प्रत्येक पाठशाला में अवश्य होना चाहिये और उसे पाठ अथवा पाठशाला के कार्य का बहुत बड़ा भाग अवश्य बनना चाहिये। इस पद में शिष्यों का ज्ञान स्थिर तथा पुष्ट होता है और वह आगे उन्नति करने को तैयार होते हैं। वास्तविक रूप में यह अन्तिम पद सीखने के आगामी खंड की तैयारी है।

यह हमारे विचाराधीन उपक्रम अथवा पद वहाँ आते हैं जिन्हें हम ज्ञान-परिचायक पाठ अर्थात् ऐसे पाठ कह सकते हैं जिनमें शिष्य नया ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस श्रेणी के पाठ अथवा पाठशाला के लिये भी संभव है कि यह पद किसी विशेष पाठ में आये ही न हों। अधिकतर पाठ किसी पाठशाला के खण्ड होते हैं और हमें अपने पाचों उपक्रमों को खोज निकालने के लिये सम्भवतः पूरी पाठशाला को जाँचना पड़ेगा। तब भी हमें आँख मूँद कर उनके पीछे नहीं पड़ना है। सम्भवतः पहला और पाँचवाँ पद अर्थात् तैयारी (जिसमें उत्प्रेरण भी सम्मिलित है) और प्रयोग प्रत्येक उत्तम पाठ अथवा पाठमाला में सदैव आयेगा। परन्तु इन उपक्रमों अथवा पदों को हमारे सेवक बन कर रहना चाहिये स्वामी बन कर नहीं। यह इसलिये है कि हम कक्षा, विषय तथा अन्य तथ्यों के अनुसार परिवर्तनशील परिस्थितियों को दृष्टिगत रख उनका प्रयोग करें।

२—निपुणता-प्राप्ति—परन्तु सीखने का एक प्रकार और होता है जिसमें हम को एक अन्य विधि के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। यह ऐसा पाठ होता है जिसमें शिष्य किसी निपुणता को सीखता है तथा जिसमे पाठ का

उद्देश्य केवल किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करना नहीं वरन् किसी कार्य के करने में सहायता देना होता है। उदाहरणतः पढ़ना तथा लिखना सीखना ऐसे पाठ हैं जिनमें एक निपुणता प्राप्त होती है। रेखाङ्कनकला के पाठ निपुणता के पाठ हैं। इसी प्रकार के वह पाठ होते हैं जिनमें मानचित्र बनाने की शिक्षा दी जाती है। समस्त प्रकार की हस्तकलायें निपुणता के पाठ होते हैं। ऐसे पाठों में हमें अपनी कार्य विधि को परिवर्तित करना होता है।

तैयारी—पहला पद वही होगा जो कि ज्ञान दायक पाठ में रहता है, अर्थात् तैयारी, जिसमें उत्प्रेरण भी सम्मिलित है। निपुणता की शिक्षा देते समय बच्चे के हृदय में रुचि उत्पन्न करना तथा उसको जीवन से सम्बद्ध करना ठीक उतना ही आवश्यक है जितना कि ज्ञान प्रदान करने में होता है। हमारे पास कोई आधार होना चाहिये जिस पर हम निर्माण कर सकें।

कारण यह है कि किसी अन्य व्यक्ति की क्रियात्मिकता का अनुकरण करने की हमारी शक्ति का हमारी स्वयं उसी प्रकार का सामान्य कार्य करने की पूर्व प्राप्त शक्ति ही पर पूर्ण रूप से निर्भर करती है। अनुकरण किसी पूर्व प्राप्त शक्ति को विकसित तथा संशोधित तो कर सकता है परन्तु उसका सृजन नहीं कर सकता। एक बच्चे को लीजिये जो प्रथम बार अभ्यास पुस्तिका में लिखना आरम्भ कर रहा है। वह अनुकरण के द्वारा सीखता है, परन्तु यह केवल इस कारण होता है कि उसमें पहले ही से टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियाँ बना लेने की प्रारम्भिक योग्यता वर्तमान है, जहाँ से अनुकरण-प्रक्रिया का आरम्भ हो सकता है। और जब इस प्रकार आरम्भ हो गया तो आज के पाठों में जो निपुणता प्राप्त होगी वही कल के लिये आधार बनेगी। इस प्रकार से, विषय-सामग्री के किसी नये खण्ड की तैयारी में निस्सन्देह सम्पूर्ण पूर्व-प्राप्त शिक्षा सम्मिलित रहती है। परन्तु अधिक तात्कालिक रूप में, इसके भीतर पिछले कुछ पाठों द्वारा प्राप्त ज्ञान की पुनरावृत्ति तथा निपुणता का अभ्यास दोनों ही सम्मिलित होते हैं।[१]

लक्ष्य का वर्णन—निपुणता-प्राप्ति के पाठ में दूसरा पद, पहले की भांति, लक्ष्य का वर्णन होगा। बच्चे को ज्ञात होना चाहिये कि वह क्या करने जा रहा है। शिक्षण के इस उपक्रम को निपुणता पूर्वक संचालित कर शिष्य

१—टी० रेमान्ट—दि प्रिंसिपुल्ज़ ऑव एजुकेशन पृ० २५३ (लांगमैन्स ग्रीन)

के मन में निश्चित रूप से रुचि तथा सहयोग उत्पन्न किया जा सकता है।

प्रस्तुति अथवा विकास—तीसरा पद प्रस्तुति है। निपुणता प्राप्ति के सम्बन्ध में इस उपक्रम का मुख्यतः अर्थ यही है कि शिक्षक जैसे कार्य करता हो तथा उनकी सर्वोत्तम पद्धतियों को जिस प्रकार व्याख्या करे शिष्य उसका अवलोकन करें और उसे ध्यान पूर्वक सुनें तथा देखें। इस प्रकार, यदि कक्षा लिखना सीख रहा है तो वह शिक्षक को शब्द लिखते ध्यान से देखेगी और शिक्षक लिखने के अतिरिक्त उन्हें दिखलायेगा कि कलम कैसे पकड़नी है, कैसे आकृतियाँ बनाई जायें आदि आदि। उस सम्बन्ध में नियमों का वर्णन भी हो सकता है।

अभ्यास—फिर चौथा पद शिष्यों द्वारा अभ्यास का होगा जिसके अन्तर्गत वह उसी का अनुकरण करेंगे जो शिक्षक ने उन्हें दिखलाया या किया है।

संशोधन—इसके पश्चात् आने वाले पद को संशोधन कहा जा सकता है। वास्तव में यह केवल पुनर्प्रस्तुति है। शिक्षक दूसरी बार प्रदर्शन कर सकता है कि कार्य कैसे किया जाता है। वह त्रुटिपूर्ण पद्धतियों की ओर ध्यान दिलायेगा, कार्य करने की ठीक विधियाँ दिखलायेगा और त्रुटियों तथा भोंडेपन से बचने के ढंग प्रदर्शित करेगा। यहाँ नियमों का पुनर्वर्णन भी हो सकता है।

अभ्यास—इसके पश्चात् अभ्यास की फिर बारी आयेगी क्योंकि शिष्य फिर अनुकरण करने तथा विधि-कला को उत्तमतर बनाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार यह दोनों पद निरन्तर कई बार दुहराये जा सकते हैं। जब हम सीखने की प्रक्रिया पर विचार करेंगे तो इस प्रकार के कार्य के सम्बन्ध में फिर से अध्ययन करेंगे।

कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें निपुणता-प्राप्ति पर विचार करते समय सदैव ध्यान में रखना चाहिये। सर्वप्रथम तो यह कि शिष्यों को निपुणता विशेष प्राप्त करने का कारण ज्ञात होना चाहिये। यह सिद्धान्त अर्थात् उत्प्रेरण अथवा लक्ष्य का वर्णन सभी पाठों में समान होता है। दूसरे, शिष्यों से कोई ऐसी निपुणता प्राप्त करने को न कहा जाये जो उनकी वर्तमान स्थिति में उनके लिये अत्यन्त कठिन हो। तीसरे, कक्षा में कार्य का स्तर ऐसा होना चाहिये कि उसके नियमित प्रयोग के द्वारा बच्चा उचित समय में धीरे-धीरे परिमित सफलता के निकट पहुँच सके। अपने रुचि के सिद्धान्त को दृष्टिगत रख इन तीनों तथ्यों को ध्यान में रखना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। यदि कार्य शिष्यों

की शक्ति के बाहर हैं और उन्हें पता चलता है कि वह उसे पूरा नहीं कर सकते तो उनकी रुचि शीघ्र ही लुप्त हो जायेगी। बच्चे यह भी अनुभूति करना चाहते हैं कि वह उन्नति कर रहे हैं और उन्हें कुछ सफलता प्राप्त हो रही है इससे उनमें सन्तोष की भावना उत्पन्न होती है जो सफल सीखने के लिये परमावश्यक है।

३—**सुगुणाङ्कन शक्ति का विकास**—एक तीसरे प्रकार का पाठ भी होता है जिसकी कार्य-विधि पूर्णतया भिन्न होती है। ऐसे पाठ को सुगुणांकन पाठ कहते हैं।

"सुगुणांकन पाठ किसी वस्तु को देखने अथवा सुनने, अवकाश रहने पर अनुकूल वातावरण में उससे आनन्दित होने और शिक्षक के संकेत के प्रयोग द्वारा उसके आकर्षण को अधिक बढ़ा देने का नियन्त्रण है। परिणाम को स्वयं विकसित होने के लिये छोड़ देना चाहिये।

जहाँ तक छोटे बच्चों का सम्बन्ध है तैयारी तथा प्रस्तुति के पद ही पर्याप्त होते हैं। आशा जागृति कर तथा आनन्द की प्रतीक्षा द्वारा मानस को तैयार किया जा सकता है। इस कार्य में संकेत का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। प्रस्तुति में ऐसी सभी विधियों का उपयोग करना चाहिये जिनके द्वारा स्पष्ट आकर्षण उत्पन्न होने में सहायता मिल सके।"[१]

इस प्रकार के पाठों में जैसा कि उपरोक्त उद्धरण में बतलाया गया है, संकेत का उपयोग किया जायगा। सभी शिष्यों, विशेषकर छोटे बच्चों के लिये सुगुणाङ्कन पाठ में संकेत अपने फलगत अनुकरण सहित एक प्रबल तत्व होता है। उदाहरणतः उचित वातावरण उत्पन्न करने में सहायता पाने के लिये शिक्षक प्राकृतिक परिस्थितियों के उपयोग की चेष्टा करेगा। किसी वर्षा-सम्बन्धी कविता का पाठ किसी ऐसे दिन लेना, जब धूप तेजी से चमक रही हो, उचित नहीं है। इसी प्रकार धूप वाले दिन पर किसी कविता का पाठ वर्षा के दिन लेना उचित नहीं है। जहां पद्य अथवा गद्य में प्रकृति का वर्णन किया हो तो यदि सम्भव हो सके तो कक्षा को बाहर ले जाना चाहिये। यदि पाठक बाहर वृक्षों तथा चिड़ियों के बीच बैठे हों तो प्राकृतिक दृश्य सम्बन्धी कविता का सुगुणाङ्कन अधिक

१—एफ० स्मिथ० ऐण्ड ए० एस० हरीसन—प्रिंसिपुल्ज़ ऑव क्लास टीचिंग—पृ० ३०६ (मैकमिलन्स)

सम्भव हो सकता है।

शिक्षक जिस ढंग से पाठ करता है, उसमें भी संकेत का उपयोग करेगा। वह अपने पाठ द्वारा, श्रोताओं को लेखक की भावनओं की ओर संकेत करने की पूरी चेष्टा करेगा। वह सुनने वालों की भावनाओं को जागृति करने के लिये नाटकीय आकर्षण का भी उपयोग करेगा। उसका अपने विषय पर जोर देना, उसका उत्साह तथा उसका पूरे झुकाव सभी के द्वारा उसकी कक्षा को संकेत प्राप्त होगा। इन संकेतों के फलस्वरूप उसके शिष्यों द्वारा अनुकरण उत्पन्न होगा, और इस प्रकार वह उन्हें वास्तविक सुगुणाङ्कन की शिक्षा दे देगा। इसका स्तर और भी ऊंचा किया जा सकता है जब वह विषय सम्बन्धी अपने सुगुणाङ्कन के कारणों की व्यवस्था की स्थिति पर पहुँचेगा और उस पर अपनी कक्षा से वाद-विवाद करेगा।

सुगुणांकन पाठ, खेल के भाव का पाठ होना चाहिये। यही कारण है कि इस प्रकार के पाठों का नियमनिष्ठ पदों में विभाजित करना दूसरे प्रकार के पाठों की अपेक्षा कम सम्भव है। परन्तु तीन लगभग निश्चित उपक्रम अर्थात् तैयारी, प्रस्तुति तथा अभ्यास ऐसे हैं, जिनमें हम अन्तर कर सकते हैं। इनमें हम लक्ष्य के वर्णन को भी जोड़ सकते हैं।

तैयारी—सुगुणांकन पाठ पर विचार करते समय शिक्षक को तीन तथ्य ध्यान में रखने चाहियें।

१—शिक्षक जिसका सुगुणांकन अपने शिष्यों द्वारा कराने का प्रयत्न कर रहा है, उसे स्वयं उसका सुगुणांकन स्वयं करना चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो उसे इस कार्य को छोड़ देना चाहिये।

२—उसे अपने पाठ के लिये वातावरण उत्पन्न करने का अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात्, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, उसे संकेत की शक्ति का यथा सम्भव प्रयोग करना चाहिये। कमरे में वातावरण उत्पन्न करने के लिये चित्रों का उपयोग किया जा सकता है। बाहरी वस्तुओं को यथा-सम्भव नियंत्रित रखना चाहिये, जिससे कि पाठ चलते समय किसी प्रकार का विघ्न न पड़ सके।

३—शिक्षक को अपने शिष्यों की सम्भावनाओं का थोड़ा बहुत अन्तर्ज्ञान होना चाहिये जिससे कि उसको उनके सम्भावित सुगुणांकन का पता रहे। इस पाठ में भी, दूसरे पाठों की भांति, हमें जीवन से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये।

हमारे शिष्य सुगुणांकन के जिस भी उपक्रम में हों, चाहे वह कितना ही प्रारम्भिक तथा रुक्ष क्यों न हों, इस कार्य को वहीं से आरम्भ करना चाहिये। शिक्षक को सभी रुचियों को ऊँचा उठाने की चेष्टा में सभी रुचियों के लिये उपयोगी सामग्री की व्यवस्था करनी चाहिये।

सुगुणांकन पाठ की तैयारी के लिये आवश्यक है कि शब्दों, कथा-संकेतों, वाक्यालङ्कारों के अर्थबोध की सम्भावित कठिनाइयों का यथा-सम्भव पिछले पाठों ही में निवारण कर लिया जाये। ऐसे तथ्यों की व्याख्या तथा सुगुणांकन का एक ही पाठ के भीतर सम्मिश्रण कर देना घातक होता है। इसी प्रकार सुगुणाकन की शिक्षा देने का प्रयत्न ऐसे समय में करना भी जब शिष्य विषय-सामग्री के अधिकांश भाग का अर्थ नहीं समझते, उतना ही घातक होता है। यथार्थ सुगुणांकन पाठ की तैय्यारी में समय लग सकता है परन्तु सम्पूर्ण तैयारी सदा लाभप्रद होती है।

प्रस्तुति—शिक्षक का अपनी समस्त शक्ति का उपयोग कर यह कार्य कला-पूर्ण ढंग से करना चाहिये। पाठ चाहे गद्य का हो अथवा पद्य का, शिक्षक को चाहिये कि स्वयं अपने को लेखक के स्थान पर रखने की चेष्टा करे। उसे लेखक के विचार तथा भाव को पूर्णतया व्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रस्तुति में किसी प्रकार के अवरोध या अड़ंगे नहीं आने चाहियें। वह पद्य कविता अथवा गद्यांश को एक सम्पूर्ण इकाई होना चाहिये और इसी प्रकार प्रस्तुति करना चाहिये।

गद्यांश, कविता, चित्र, संगीत अथवा कोई अन्य गुणाङ्कनीय वस्तु की वास्तविक प्रस्तुति होने के पश्चात् जो अगला पद आता है, उसे हम पथ प्रदर्शन कह सकते हैं। इसको एक पृथक पद समझा जा सकता है, परन्तु वास्तव में वह प्रस्तुति ही का एक भाग है। यदि कक्षा का वातावरण उत्तम है तो शिक्षक द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर शिष्य टिप्पणी अथवा वाद-विवाद करने को तत्पर होंगे। शिक्षक इस अवसर का उपयोग कर यह व्याख्या करेगा कि वह स्वय विचाराधीन सामग्री का क्यों सुगुणांकन करता है। वह शिष्यों से स्वयं उनकी प्रतिक्रियाओं पर वाद-विवाद कर सकता है। वह शिष्यों द्वारा अपनी प्राथमिकता, पसन्द, नापसन्द को अभिव्यक्त करवा सकता है इस प्रकार वह उन्हें उत्तमतर बोध तथा अधिक विवेकी सुगुणांकन की ओर पथ प्रदर्शित कर सकता है। पाठ के इस खण्ड में शिष्यों को यह बतलाने का अवसर मिलेगा कि सामग्री का कौन सा विशेष भाग उन्हें सबसे अधिक आकर्षक प्रतीत हुआ।

यदि संगीत अथवा साहित्य हो तो आकर्षक अवतरण फिर से दुहराये जा सकते हैं। उस सामग्री की तुलना दूसरी सामग्री से, की जा सकती है, जिस पर इसके पूर्व विचार तथा अध्ययन किया जा चुका है।

इस ढंग के वाद-विवाद में शिक्षक वस्तुओं के लादने का प्रयोग करने से सावधान रहना चाहिये। यदि कतिपय शिष्य अपने विचार अभिव्यक्त करने में अविश्वास अनुभव कर रहे हों, तो उन्हें अपना मत प्रकट करने अथवा अपनी प्राथमिकता इंगित करने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिये। ऐसा करना धीरे-धीरे सीखेंगे, विशेषकर जबकि शिक्षक उनसे सहानुभूति रखता है। शिक्षक को, सबसे बढ़कर, अपने शिष्यों को सत्यहृदय बनने में यथाशक्ति सहायता देनी चाहिये। उसे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिसके फलस्वरूप उन्हें यह कहने की प्रशिक्षा मिले कि वह वस्तुओं को पसन्द या नापसन्द केवल इसलिये करते हैं कि शिक्षक उनसे इसी कथन की आशा करता है या समझता है कि उन्हें इस सम्बन्ध में इसी प्रकार की भावना रखनी चाहिये। ऐसे थोथे सुगुणांकन की अपेक्षा, जिसमें वास्तविक भावना उत्पन्न न हो, बिना खटके यह कह देना कि उन्हें प्रस्तुत वस्तु में कोई विशेष गुण प्रतीत नहीं हुआ कहीं अधिक उत्तम है। बलात् सुगुणांकन सबसे अधिक हानिकारक होता है क्योंकि वह शिष्यों को असत्य हृदयता की प्रशिक्षा देता है।

"आनन्द आन्तरिक है और शिक्षक की आज्ञा के पालन स्वरूप ही उत्पन्न नहीं हो सकता। यह आवश्यक है कि शिष्यों के मनोभाव की 'अनुभूति' की जाये तथा कृत्रिम विधियों द्वारा किसी अस्तित्व रहित आनन्द के सम्बन्ध में मत प्रकट कराने की चेष्टा न की जाये। सौंदर्य-सम्बंधी वाद-विवाद शीघ्र ही थकनकारक बन जाता है तथा सुगुणांकन पाठ के लक्ष्य को नष्ट कर देता है। इसके अतिरिक्त कुछ शिष्य सबके सामने अपना मत प्रगट करने में लग जाते हैं। परन्तु यदि कोई शिष्य अपना मत प्रकट नहीं करता, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई सुगुणांकन ही नहीं हुआ। सुगुणांकन एक कोमल पौधे के समान है। इसके लिये बल के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है; वरन् सावधानी तथा सहानुभूति के साथ उसका विकास करना चाहिये।"[1]

बड़े शिष्यों में जब संवेगात्मक तथा सौंदर्य सम्बंधी पथ-प्रदर्शन का कार्य समाप्त हो जाये तो शिक्षक अपने कार्य के बौद्धिक अंग को ले सकता है। वह

१—ए० पिनसेन्ट—दि प्रिन्सपुल्ज़ ऑव टीचिंग मेथड्स—पृ० ३४६ (हैरप)

अपनी कक्षा से लेखक, संगीतकार अथवा कलाकार की शैली पर (उदाहरणतः) यह बतलाते हुये वाद-विवाद कर सकता है कि किस प्रकार कुछ शब्दों और वाक्यालकारों का प्रयोग कर उसने अपना इच्छित प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। यदि आवश्यकता हो तो शब्दार्थ और कथा-संकेत फिर लिये जा सकते हैं। इस ढंग का कार्य दूसरे उपक्रम अर्थात अभ्यास की तैयारी होगा।

छोटे शिष्यों में (और बड़ों में भी) जब पथ प्रदर्शन का कार्य समाप्त हो जाये तो शिक्षक (साहित्य तथा संगीत में) एक बार और प्रतिपादन कर सकता है। इसके पश्चात् शिष्यों द्वारा विचाराधीन अवतरणों का सुगुणसूचक प्रतिपादन करवाने की चेष्टा की जा सकती है।

अभ्यास—शिष्य उत्तम कविता, अथवा गद्य या चित्रों का सुगुणांकन करना स्वयं अपनी, लिखने, रेखांकन करने या रंगने की चेष्टाओं के द्वारा सीखते हैं। निपुणता प्राप्त करने की चेष्टा सुगुणांकन शक्ति को उच्चतर तथा तीव्रतर बनाने की अचूक विधि है। किसी विषय की विधिकला का जितना अधिक ज्ञान हमें होगा, उतना ही अधिक हम दूसरों की रचनाओं का सुगुणांकन कर सकेंगे। छोटे शिशुओं में तो यह कार्य सीमित रूप से ही, परन्तु कुछ न कुछ सदैव ही किया जा सकता है। अभ्यास किस सीमा तक हो सकता है, यह व्यक्ति की योग्यता पर भी निर्भर करेगा। कुछ की योग्यता एक दिशा में होगी, कुछ की दूसरी में फिर भी जहाँ कहीं सम्भव हो, शिक्षक को चाहिये कि अपने शिष्यों को अपनी सृजनात्मक योग्यताओं का प्रयोग करने, विशेषकर स्वयं अपने लिये लिखने, चित्र बनाने, रंग भरने, गीत गाने तथा अभिनय करने के लिये प्रोत्साहित करे। उसे शिशु की स्वयं अपने लिये कार्य करने की इच्छा की पूर्ति के लिये चेष्टा करनी चाहिये। शिशु की चेष्टायें, चाहे कितनी ही थोड़ी क्यों न हों, उनका शिक्षात्मक मूल्य अत्यधिक होगा, और उनसे उत्तम सुगुणांकन शक्ति के विकास में वास्तविक सहायता मिलेगी। शिष्यों द्वारा इन प्रयत्नों के पश्चात् ही निर्देश तथा पथप्रदर्शन होना चाहिये। जब शिष्य किसी दिशा में निपुणता का विकास करते हैं, सृजनात्मक कार्य में अधिकाधिक अभ्यास कराया जा सकता है।

पुनरुक्ति

समस्त कार्यों में पुनरुक्ति अथवा दुहराना परमावश्यक है। कभी-कभी पुनरुक्ति और दुहराने में भेद भी किया जाता है। पुनरुक्ति का अर्थ है जो कार्य किया जा चुका है उसे फिर से करना जिसके फलस्वरूप पूर्णतया बोध हो जाने

में कोई सन्देह न रहे। दूसरी ओर दुहराना केवल स्मरण-कार्य तक सीमित है। परन्तु उद्देश्य तथा प्रक्रिया दोनों की एक ही है। विभिन्न प्रकार की विषय-सामग्री के लिये विभिन्न व्यवहार की आवश्यकता है।

पुनरुक्ति का तीन भिन्न उपक्रमों में उपयोग होगा। कभी-कभी पुनरुक्ति पाठ में प्रत्येक उपक्रम के अन्त पर आवश्यक होती है। पुनरुक्ति पाठ के अन्त पर सदैव होनी चाहिये। यह किसी पाठमाला की इकाई के अन्त पर भी होनी चाहिये। पाठ्य-व्यूह निर्धारित करते समय बार-बार पुनरुक्ति पाठों के लिये समय अवश्य देना चाहिये।

पुनरुक्ति जब कभी भी होती है, उसके तीन मूलोद्देश्य होते हैं—

१. शिक्षक को स्वयं सन्तोष करने के योग्य बनाना कि जो कुछ किया गया है भली-भांति समझ में आ गया है।

२. जो कुछ हो चुका है उसका सारांश बताना और उसके मुख्य तथ्यों को एक बार फिर शिष्यों के ध्यान में लाना, अर्थात् वह स्मरण शक्ति की सहायक है। यहाँ पुनरुक्ति पुष्टीकरण तथा आगे बढ़ने की तैयारी का एक रूप है। जिन विषयों में अधिक स्मरण-कार्य करना पड़ता है, जैसे अंग्रेजी सीखने के प्रारम्भिक उपक्रमों में, वहाँ इस प्रकार की पुनरुक्ति अधिक मात्रा में होनी चाहिये।

३. शिष्यों को यह समझने के योग्य बना देना कि सर्वोपरि रूप से क्या हुआ है, और उस प्रकार उन्हें यह बोध करा देना कि उस सम्पूर्ण में विभिन्न तथ्य तथा विस्तार अपने-अपने स्थान पर कैसे ठीक बैठ जाते हैं। उदाहरणतः किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित इतिहास-पाठों के कोर्स में, पुनरुक्ति द्वारा ही शिष्य इस योग्य हो जाते हैं कि उस व्यक्ति के सिद्धान्तों को समझें जिनके द्वारा उसके जीवन तथा समाज की नीतियों का पथ-प्रदर्शन होता था, तथा यह भी समझें कि अपने काल तथा समाज पर उसके जीवन का क्या प्रभाव पड़ा था। ऐसा करना पाठ चलते समय सम्भव नहीं है। इस प्रकार पुनरुक्ति शिष्यों को बहुधा त्रुटिपूर्ण विचारों को शुद्ध करने और अपने पूर्व-प्राप्त ज्ञान की रिक्तियों की पूर्ति के योग्य बना देगी। वह अपने प्राप्त ज्ञान के महत्त्व-पूर्ण तत्वों को ग्रहण करने के योग्य भी हो जाते हैं। वह वृक्षों के बीच भ्रमण कर चुके और अब वह सम्पूर्ण बन का दृश्य देख सकते हैं।

पुनरुक्ति में प्रयुक्त पद्धतियाँ, सम्बन्धित मूलोद्देश्य के अनुसार असमान

होंगी। जब शिक्षक पता लगाना चाहता है कि कितना ज्ञान-परिचय ग्रहण हुआ, उदाहरणतः गणित के नियमों के सम्बन्ध में, तो उसकी पुनरुक्ति का अर्थ मुख्यतः अभ्यास होगा, जिसके पूर्व संक्षिप्त प्रस्तुति होगी और यदि आवश्यक हुआ तो उसके पश्चात् पुनः प्रस्तुति होगी। जिस कार्य की पुनरुक्ति करनी है, उसे पूरा करने के लिये प्रश्नोत्तर का उपयोग हो सकता है और उसके पश्चात् आवश्यक हो तो पुनरुक्तिपूर्ण निर्देशन भी किया जा सकता है। शिष्यों से स्वयं सारांश कहलवाया जा सकता है। नकशे मानचित्र, रेखाचित्र, चार्ट और नमूने भी बनाये जा सकते हैं। छोटे बच्चों में जहाँ कहीं सम्भव हो, और बड़े बच्चों में लगभग सदैव ही, यह कार्य शिक्षक द्वारा संक्षिप्त व्याख्या अथवा निर्देशन के पश्चात् स्वयं शिशुओं को करना चाहिये। कभी-कभी शिक्षक ऐसे कार्य स्वयं करेगा जिससे कि शिष्य उसका अनुकरण कर सकें। जैसे-जैसे हम पाठशाला में ऊँचे बढ़ते जाते हैं शिक्षक द्वारा किये कार्य की मात्रा घटती और शिष्यों द्वारा कार्य की मात्रा बढ़ती जायेगी। साहित्य में नाट्य-प्रयोग पुनरुक्ति का अति-उत्तम विधि है।

जहाँ तीसरा उद्देश्य शिक्षक के समक्ष रहे, वहाँ पाठ ज्ञान-परिचायक होगा। अपनी प्रस्तुति के द्वारा वह अपने शिष्यों को सम्पूर्ण वस्तु का बोध करने तथा उसके विस्तार के ठीक बैठने का कारण समझने में सहायता देने का उद्देश्य पूरा करेगा।

हम विभिन्न प्रकार के पाठों में विभिन्न उपक्रमों के सम्बन्ध में जो कुछ विचार कर रहे थे, उसका साराश निकालने के लिये मैं टी० रेमेन्ट की पुस्तक **'दि प्रिन्सिपुल्ज़ ऑव एजुकेशन'** से कुछ मूल्यवान विचार उद्धरित करूँगा --

'नवयुवक शिक्षक को इसी सम्बन्ध में जितनी भी चेतावनी दी जाये कम है, कि उसका महान् कार्य यह है कि शिक्षण प्रक्रिया के नियमनिष्ठ पदों के 'शब्दाडम्बर' का दास न बने वरन् उनके 'भाव' ग्रहण कर ले परन्तु इसका पूरा अर्थ क्या है ? इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि शिक्षण के किसी विशेष खण्ड अथवा इकाई को लेते समय सभी पदों का अवश्य रूप से प्रयोग न हो, तथापि जिस क्रम से यह पद उत्पन्न होते हैं उसमें हानि उठाये बिना परिवर्तन नहीं किया जा सकता। ज्ञान अथवा निपुणता की प्राप्ति पुराने द्वारा नये के ग्रहण कर लेने की प्रक्रिया है। इसी कारण शिष्यों के पूर्व-प्राप्त विचार-भण्डार के सुसंगत अंश को प्रथम समक्ष लाना और यथार्थ तथा विशेष से

अमूत तथा सामान्य की ओर अग्रसर होना चाहिये। और विचार को पहले धारण करना चाहिये, तद-पश्चात् उनका प्रयोग किया जा सकता है। और प्रयोग स्वयं अपने स्थान पर प्रभावशाली तथा स्थायी धारणा का आधार बन जाता है। यह सत्य उतने ही निश्चित हैं जितना कि आकर्षण शक्ति का सिद्धान्त निश्चित है क्योंकि इनमें शिशु के मानस की कार्य-पद्धति के सरल तथ्य निहित हैं।.....फिर भी किसी दूसरी कला के नियमों की भांति शिक्षण कला के नियम भी प्रत्यक्ष रूप से सदैव लागू नहीं किये जायेंगे। जब शिक्षण उनके भाव को पूर्णतया ग्रहण कर ले तो, उसे तैयारी, प्रस्तुति आदि-आदि के थोड़े बहुत नियमनिष्ट प्रदर्शन सहित निर्वर्तन करने को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाये। परन्तु यद्यपि पदों की प्रत्यक्ष रूप में व्याख्या न भी की जाये (चाहे उन पर विचार भी न किया गया हो) तथापि वह उसकी सर्वोत्तम चेष्टाओं में अप्रत्यक्ष रूप से सदैव निहित रहेंगे। और उसमें इतनी बुद्धि होगी कि वह इन पदों का केवल इसी कारण तिरस्कार नहीं करेगा कि उसने उनकी सहायता की विवेक-पूर्ण आवश्यकता के बिना ही अपनी कला का प्रयोग करना सीख लिया है।

पद्धति के मूलसूत्र

१. ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ो—यह केवल इस कथन का दूसरा ढंग है कि हमें पाठशाला में अपने कार्य को अपने शिष्यों के जीवन तथा अनुभव से समबद्ध करना चाहिये। हमें यह विचार नहीं करना चाहिये कि हम अपने पाठ इस प्रकार दे सकते हैं मानो कि हम शून्य में हों। हमें किसी ऐसी वस्तु से आरम्भ करना चाहिये जिसे शिशु जानता हो। यह ज्ञान चाहे अनिश्चित ही क्यों न हो, परन्तु जैसे-जैसे पाठ आगे बढ़ता जायेगा, यह और भी स्पष्ट तथा निश्चित होता जायेगा। नया ज्ञान फैलता है और पुराने के स्थान की पूर्ति कर उसे बाहर कर देता है। परन्तु रुचि और ज्ञान के गठन के दृष्टिकोण से हमारी प्रारम्भ बिन्दु कोई ज्ञात वस्तु ही को होना चाहिये। यह मूलसूत्र उसी का परिचायक है जिसकी हम प्रत्येक पाठ में चेष्टा करते हैं। अर्थात् पुराने और नये की कड़ी जोड़ना है। उदाहरणतः रामचन्द्र जी सम्बन्धी इतिहास पाठ रामलीला से आरम्भ होगा, और व्यापारिक वस्तुओं पर भूगोल पाठ, शिशुओं के भोजन-वस्त्र की वस्तुओं से। हमें अपनी विषय-सामग्री तथा अपने पाठों की इस प्रकार व्यवस्था करनी चाहिये कि प्रत्येक भाग, उचित

रूप में, पिछले भाग से सम्बद्ध हो जाये। यह मूलसूत्र केवल इसी अर्थ में मूल्यवान है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि समस्त शिक्षण इसी स्वरूप का होना चाहिये। जैसा कि हम देख चुके हैं पाठों में श्रेणी तथा लक्ष्य की भिन्नता होती है। परन्तु यह हमारा इस सम्बन्ध में पथप्रदर्शन करता है कि किसी पाठ अथवा पाठमाला में कैसे आरम्भ किया जाये।

२. यथार्थ से अमूर्त की ओर बढ़ो—यह एक सामान्य-बुद्धि तथ्य के रखने का एक ढंग है कि छोटे बच्चे सर्वप्रथम ऐसी चीजों से सीखते हैं, जिन्हें वह पकड़ तथा देख सकते हैं। वह अमूर्त रूपों का विचार नहीं करते, वरन् वास्तविक रूप से चिन्तन करते हैं। छोटे शिशु को प्रारम्भ में कुत्ते के सम्बन्ध में सामान्य प्रत्यय भी नहीं होता। वह किसी विशेष सजीव कुत्ते से परिचित है और जैसे-जैसे उसका सजीव तथा विशेष कुत्तों के सम्पर्क में बढ़ता जाता है उतना ही अधिक उसका कुत्तों के सम्बन्ध में ज्ञान भी बढ़ता है, यहाँ तक कि वह 'कुत्ते' के सम्बन्ध में एक सामान्य धारणा निकालने के योग्य हो जाता है, हम यह भी कह सकते हैं कि कुत्ते के विषय में उसका एक अमूर्त प्रत्यय बन जाता है। इस मूलसूत्र का अर्थ यह है कि विशेष उदाहरणों तथा वृत्तान्त को सामान्य नियमों के युक्तिकरण से पहले आना चाहिये। यह विशेष कर उस श्रेणी के पाठ पर लागू होता है, जिसे हम उपमानिक पाठ कहते हैं, जिस पर हम आगे चल कर विचार करेंगे। फिर भी हमें याद रखना चाहिये कि इस मूलसूत्र का अन्तिम शब्द 'बढ़ो' है। हमें अपने शिष्यों को यह अवसर न देना चाहिये कि वह यथार्थ ही में लीन रहें और अमूर्त की ओर कभी न बढ़ें। लघु शिशु अंकगणित में अपनी प्राथमिक चेष्टाओं में यथार्थ ही का उपयोग करता है, परन्तु जितना शीघ्र वह निवृत्त हो सकें, उन्हें आगे बढ़ जानें देना चाहिये। फिर यह मूलसूत्र कार्य के एक ही अंग, अर्थात् पाठ के एक ही पद से सम्बन्धित है। शिशु अनेकों उदाहरणों द्वारा एक सामान्य सिद्धान्त प्राप्त करता है, परन्तु फिर वह उस सामान्य सिद्धान्त का प्रयोग द्वारा परीक्षण करता है। अर्थात् यह मूलसूत्र सम्पूर्ण प्रक्रिया के केवल एक ही पद पर लागू होता है।

३—विशेष से सामान्य की ओर बढ़ो—यह उसी धारणा के व्यक्त करने का दूसरा ढंग है, जिसका हम ऊपर यथार्थ से अमूर्त की ओर बढ़ाने के रूप में अध्ययन कर चुके हैं। विशेष उदाहरण यथार्थ होते हैं। सामान्य सिद्धान्त अमूर्त होते हैं। यह केवल क्रमिक वृद्धि तथा तर्क की उपमानिक पद्धित है।

४—सहज से कठिन की ओर बढ़ो—यह भी एक सामान्य बुद्धि की बात है। हमारे कार्य तथा पाठों को शिष्यों के स्तर के अनुसार क्रमिक होना चाहिये। स्वाभाविक है कि हम अपने शिष्यों को कार्य पूरा करते देख कर अपने कार्य की जटिलता को क्रमिक ढंग से बढ़ाते जायेंगे।

साथ ही साथ इस मूलसूत्र का मनोवैज्ञानिक स्थिति के सम्बन्ध में भी उपयोग करना होता है। कभी-कभी सहज ही वस्तु वही नहीं होती जो तर्कात्मक दृष्टिकोण के अनुसार सहज प्रतीत होती है। हमारा विचार हो सकता है कि समान शब्दों—जैसे बिल्ली, दिल्ली, खिल्ली, का याद रखना सहज है। परन्तु हम देखते हैं कि शिशुओं को ऐसे शब्द स्मरण रखना अधिक सहज लगता है जो इस एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न होते हैं। इसी प्रकार पढ़ना आरम्भ करने का सबसे उत्तम ढंग अक्षरों या शब्दों से आरम्भ करना नहीं है यद्यपि तर्कात्मक दृष्टिकोण से यही सहज विधि प्रतीत हो सकती है। सबसे उत्तम विधि वाक्यों से आरम्भ करना है। इस प्रकार यह निर्धारित करने में कि सहज क्या है, हमें शिशु की मानसिक बनावट पर ध्यान देना पड़ता है और यह सम्भव नहीं है कि तर्कात्मक तथ्यों के अतिरिक्त सभी वास्तविकताओं के प्रति आंखें मूंद लें। जो बात तर्कात्मक रूप से हमें सहज प्रतीत होती है, हो सकता है कि वास्तविक रूप से शिशु के लिये सहज न हो। हमें तर्कात्मक पद्धति की अपेक्षा सदैव मनोवैज्ञानिक विधि का उपयोग करना चाहिये।

हमें शिशु की रुचि को भी ध्यान में रखना होता है। यदि हम किसी शिशु को रेखांकन वहां से आरम्भ करायें जिन्हें निस्संदेह 'सहज' रेखा तथा वक्र समझा जाता है तो संभव है कि उसे रेखांकन कला में कोई रुचि शेष न रहे। वह स्वयं एक पशु का चित्र बनाना चाहता है। यह कठिन अवश्य है, परन्तु रोचक है। इसलिये, यदि हम उससे तर्कात्मक विधि से कार्य करवाने का प्रयत्न करते तो वह जितनी उन्नति करता, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उन्नति करेगा।

५—सरल से पेंचीले की ओर बढ़ो—यह केवल तभी सत्य होता है जब हम याद रखें कि 'सरल' से हमारा अर्थ शिशु के दृष्टिकोण से 'सरल' है। शिशु को किसी यथार्थ वस्तु का अनुभव होता है। वह इस वस्तु-सम्बन्धी अपनी धारणा का विश्लेषण नहीं करता। उसके लिये वह एक सरल वस्तु है। जिस समय वह उपमान की प्रक्रिया और तद-पश्चात् अनुमान के द्वारा उसके सम्बन्ध में अधिक

शिक्षा प्राप्त कर लेता है तो उसे पता चलता है कि वस्तु अधिक पेंचीली है। इसी प्रकार वह आगे बढ़ता है। गेंद शिशु के लिये केवल गेंद है। आगे चल कर वह सीखता है कि उसके गुण क्या हैं, और वह जिस ढंग से कार्य करती है, उसका कारण क्या है। पढ़ना सीखते समय शिशु वाक्य से आरम्भ करता है और आगे चलकर शब्दों और अक्षरों पर आता है। वाक्य उसके लिये सरल होता है। इस मूलसूत्र का जो अर्थ हम सहज से कठिन की ओर अग्रसर होने के सम्बन्ध में बता चुके हैं, उसके अतिरिक्त दूसरा अर्थ केवल यही हो सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह मूलसूत्र बहुधा उसी प्रकार भ्रामक होता है जितना कि पिछला मूलमन्त्र है।

"शिशु का वस्तु-सम्बन्धी प्रबोधन 'सरल' होता है क्योंकि वह विश्लेषण द्वारा उसके पेंचीलेपन की खोज नहीं कर पाया है। जिस समय उसे किसी 'यथार्थ' वस्तु में बहुत से अमूर्त तत्व प्राप्त हो जाते हैं और वह इन अमूर्त तत्वों को जोड़ कर फिर से 'यथार्थ' का निर्माण कर लेता है तो उसकी धारणा पेंचीली बन जाती है। (जैसा कि हम गेंद के उदाहरण में देख चुके हैं।) परन्तु वस्तु तो सारे समय एक ही थी। इसलिये कोई आश्चर्य न होना चाहिये यदि विषय-सामग्री की व्यवस्था करने में इस मूलसूत्र के प्रयोग के द्वारा भयंकरतम शिक्षण-पद्धत्तियों का निर्माण हुआ। उदाहरणतः विदेशी भाषा का आरम्भ व्याकरण के विस्तृत तथा नियमित अध्ययन से होता है और प्रत्येक बिन्दु पर प्रचुर अभ्यास किया जाता है, पढ़ने की शिक्षा देने में 'वर्णमाला' पद्धति का प्रयोग होता है। रेखांकन कला की शिक्षा में पहले सरल रेखाओं का विपुल तथा लम्बे समय तक अभ्यास होता है और तदपश्चात् सरल रेखाओं का मिलान इत्यादि से होते-होते अधिक पेंचीले आकार अंकित करवाये जाते हैं और इसका आधार यह होता है कि रेखा 'सरल आकार-तत्व' है। यह इस अभिप्राय में तो अवश्य सत्य है कि आकार के विश्लेषण द्वारा यही परिणाम प्राप्त होता है। परन्तु, चूँकि **शिशु स्वभावतः यह विश्लेषण नहीं करता**, और उसका परिणाम इस अर्थ में उसके लिये 'सरलतम' नहीं है कि वह अत्यन्त सरलता से उसकी समझ में आ जायें।"[१]

---

१. जे० वेल्टन, प्रिन्सिपुल्ज़ ऐन्ड मेथडज़ ऑव् टीचिन्ग—पृ० ६४-५ (यू० टी० प्रेस)

यह मूलसूत्र नियमनिष्ठ पदों की भांति, इसलिये होते हैं कि हमारे सेवक बनें, स्वामी न बन जायें। उनका प्रत्येक अवसर पर प्रत्येक पाठ में किंकरता-पूर्वक पालन नहीं करना है। वह केवल हमारे पथप्रदर्शक हैं जो हमें बहुधा सहायता देंगे। उनका पालन मुख्यतः उस समय होगा जब पाठ ऐसा हो कि उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना है अर्थात पाठ ज्ञान परिचायक हो। परन्तु, उस समय भी हमें अपनी निर्णय-शक्ति का उपयोग करना चाहिये। हमारे पथप्रदर्शक वही सामान्य सिद्धान्त हैं, जिन्हें इस अध्याय के आरम्भ में निर्धारित किया जा चुका है। यदि हम देखते हैं कि इन मूलसूत्रों का पालन करने के फलस्वरूप उन सिद्धान्तों, अथवा उनमें से किसी एक सिद्धान्त का कार्यान्वित करने में सहायता मिलेगी, तो हम उनका उपयोग कर सकते हैं अथवा नहीं।

वास्तव में, इन मूलसूत्रों तथा नियमनिष्ठ पदों के प्रयोग में हमें एक तथ्य, अर्थात शिशु के स्वभाव तथा मानस, के द्वारा ही पथ प्रदर्शित होना चाहिये। हमें शिक्षण इस प्रकार करना चाहिए कि हम शिशु के **संग-संग** कार्य करें, और स्वयं अपनी चिन्तन पद्धति के अनुसार न चलें। हमें यह पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये कि विभिन्न तथ्य, शिशु को किस प्रकार आकर्षित करते हैं, और इसी के अनुसार पद्धति का प्रयोग करना चाहिये। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रारम्भ में वक्र तथा सरल रेखाएं खींचने की शिक्षा प्राप्त करने की अपेक्षा सम्पूर्ण पशु का चित्र बनाने की चेष्टा से आरम्भ करना शिशु स्वभाव के लिये अधिक लाभदायक होता है। इसलिये हम ऐसी स्थिति में अपने मूलसूत्र को त्याग देने में संकोच नहीं करते। हमें कार्य को शिशु के दृष्टिकोण से देखना है और समझना है कि वह इसे कैसे ग्रहण करता है। हमें इस विषय पर स्वयं अपनी तर्कात्मक धारणाएं भूल जानी हैं।

६—तर्कात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक—हमारे लिये मनोवैज्ञानिक तथा तर्कात्मक दृष्टिकोण का अन्तर समझ लेना अत्यन्त लाभ पूर्ण होगा। तर्कात्मक दृष्टिकोण को विषय-सामग्री तथा उसकी तर्कात्मक क्रम और पदों में व्यवस्था की अधिक चिन्ता रहती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को शिशु और उसकी प्रति-क्रियाओं, रुचियों तथा उस विषय के प्रति उसकी दृष्टि की अधिक चिन्ता रहती है। हम देख सकते हैं कि इस प्रकार दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर होता है।

पद्धति के मूलसूत्रों पर विचार करते समय हम देख चुके हैं तर्कात्मक पद्धति को मनोवैज्ञानिक पद्धति के पक्ष में स्वीकार कर देना होता है। जब हम किसी

विषय को तर्कात्मक ढंग से लेते हैं तो साधारणतः हमारा चिन्तन शिशु के दृष्टिकोण की अपेक्षा स्वयं अपने दृष्टिकोण पर आधारित रहता है। इस सम्बन्ध में हम अपना ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और अब हम उसके विभिन्न भागों तथा खण्डों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में भेद करने के योग्य हो गये हैं और उसे मूलतत्वों में विभाजित कर सकते हैं। इसलिये हमारा विचार होता है कि स्वाभाविक रूप से हमें इन्हीं मूलतत्वों से प्रारम्भ करना चाहिये। हम यह भूल जाते हैं कि स्वयं हम एक दीर्घ प्रक्रिया के पश्चात् ही उन तक पहुँच पाये हैं। यदि इस समस्या को शिशु के दृष्टिकोण से लें तो हम ऐसे अनुभवों से प्रारम्भ करेंगे जो तर्कात्मक रूप से पृथक मूलतत्व नहीं वरन सम्पूर्णताएं और पेंचीले तथा अनेकों सम्बद्ध भागों का योग होंगे। इस प्रकार शिशु की इकाई वाक्य होगी, शब्द अथवा अक्षर नहीं जो कि प्रौढ़ के लिये होती है। इसी कारण हम शिशु के लिये सम्पूर्ण वाक्य शिक्षा से प्रारम्भ करते हैं। यही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। पशु, हमारे पुराने उदाहरण के अनुसार, सम्पूर्णता, अर्थात् शिशु द्वारा प्राप्त अनुभव है, इसी कारण वह सम्पूर्ण पशु का चित्र बनाने से प्रारम्भ करता है। यही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

हम तर्कात्मक कार्य विधि का प्रयोग अपना दृष्टिकोण निर्धारित करते समय नहीं करते वरन् पाठ के मध्य में करते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, ज्ञान परिचय प्रस्तुत करते समय, उसको स्पष्ट रूप से व्यवस्थित होना चाहिये और प्रत्येक तथ्य का अपने पूर्व तथ्य द्वारा तर्कात्मक रूप में उत्पन्न होना आवश्यक है। इस प्रकार कहानी सुनाने में, हमारी कहानी को स्पष्ट तथा तर्कात्मक ढंग से चलना चाहिये। परन्तु तर्कशास्त्र हमें यह खोजने में सहायता नहीं देगा कि कौन सी कहानी सुनाई जाये। हमारा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इसका उत्तर हमें उपलब्ध करता है। इस प्रकार तर्कशास्त्र का हमारे पाठों के भीतर प्रस्तुति के सम्बन्ध में सदैव स्थान रहेगा। हमें अपनी प्रस्तुति को उल्झाव-पूर्ण न रहने देना चाहिये। परन्तु हम क्या प्रस्तुत करने जा रहे हैं और हमारा चढ़ाव बिन्दु क्या होगा, इसका निर्धारण मनोविज्ञान के द्वारा होगा, तर्क-शास्त्र द्वारा नहीं।

७—उपमान तथा अनुमान—प्रस्तुति की तर्कात्मक पद्धति के फलस्वरूप ज्ञानपरिचायक श्रेणी के दो विशेष प्रकार के पाठ उत्पन्न होते हैं, जिनसे ज्ञान प्राप्त होता है। पहले को उपमानिक पाठ कहते हैं। उपमानिक पाठ में शिष्य

अवलोकन करता है अथवा उसका ध्यान अनेकों विशिष्ट उदाहरणों की ओर आकृष्ट होता है और तब वह उन्हीं विशिष्ट उदाहरणों के आधार पर एक सामान्य सिद्धान्त का निर्माण कर लेता है। हम यह तथ्य पहले भी सामान्यीकरण पर विचार करते समय देख चुके हैं। (यह पद साधारणतः उपमान शास्त्र के अन्तर्गत एक अभ्यास होता है।) इस प्रकार जब पढ़ते समय कोई शिशु यह देखता है कि अमुक क्रिया शब्द के पूर्व अव्यय शब्द 'ने' प्रयुक्त हुआ है, और वह यही बात कई उदाहरणों में देखता है तो इससे वह अपने लिये एक नियम निर्धारित कर लेता है कि इस क्रिया शब्द के पहले 'ने' सदैव आयेगा। शिशु देखता है कि लकड़ी का टुकड़ा पानी में रख देने पर तैरता रहता है। वह देखता है कि उसका रखा हुआ दूसरा टुकड़ा भी तैरता रहता है आदि-आदि। तब उसे यह सामान्य नियम प्राप्त होता है कि लकड़ी तैरती है। जैसा कि हम देख सकते हैं, जब हम शिशुओं को स्वयं अपने लिये चिन्तन करने की प्रशिक्षा देना चाहते हैं तो इसके लिये सर्वोत्तम पद्धति यही प्रयुक्त हो सकती है। निस्सन्देह, उन्हें अवलोकन करने की भी प्रशिक्षा देनी चाहिये। परन्तु उपमानिक पद्धति शिशुओं को स्वयं चिन्तन करने की प्रशिक्षा देने की सर्वोत्तम पद्धति है। परन्तु उन्हें इस प्रक्रिया को स्वयं कार्यान्वित करने की आज्ञा तथा प्रोत्साहन मिलना चाहिये। यदि उनके परिणाम उनको स्वयं बता दिये जाएं अथवा उनकी ओर संकेत कर दिये जाएं तो यह पद्धति मूल्यहीन हो जायेगी।

परन्तु जब कोई सामान्य नियम निर्धारित हो जाये तो उसका परीक्षण होना चाहिये। यह प्रक्रिया अनुमान कहलाती है। जब सामान्य नियम ज्ञात हो, और विशेष उदाहरणों में उसका प्रयोग किया जाये तो हमारी तर्क शैली अनुमानिक होती है। 'समस्त मनुष्य हँसते हैं'।' 'अ' एक मनुष्य है। इसलिये 'अ' हँसता है यह अनुमानिक तर्कशैली का एक उदाहरण है। सामान्य नियम 'समस्त मनुष्य हँसते हैं।' का प्रयोग 'अ' के लिये किया गया और तब हमें यह परिणाम प्राप्त हो सकता है कि 'अ' हँसता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपमान के पश्चात् अनुमान अवश्य होना चाहिये। शिशुओं द्वारा विशिष्ट उदाहरणों से सामान्य परिणाम प्राप्त करवा लेने ही से काम नहीं चलेगा, वरन् उन्हें और आगे जाकर अपने ज्ञान में वृद्धि करने, और इन नियमों का परीक्षण करने के लिये इन नियमों का प्रयोग

भी करवाना होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह कार्य बहुधा 'प्रयोग' नामक पद के अन्तर्गत होता है। मान लो कि क्रिया शब्द के पहले 'ने' शब्द प्रयोग का जो उदाहरण हमने लिया था, शिशु हर बार क्रिया शब्द इस्तेमाल करते समय उसी नियम का प्रयोग करता है। तभी कहा जा सकता है कि शिशु इस क्रिया शब्द का प्रयोग जानता है। निस्सन्देह व्याकरण इसी को कहते हैं। यह उन नियमों का संग्रह है, जिनका असंख्य विशिष्ट उदाहरणों द्वारा निर्माण हुआ है और जो आज हमें उपयोग करने के लिये प्राप्त हैं। शिशु यह भी देख सकता है कि कभी-कभी उसके क्रिया शब्द के पहले 'ने' प्रयुक्त नहीं होता। यह उसके नियम का अपवाद है। उसने अपने नियम का प्रयोग किया परन्तु एक अपवादिक अवस्था में, वह लागू नहीं होता। अब फिर, ज्ञान में वृद्धि होती है, और उसको अब अपने सामान्य नियम ही के साथ-साथ एक अपवाद भी प्राप्त है। यदि उसको अनेकों अपवाद मिलते हैं तो सम्भवतः उसे अपने नियम में परिवर्तन करना पड़ जायेगा।

इस प्रकार हमें पाठों के दो स्पष्ट भेद मिलते हैं—एक उपमानिक क्रिया पर आधारित होता है और दूसरा अनुमानिक प्रक्रिया पर। निस्सन्देह, हम दोनों ही प्रक्रियाओं का एक ही पाठ में उपयोग कर सकते हैं। परन्तु दोनों का प्रयोग एक श्रेणी के भीतर ही किया जायेगा, और दोनों को आगे-पीछे आना चाहिये। वास्तव में उपमानिक तथा अनुमानिक तर्क की एक निरन्तर प्रक्रिया चलती रहती है और प्रत्येक प्रक्रिया द्वारा हमें अपनी ज्ञान की वृद्धि में सहायता मिलती है। इसे निपुणता प्राप्ति के पाठ में शिक्षण तथा अभ्यास की अन्तर क्रिया समझना चाहिये।

उत्प्रेरण

विषय के महत्त्व को देखते हुए, यह उचित होगा कि उत्प्रेरण और रुचि के सम्बंध में हम विभिन्न स्थानों पर जो कुछ देख चुके हैं, उन्हें संक्षिप्त रूप में एकत्रित कर दिया जाये।

शिक्षण में क्रियात्मिकता सिद्धान्त का महत्त्व हम देख चुके हैं। शिशुओं के लिये किसी न किसी रूप में क्रियाशील रहना स्वाभाविक होता है। समस्त मनुष्यों में क्रियात्मिकता का प्रबल स्वतःभावना वर्तमान होती है। कम से कम, युवावस्था में तो निस्संदेह होती ही है। जब तक हम अपने शिष्यों को शारी-

रिक तथा मानसिक रूप से क्रियाशील होने का अवसर उपलब्ध करते रहेंगे, तो साधारण अवस्था में तथा स्वस्थ रहने पर उनकी रुचि बनी रहेगी। क्रियात्मिकता की सामान्य स्वतः भावना भिन्न-भिन्न मार्गों तथा दिशाओं में प्रदर्शित होती है, जिन्हें हम स्वतः भाविक प्रवृत्तियाँ कहते हैं। सफल उत्प्रेरण इन स्वभाविक शक्तियों तथा क्रियात्मिकता की प्रवृत्तियों के सफल प्रयोग पर निर्भर करता है। जब यह क्रियाशील होती हैं और कोई उद्देश्य हमारे दृष्टिगत रहता है तो बहुधा ऐसा कार्य भी सहर्ष किया जाता है जिससे अन्यथा मन ऊब जाता।

उदाहरणतः हम अपने शिष्यों को प्रश्न पूछने और स्वयं खोज करने तथा तथ्यों का पता लगाने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। हम देखते हैं कि ऐसा करते समय उनकी रुचि लगी रहती है। इसका कारण यह है कि हमने उत्सुकता की स्वतःभावना को क्रियाशील होने का अवसर सुलभ कर प्रतियोगिता के उपयोग के लिये दिया। हम समूहों में अथवा व्यक्तिगत शिष्यों द्वारा स्वयं अपने पूर्व कार्य की तुलना करवाते हैं। हमें फिर रुचि में वृद्धि दिखाई देती है। कारण यह है कि कलह की स्वतःभाविक प्रवृत्ति का प्रयोग हो रहा है। हम देखते हैं कि जब शिष्यों की प्रशंसा की जाती है अथवा वह स्वयं अपने को दूसरों से बाज़ी ले जाते देखते हैं तो वह अपने कार्य में और भी अधिक रुचि दिखलाते हैं। कारण यह है कि आत्म-अभिव्यक्ति का स्वतःभाविक प्रवृत्ति को क्रियाशील होने का अवसर प्राप्त हो रहा है। हम देखते हैं कि शिशु समूहों में तथा मिलकर कार्य करने में रुचि रखते हैं। इसका कारण यह है कि 'झुण्ड भावना' का उपयोग कर रहे हैं। जब हम शिष्यों से अपनी चीजें बनवायें स्वयं अपने चित्र खींचने, कहानियाँ लिखने अपनी पत्रिकायें चलाने, के लिये प्रोत्साहित करते हैं तो हमें पता चलता है कि इसके फलस्वरूप बहुत से शिष्यों के हृदय में अपने कार्य के प्रति अत्यधिक रुचि उत्पन्न हो जाती है। सृजन करने की स्वतःभाविक प्रवृत्ति को क्रियाशील होने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब कभी हम क्रियात्मिकता की शक्तियों और प्रवृत्तियों का उपयोग कर सकते हैं, तो हम उत्प्रेरण की समस्या को हल कर लेते हैं। सबसे अधिक सफल पद्धतियाँ वह हैं जो क्रियात्मिकता की प्रवृत्तियों को संलग्न होने का अवसर प्रदान करती है। खेल रूपी पद्धति, परियोजना

पद्धति (जो एक प्रकार की खेल रूपी पद्धति ही है), डालटन योजना, अन्वेषण पद्धति, आदि जैसी पद्धतियों की सफलता का यही कारण है। इन पद्धतियों के विश्लेषण से पता चलता है कि वह क्रियात्मिकता की बहुरूपी स्वतः भाविक प्रवृत्तियों के पूरा-पूरा अवसर उपलब्ध कर देती है। और मानसिक तथा शारीरिक क्रियात्मिकता के लिये शिशु की प्रकृतिक स्वतःभाविक प्रवृत्तियों की दिशा में क्रियात्मिकता का पूरा-पूरा अवसर प्रदान करती हैं।

निस्सन्देह, इन प्राथमिक प्रेरक-भावनाओं का सदैव उपयोग करना संभव नहीं होता। शिशु में इतनी बुद्धि नहीं होती कि सदैव उन्हीं क्रियात्मिकताओं को चुने जो उसके विकास के लिये सबसे अधिक हितकर हैं। उसे अपनी क्रियात्मिकता की स्वतःभावना द्वारा पथ पदर्शित होकर सदैव कार्य करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। यह तो सदैव सत्य है कि इस प्रकार की प्रेरक भावनाओं का जितना अधिक उपयोग हम करेंगे, उतना ही अधिक हमारा कार्य सफल होगा फिर भी हमें कभी-कभी दूसरी विधियाँ अपनानी होंगी।

उत्तम उत्प्रेरण रुचि उत्पन्न कराना बहुत कुछ स्वयं शिक्षक की अपने कार्य के प्रति रुचि पर निर्भर करता है। शिक्षक जिसकी जिनको, जिस ढंग से शिक्षा दे रहा है। उसमें स्वयं उसकी रुचि नहीं है, तो वह शिष्यों को रुचि न रखने के लिये दोष नहीं दे सकता परन्तु वितर्क में कहा जाता है कि भला शिक्षक से अपनी रुचि बनाये रखने की कैसे आशा की जा सकती है जब वह लगातार कई वर्षों से एक ही विषय की शिक्षा देता चला आ रहा है। इसके दो उत्तर हैं। प्रथम यह कि यद्यपि विषय-सामग्री तो लगभग यही रहती है, परन्तु शिष्य वही नहीं होते। यदि शिक्षक **अपने शिष्यों** के प्रति रुचि रखता है, तो उसे वर्षों तक अपने कार्य से रुचि बनाये रखने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी। दूसरे यह कि, यदि शिक्षक के मन में शिक्षण पद्धति के सम्बन्ध में अनुसंधान करने का उत्साह उत्पन्न हो जाता है, तो उसे वर्षों तक अपने कार्य के प्रति रुचि बनाये रखने में कोई कठिनाई नहीं होगी। परन्तु हम इस तथ्य को कभी भुला नहीं सकते कि यदि शिक्षक चाहता है कि कक्षा, चाहे वह पहली हो अथवा दशम, हो रहे कार्य के प्रति रुचि रखे, तो स्वयं उसे रुचि रखनी पड़ेगी। स्वयं उसकी रुचि उसकी कक्षा में प्रतिबिम्बित होती है। और यदि वह शिक्षण-पद्धति में अनुसंधान कार्य के प्रति रुचि रखता है तो वह अपनी कक्षा से और भी अधिक उत्तम प्रतिवादन करवा सकता है।

शिक्षक रुचि बनाये रखने के लिये अपने शिक्षण के ढंग तथा प्रस्तुति की विधि में परिवर्तन कर बहुत कुछ कर सकता है। अपने कार्य में वह जितनी अधिक विविधतायें उत्पन्न कर सकता है, शिष्यों की रुचि भी उतनी ही अधिक होगी चाहे कार्य मौलिक रूप से कितना ही अरोचक क्यों न हो। उदाहरणतः चित्रों, मानचित्रों, रेखाचित्रों, आटों तथा श्याम-पट कार्य का संतुलित प्रयोग अधिक उपयोगी हो सकता है।

शिक्षक को अपनी पाठ की भूमिका को अत्यन्त चित्ताकर्षक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। जिन समस्याओं का समाधान करना है, यदि उसका उचित उपयोग किया जाये, विशेषकर पाठ के आरम्भ में पाठ की कुंजी अथवा पथ-प्रदर्शक के रूप में उसे कक्षा के समक्ष रख दिया जाये तो रुचि उत्पन्न करने तथा बनाये रखने में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। उदाहरणतः अकबर-सम्बन्धी किसी इतिहास पाठ में समस्या यह हो सकती है कि अकबर के 'महान' कहलाने के कारण की खोज की जाये। इस समस्या की ओर पाठ अथवा पाठमाला के चलते समय बारम्बार संकेत करना होगा और उन विभिन्न तथ्यों पर जोर देना होगा जिनके द्वारा समस्या का समाधन हो सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, शिशुओं के समक्ष पाठ का लक्ष्य रख देना चाहिये। यदि लक्ष्य किसी समत्या का समाधान है तो पाठ अधिक रोचक बन जाता है।

बड़े शिष्यों के लिये शिक्षक को अपनी विषय-सामग्री इस प्रकार व्यवस्थित करनी चाहिये कि उसका विकास होता जाय अर्थात् प्रत्येक प्रकरण अपने पूर्व प्रकरण में से उत्पन्न होता रहे।

"इस प्रकार पाठ्य व्यूह को निपुणतापूर्वक संयुक्त कर तथा उसका अन्तर-सम्बन्ध यथा सम्भव स्पष्ट कर, सामग्री को नितान्त खोज का माध्यम बनाया जा सकता है और प्रत्येक प्रकरण दूसरे प्रकरण की भूमिका बन जाता है। अन्तर-सम्बन्ध की वास्तविकता पर जोर देकर अधिक योग्य शिष्यों को प्रोत्साहित किया जा सकता है कि अन्तर-सम्बंधी तथा उनके विकास की आशा करने और कार्यशीलता पूर्वक उनकी खोज करने की प्रवृत्ति को स्वीकार कर लें।

ऐसे पाठ व्यूह पर विचार करते समय, जो इस प्रकार के निरन्तर विकास के अवसर देता है, सामग्री को प्रकरणों तथा उपकरणों में विभाजित करना अत्यन्त लाभदायक होता है। यह विभाजन इस ढंग से होना चाहिये कि प्रत्येक प्रकरण स्वयं एक बोधनीय इकाई हो, और उसके अन्त पर आगामी प्रकरण

की ओर संकेत मिलता हो जिसके फलस्वरूप भविष्य सूचक जिज्ञासा उत्पन्न हो जाये। कभी-कभी शिक्षक क्रमिक कहानियों के प्रकाशकों अथवा नाटक निर्माताओं की किसी पुस्तक का कोई पृष्ठ लेकर प्रत्येक घटना को ऐसे रोचक तथा जिज्ञासामय क्षण पर समाप्त कर सकता है कि शिष्य दूसरे प्रकरण के लिये जिज्ञासा हो व्याकुल हो उठें।"[1]

शिक्षक को सावधान होकर इस ओर पूरा ध्यान देना चाहिये कि जिस कार्य की वह अपने शिष्यों से आशा करता है, वह उनकी शक्तियों के अनुसार उचित रूप से श्रेणियों में विभक्त हों। अगले कार्य के लिये एक सर्वोत्तम प्रेरक वस्तु, किसी कार्य का सफलता पूर्वक समाप्त होना है। दो खटके हैं जिनसे बचना है। एक ओर तो कार्य इतना कठिन न होना चाहिये कि शिष्य हतोत्साहित हो जायें अथवा उन्हें चेष्टा व्यर्थ प्रतीत होने लगे। दूसरी ओर वह इतना सहज भी न हो कि तनिक परिश्रम से ही पूरा हो जाये। जब कोई कार्य बिना परिश्रम के हो सकता है तो शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। इस प्रकार पाठशाला-कार्य जटिलता में शिष्य की योग्यता के अनुसार श्रेणियों में विभक्त होना चाहिये, जिससे यह इतना कठिन हो जाये कि उसे अपना पूरा परिश्रम लगाना पड़े परन्तु इतना कठिन न हो कि वह हतोत्साहित होकर बैठ जायें। कठिनाइयों से लड़ने की तत्परता के अनुसार व्यक्तियों में अन्तर होता है और शिक्षक सम्बन्धित व्यक्ति अथवा समूह के अनुसार जटिलता को घटा बढ़ा सकता है। ऐसा करना कक्षा को सामूहिक रूप से शिक्षा देते समय सदैव सम्भव नहीं होता, और यह तथ्य व्यक्तिगत कार्य पद्धति के पक्ष में तर्क के रूप में उपस्थित किया जाता है। परन्तु गणित तथा मातृ भाषा में कक्षा को सामूहिक रूप से शिक्षा देते समय भी ऐसा किया जा सकता है।

इस प्रकार यदि किये हुये कार्य पर नम्बर दिये जायें, तो हमें इस पर ध्यान रखना चाहिये कि शिष्य की योग्यता तथा शक्तियाँ क्या हैं, विशेषकर उसने उनका उपयोग किस मात्रा में किया है। शिक्षक को कार्य के दो नमूने मिल सकते हैं, जो व्यवहारिक मापदण्ड के अनुसार लगभग समान मूल्य के होंगे। परन्तु वह जानता है कि एक में एक चतुर शिष्य ने अपने पूरे परिश्रम का प्रयोग नहीं किया परन्तु दूसरे में एक अपेक्षाकृत कमजोर शिष्य ने अपनी पूरी शक्ति

---

१. ए० पिन्सेन्ट—दि प्रिन्सिपुल्ज़ ऑव् टीचिंग मेथड पृ० १२० (हैरप)

लगा दी और कार्य में पहले की अपेक्षा अधिक परिश्रम किया। दूसरे को निस्सन्देह अधिक नम्बर मिलने चाहियें। शिक्षक अपनी नम्बर देने की पद्धति की व्याख्या कक्षा के समक्ष कर देगा, जिससे कि वह समझ लें कि कार्य के सम्बन्ध में वह जितना भी परिश्रम करेंगे, सभी पर नम्बर देते समय ध्यान दिया जायेगा। कमजोर शिष्य की रुचि लुप्त हो जायेगी यदि उसके नम्बर एक उद्देश्यात्मक मापदण्ड के अनुसार कड़ाई से बारम्बार करते रहें। स्पष्ट है कि शिक्षक के लिये अपने शिष्यों को भली भांति जानना आवश्यक है तभी वह इस प्रकार नम्बर देने के योग्य हो सकता।

उत्तम कार्य के लिये पुरस्कार का उपयोग भी रुचि में वृद्धि के लिये किया जा सकता है परन्तु पुरस्कारों का इस कार्य में अधिक मूल्य है भी अथवा नहीं इसमें सन्देह है। शिक्षक द्वारा प्रशंसा तथा अनुमोदन, यदि उचित रूप में आये, तो उसका कहीं अधिक मूल्य होता है। इस सम्बन्ध में शिक्षक का कार्य व्यक्ति पर निर्भर करेगा। कुछ को प्रशंसा और प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है, कुछ की तीव्रता तथा चेतावनी और कुछ को प्रतियोग्यता चाहिये। सामान्यतः शिक्षक को अपने शिष्यों से यह संकेत करने का प्रयत्न करना चाहिये कि उनसे जिस कार्य के लिये वह कह रहा है, उसे कार्यान्वित करने की योग्यता उनमें वर्तमान है। उसे समस्त हार्दिक प्रयत्नों तथा उन्नति की प्रशंसा करनी चाहिये। यदि त्रुटियां केवल लापरवाही का परिणाम न हों, तो उसे इन को झिड़कने या दण्ड देने का अवसर न बनाकर और आगे सुधार की आधार शिला बनाना चाहिये।

शिक्षक को निश्चित कार्य निश्चित समय में करने के लिये देना चाहिये, और यह भलीभाँति देख लेना चाहिये कि, यथा सम्भव कार्य अधिक कठिन न हों, और जहाँ कहीं सम्भव हो, व्यक्ति के अनुसार भिन्न हों। वह प्रत्येक शिष्य के लिये जो कार्य-स्तर निर्धारित करता है, उसे निरन्तर ऊँचा करते जाना चाहिये। उसे आत्म-संतोष की भावना उत्पन्न होने से, विशेषकर चतुर शिष्यों में, सदैव सावधान रहना चाहिये। किसी भी शिष्य को यह विचार करने की आज्ञा नहीं देनी चाहिये कि उसे प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। शिक्षक को इच्छित कार्य-स्तर सदैव कक्षा अथवा व्यक्तिगत शिष्य द्वारा प्राप्त कार्य-स्तर से ऊँचा ही रखना चाहिये। शिक्षक को यदि रुचि उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त करनी है तो उसे अपने व्यक्तिगत शिष्यों के सम्बन्ध में ज्ञान होना

चाहिये, और जहां तक सम्भव हो, उनसे व्यक्तिगत ढंग पर व्यवहार करना चाहिये। यही समस्त उत्प्रेरण का मौलिक सिद्धांत है।

अन्त में, शिक्षक को अपने शिष्यों के स्वास्थ्य पर भी ध्यान देना चाहिये और उन्हें अधिक थकन से बचाना चाहिये। रुचि का अभाव बहुधा अस्वस्थता और पेचिस तथा हुकवर्म (केंचुए) आदि जैसे रोगों का परिणाम होता है, जिनकी उपस्थित का रोगी को कभी-कभी ज्ञान भी नहीं होता। रुचि का अभाव अपर्याप्त मनोरंजन तथा खेलकूद, कक्षाओं में वायु के आवागमन का अनुचित प्रबन्ध, उचित भोजन पोषण की अप्राप्ति के कारण भी उत्पन्न होता है। इनमें से कुछ बातों के लिये शिक्षक विवश है। दूसरों में वह बहुत बड़ी सहायता दे सकता है। वह सदा यह प्रबन्ध करा सकता है कि अधिक थकन के कारण पाठशाला में न रहने पायें। यदि रोग अथवा थकन के फलस्वरूप शारीरिक परिस्थितियां यथा स्तर नहीं होती तो रुचि को यथोचित न उत्पन्न किया जा सकता और न बनाये रखा जा सकता।

: ३ :

अध्यापन की पद्धतियाँ

कक्षा-अध्यापन

जिस समय हम अध्यापन तथा अध्यापन पद्धति की बात सोचते हैं तो साधारणतया कक्षा हमारे विचाराधीन रहती है, क्योंकि अपनी पाठशालाओं में साधारणतः हम कक्षाओं को अध्यापित करते हैं। अधिकतर पाठशालाओं में सामान्य व्यवस्था यही होती है कि शिष्यों को कक्षाओं में बांट दिया जाता है, और शिक्षक कक्षाओं को पाठ देते हैं। हम में से अधिकतर को अध्यापन करते समय इस व्यवस्था के अनुकूल बनना पड़ेगा। अर्थात् साधारण पाठ-शाला में शिक्षक को अधिकांश कार्य कक्षा से व्यवहार करना होगा। उसकी अधिकतर पद्धतियाँ ऐसी होंगी जिनका प्रयोग तीस, चालीस पचास शिष्यों के समूह से व्यवहार करने में किया जा सकता हो। इसी कारण, छोटे बच्चों के ऐसे समूह से व्यवहार करने की रीति जानने का महत्त्व है।

अच्छा होगा यदि हम पूरी कक्षा से व्यवहार करने के लाभ और उसकी कठिनाइयाँ तथा हानियाँ दोनों समझ लें। यदि हमें लाभों का ज्ञान है तो हम अपनी पद्धतियों को इस प्रकार ढाल सकते हैं, कि उन लाभों से अधिकतम फल मिले। और यदि हमें कठिनाइयों तथा हानियों का ज्ञान है, तो हम अपनी पद्धतियों को इस प्रकार ढाल सकते हैं कि यथासम्भव हम उनको दूर रख सकें अथवा कम से कम उनको न्यून कर सकें उनके **समक्ष होना ही न पड़े** और पड़े भी तो बहुत कम।

कक्षा-ध्यापन के लाभ

१. बहुत से शिष्यों को एक साथ अध्यापन कराने से, जैसा कि कक्षा में होता है, समय तथा शक्ति की बचत होती है। बहुत से शिष्यों की कठिनाइयाँ

समान होती हैं और बातों को एक बार लेने और, जब प्रत्येक शिष्य सुन रहा हो, एक बार समझा देने में समय बचता है। यदि यही कार्य प्रत्येक शिष्य के साथ अलग-अलग किया जाता है तो बहुत समय नष्ट होता है। स्पष्ट है कि इससे शिक्षक की शक्ति की भी बचत होती है।

२. कक्षा-ध्यापन में समूह प्रवृत्ति तथा कार्य करते और खेलते समय बच्चों की संग रहने की इच्छा का उपयोग होता है। एक ऐसे समूह का सदस्य होने की भावना जिसमें सभी का लगभग एक ही उद्देश्य है, कार्य को बहुतों के मामलों में सहायता देती है विशेषकर उनके सम्बन्ध में जिनकी आत्म-निरूपण की भावना बहुत प्रबल नहीं होती।

३. बच्चों को कक्षा के रूप में शिक्षा देने में उत्साह तथा रुचि उत्पन्न करना अधिक सुगम हो जाता है। उत्साह तथा रुचि बहुधा संक्रामक होती हैं। एक दूसरे से लेता है, विशेषकर उस समय जब सभी खुलकर एक ही कार्य में लगे हों। यदि बच्चे अलग-अलग कार्य कर रहे हों और एक को पता नहीं कि दूसरा क्या कर रहा है तो उत्साह के संचार में अड़चन रहती है, विशेषकर शिक्षक से कक्षा तक उत्साह और रुचि का संचार रुका रहता है।

"कक्षा पाठ स्पष्ट रूप से उत्साह उत्पन्न कर सकता है और इस प्रकार उस व्यक्तिगत चेष्टा के लिये एड़ का काम कर सकता है जो समस्त प्रकार के कार्य के लिये आवश्यक होती है। उदाहरणतः वह शिष्य को पढ़ने·····अथवा समझने के लिये इच्छुक बना सकता है। और चूंकि साधारणतः कार्य में परिश्रम की मात्रा उसकी पूर्ति करने की भावना के समतुल्य होती है, इसी कारण, ऐसे पाठ का मूल्य बहुत अधिक है।"[१]

४. कक्षा-ध्यापन सहयोग की भावना विकसित कर सकता है। एक अच्छा कक्षा-ध्यापक अधिकांश कक्षा की रुचि को जागृत कर सकता है, जिसके फल-स्वरूप पाठ की सफलता, किसी समस्या के समाधान किसी कार्य की पूर्ति अथवा किसी परियोजना के प्रणयन करने में अपना योगदान करने की इच्छा सभी करने लगते हैं। कक्षा के रूप में निपुण पथ प्रदर्शन के अन्तर्गत कार्य करते हुये शिष्य साथ मिल कर कार्य करना सीख सकते हैं, और सम्भवतः कक्षा शिक्षण का यही श्रेष्ठतम महत्त्व है। जिस पाठ में दो तीन तेज और चतुर

---

१. एन० कैटी, ए फर्स्ट बुक ऑव् टीचिंग—पृ० ५१ (मेथ्यून)

शिष्य ही सारा कार्य करते हैं और समस्त प्रतिवादन वही करते हैं परन्तु कमजोर और दब्बू शिष्यों को पीछे बैठने दिया जाता है और चतुर शिष्यों को कार्य करने दिया जाता है ऐसा पाठ उचित कक्षा शिक्षण नहीं है और हर दृष्टि से पूर्णतया खराब है। यद्यपि दुर्भाग्यवश इस प्रकार के पाठ दुर्लभ नहीं है।

५. कक्षा शिक्षण के द्वारा हम अच्छे ढंग से किये कार्य के मूल्यांकन की भावना जितनी उत्पन्न कर सकते हैं किसी दूसरी विधि के द्वारा नहीं कर सकते। किसी कक्षा के सदस्यों द्वारा किये गये अच्छे कार्य का इस विधि का मूल्याकन दूसरे सदस्यों के लिये एक का काम कर सकता है कि वह भी अपनी पूरी शक्ति नहीं तो कम से कम पहले से अधिक शक्ति कार्य में लगा दें। अर्थात् कक्षा में होना उत्प्रेरक का कार्य करता है या निपुण पथप्रदर्शन के अन्तर्गत कर सकता है। हमें अस्वस्थ प्रतियोगिता के खतरे से बचना है, परन्तु कुछ मात्रा में प्रतियोगिता अस्वस्थ नहीं है और बच्चों को कक्षा में साथ कार्य करने से निस्सन्देह उत्प्रेरण प्राप्त होता है।

६. कक्षा शिक्षण अपने शिष्यों को सुझाव देने, तथा उन्हें नया बताने योग्य ज्ञान प्रदान करने की सबसे अच्छी विधि है। समस्त अवस्थाओं में जहाँ शिक्षक द्वारा सुझाव का प्रयोग होना है, जैसे मूल्याकन पाठ या नीति अथवा धर्म की शिक्षा देने मे, कक्षा शिक्षण का सदैव प्रमुख स्थान रहेगा। यह भी कहा जा सकता है कि वह मूल्यांकन पाठों के लिये परमावश्यक है। और जब हमें परिज्ञान देनी हो, जैसा कि हमें बहुधा करना ही पड़ता है, जिसके प्राप्त करने का साधन स्वयं शिष्य के पास नहीं होता तो बहुधा कक्षा शिक्षण ही हमारा सबसे सुगम साधन होता है।

इसलिये हम अपनी शिक्षण पद्धति अपनाते समय इन बातों को याद रखेंगे वर्तमान स्थित में तो निस्सन्देह कक्षा शिक्षण ही बहुधा हमारी परिस्थितियों से निपटने का एकमात्र साधन कार्य सुलभ है, **उसके लाभ-हानि के विचार के अतिरिक्त**। कक्षाओं में जो संख्या होती है और पाठशालाओं में शिक्षकों की जो संख्या है, उसे देखते हुये, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता कि बड़ी-बड़ी कक्षाओं को पढ़ाया अथवा पढ़ाने का प्रयत्न किया जाये। परिस्थितियाँ कक्षा-शिक्षण के अतिरिक्त किसी दूसरी पद्धति के उपयोग का अवसर देती हीं नहीं। परन्तु यह सब कुछ होते हुये भी इस प्रथा के दोष तथा हानि को समझ

लेना, हमारे लिये हितकर होगा, क्योंकि तभी हम उन्हें घटाकर कम से कम कर देने में समर्थ हो सकते हैं।

कक्षा-शिक्षण के प्रमुख दोष

१. प्रत्येक कक्षा में प्रत्येक बच्चा प्रत्येक दूसरे बच्चे से भिन्न होता है। जब हम बच्चों को कक्षाओं में एकत्रित करते हैं, तो हम यथासम्भव एक ही ज्ञान-स्तर के बच्चों को एक साथ रखने की चेष्टा करते हैं। परन्तु यहाँ भी कक्षा के श्रेष्ठतम शिष्यों और निम्नतम शिष्यों में बड़ा भारी अन्तर होता है। परन्तु बौद्धिक अथवा संवेगात्मक बनावट में समानता प्रकार की कोई चीज प्राप्त करने की चेष्टा नहीं को जा सकती। इसलिये शिक्षक को शिष्यों की एक ऐसे समूह के समक्ष होना पड़ता है जो बनावट, ज्ञान, आवश्यकताओं, आचरण में बिल्कुल भिन्न होते हैं और सब के लिये उसे कोई एक ही शिक्षण पद्धति का उपयोग करना पड़ता है। यह कक्षा-शिक्षण प्रथा का सबसे गम्भीर और हानिकारक दोष है। प्रायः इसका परिणाम यह होता है कि शिक्षक अपने बच्चों के संवेगात्मक जीवन की ओर कोई ध्यान नहीं देता। बौद्धिक विषयों के सम्बन्ध में वह केवल मध्यम शिष्यों को शिक्षा देता है। इस प्रकार बहुत अच्छे और बहुत कमज़ोर शिष्यों को घाटा रहता है। अच्छों को प्रगति में बाधा पहुँचाती है और कमजोरों को पीछे छोड़ दिया जाता है, और उन पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। हम चालीस-पचास की पूरी कक्षा की प्रगति दस पर अवश्य ध्यान देने के लिये नहीं रोक सकते। इस कठिनाई को थोड़ा बहुत कक्षोन्नति देने में कड़ाई द्वारा कुछ अंशों में दूर किया जा सकता है, परन्तु वास्तविक व्यवहार में इसे दूर नहीं किया जाता और यह एक ऐसी कठिनाई है जो अपने शिक्षण जीवन में प्रत्येक शिक्षक को प्रत्येक कक्षा में प्रतिदिन पड़ती रहती है।

२. कक्षा-शिक्षण द्वारा इस परिणाम का बहुत बड़ा भय है कि शिष्यों में निष्क्रियता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाये। वे बैठे सुना करते हैं और कभी-कभी केवल बैठे ही रहते हैं। जैसा कि सभी शिक्षक जानते हैं और सभी शिष्य भी जानते हैं कि जो कुछ हो रहा हो उसमें बुद्धि पूर्ण रुचि दिखलाना परन्तु वास्तव में एक दूसरे ही विचारों के संसार में पड़े रहना सहज है। कभी-कभी तो शिष्य यह दिखलाने का भी कष्ट नहीं करते कि वह ध्यान दे रहे हैं। स्पष्ट है कि पचास की कक्षा में सबको क्रियात्मक बनाये रखना कठिन है। कुछ विषयों में

तो विशेषकर, कक्षा शिक्षण की जो भी प्रथा रहे शिक्षक के लिये चाहे वह कितना ही निपुण क्यों न हो, निश्चय करना कि सभी सार समय मानसिक रूप में क्रियात्मक हैं असम्भव है।

३. कक्षा-शिक्षण में सदैव संयुक्त प्रयास को व्यक्तिगत प्रयास समझ लेने का भय रहता है। यह भय शिष्य तथा शिक्षक दोनों के लिये है। एक बच्चा पूरी कक्षा के संग गाना गा सकता है परन्तु जब वह अपने आप गाने का प्रयत्न करता है तो बुरी तरह असफल होता है। अपने आप कार्य करना एक नितान्त भिन्न बात है। **परन्तु हमें केवल उन्हीं बातों का ज्ञान होता है जिन्हें हम स्वयं कर सकते हैं**। कक्षा सामूहिक रूप से कार्य में योगदान करते हुये अंकगणित की किसी समस्या का समाधान कर सकती है। ऐसा लगता है कि सभी समझ रहे हैं। परन्तु प्रत्येक बच्चे से स्वयं करने को कहिये तो पता चलेगा कि हमारा अनुमान कितना भ्रमपूर्ण था। कक्षा-शिक्षण का यही एक सबसे बड़ा खतरा है अर्थात् सावधान न रहने पर प्रगति का भ्रमपूर्ण अनुमान। इसका कारण यह है कि प्रत्येक को स्वयं सीखना चाहिये और वास्तविक ज्ञान-ग्रहण तथा सीखना व्यक्तिगत प्रयास का फल है। सहयोगिक कार्य से सहायता मिल सकती है और मिलती है, परन्तु अन्तिम रूप में व्यक्तिगत प्रयास ही चाहिये। स्वाभाविक है कि सामूहिक प्रयास की ओर ध्यान आकर्षित होने पर कक्षा-शिक्षण हमें इस सत्य को भुला देने की ओर झुका देता है।

यह एक साधारण बात है कि शिक्षक कोई विषय समझाने के पश्चात् कक्षा से कहते हैं, 'तो, अब तुम समझ गये?' उत्तर में कक्षा चिल्लाती है 'जी हाँ', और सम्भवतः इस डर से कि कहीं उसकी मानसिक शान्ति भङ्ग न हो जाये, शिक्षक आगे बढ़ जाता है। यदि कोई जिज्ञासु प्रेक्षक एक दो प्रश्न पूछने लगे तो शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है कि कुछ तो सचेत रूप से अपने शिक्षक के संग छल कर रहे थे और कुछ अचेत रूप से स्वयं अपने संग छल कर रहे थे। हमारी पद्धति के लिये इस तथ्य का महत्त्व स्पष्ट है, और हम फिर प्रश्नों पर विचार करते समय इस विषय को लेंगे।

"उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड में सार्वजानिक शिक्षा की परिस्थितियाँ शिक्षकों को इसी समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित करने को बाध्य करती थीं कि एक साथ लेकर बच्चों की बड़ी संख्याओं को किस प्रकार उत्तम से उत्तम

शिक्षा दी जाये कि एक निश्चित कार्य क्षेत्र एक निश्चित समय में पूरा हो जाये। इसका परिणाम यह हुआ कि व्याख्या तथा प्रदर्शन पर अत्यधिक जोर दिया जाने लगा और इसी को साधारणतः 'कक्षा-शिक्षण' कहा जाने लगा। यह तो अन्याय होगा यदि शिक्षकों ने इस दिशा में जो सुन्दर कार्य किया उसे हम तुच्छ समझें और यह स्वीकार न करें कि उन्होंने जिन पद्धतियों का निर्माण किया और कार्य निपुणता के जो कार्य स्तर स्थापित किये उनके फलस्वरूप पाठशालाओं में जहाँ की व्यवस्थायें सरल थीं शिक्षण कला की उन्नति में बड़ी सहायता मिली। आधुनिक पद्धतियों तथा आधुनिक वस्तुगत साधनों की उन्नति के साथ-साथ कक्षा-शिक्षण निस्सन्देह एक शिक्षात्मक यन्त्र बन गया, जिसमें स्वयं अपने महान् और विशिष्ट गुण निहित थे। शिक्षक के यन्त्रालय में इसका स्थान सदैव ही रहेगा, चाहे वह सर्वश्रेष्ठ स्थान न हो जो गत काल में उसे प्राप्त था। उसके लचीलेपन की सीमायें हैं और इसी कारण उसकी उपयोगिता की भी सीमायें होती हैं। उसे सदैव बच्चों की बदलती हुई आवश्यकताओं अथवा उनके मस्तिष्क की प्राकृतिक गति के अनुकूल नहीं बनाया जा सकता जितना कि शिक्षण को होना चाहिये। साधारणतः यह, सत्य आज सभी को स्वीकार है कि कक्षा-अध्यापन के प्राधान्य में जितना सम्भव है उससे कहीं अधिक क्रियात्मक भाग स्वयं बच्चे अपनी शिक्षा में ले सकते हैं, और सीखने की शक्ति तथा गति के अनुसार उनमें आपस में बड़ा अन्तर होता है। यह बात भी विस्तृतः मान्य है कि बच्चों को यथासम्भव अपनी गति ही से चलने देना चाहिये। इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप पिछले कुछ वर्षों में पाठ-शालाओं में उस ढंग के कार्य में भारी वृद्धि हुई है, जिसे हम स्वयं बच्चे का प्रयोग कह चुके हैं। यह बात सम्भवतः अभी तक पांच वर्ष से कम और ग्यारह वर्ष से अधिक अवस्था के बच्चों में विशेषकर प्रदर्शित होती है।

(क) चूंकि शिक्षण का तात्कालिक उद्देश्य यह है कि शिष्य क्रियात्मक शिक्षार्थी बन जाये, कोई भी पद्धति, जो उचित आधार पर, इस उद्देश्य की प्राप्ति का दावा करे, तो उसका निष्पक्ष अध्ययन होना चाहिये।

(ख) पाठशाला के आर्थिक ढाचे में सामूहिक शिक्षण की अनुभव-सिद्ध पद्धतियों का अनिवार्य स्थान है और उन्हें अपर्याप्त परीक्षित सिद्धान्तों के प्रभाव में आकर पूर्णतया बहिष्कृत न कर देना चाहिये।

(ग) फिर भी कुछ अवसर और उद्देश्य ऐसे होते हैं जिनके लिये यह

पद्धतियाँ स्पष्ट रूप से उतनी अनुकूल नहीं होती जितना कि ऐसी पद्धतियाँ जिनमें बच्चे को शिक्षक के उत्प्रेरण, तथा पथप्रदर्शन से वंचित किये बिना स्वयं अपनी विशिष्ट रुचियों के अनुसार चलने, तथा अपने ढंग से शिक्षा प्राप्त करने और स्वतन्त्र उद्देश्यपूर्ण कार्य की बहुमूल्य प्रवृत्ति बनाने का उचित अवसर प्राप्त होता है।

(घ) यह तथ्य सामान्यतः सत्य तो है ही परन्तु वह छोटी ग्रामीण पाठशालाओं के लिये विशेषकर सत्य है जहाँ स्वभाविक रूप से कक्षा-संगठन तथा कक्षा-शिक्षण का अत्यन्त सीमित मूल्य होना चाहिये।"[1]

फिर भी अधिकतर शिक्षकों को अधिकांशतः कक्षाओं ही से व्यवहार करना पड़ता है, इसलिये हमें उपरोक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुये उन पद्धतियों पर अधिक विस्तार से विचार करना चाहिये, जिनका हमें प्रयोग करना है।

सबसे पहले कुछ व्यवहारिक बातें हैं जिन्हें प्रत्येक नये शिक्षक को स्मरण रखना चाहिये। अपनी पुस्तक 'फर्स्ट बुक ऑन टीचिंग' में मिस कैटी ने इन बातों की एक उत्तम सूची दे दी है। उनकी सूची निम्नलिखित है :—

१. ठीक ठीक जानो कि तुम क्या शिक्षा देने जा रहे हो।
२. पूर्ण व्यवस्था करो।
३. जो यन्त्र प्राप्त हो सकें उनसे अधिकतम लाभ उठाओ।
४. पूरी कक्षा को शिक्षा दो।
५. शान्त तथा प्राकृतिक भाव रखने का प्रयत्न करो।
६. याद रखो कि उत्तम कक्षा-शिक्षण की कसौटी कक्षा की क्रियाशीलता है।
७. बच्चों के ज्ञान का पूरा-पूरा उपयोग करो।

इनमें हम अपनी ओर से जोड़ सकते हैं कि :—

८. जहाँ नित्यक्रम से सहायता मिले, वहाँ नित्यक्रम को सहायक बना लो।
९. साधारण शिष्टाचार का पालन करो और शिष्यों से पालन करवाओ।
१०. अनुशासन में कक्षा का सहयोग प्राप्त करो।

अब इन तथ्यों की परीक्षा करनी चाहिये।

१. शिक्षक को कक्षा पाठ के लिये भली भांति तैयार होना चाहिये। यदि वह कोई कहानी सुनाने जा रहा है तो उसे उसका पूरा ज्ञान होना चाहिये और

---

१. दि प्राइमरी स्कूल पृ० १५२-५३ (बोर्ड ऑव् एजुकेशन, लन्दन)

उसे इस योग्य होना चाहिये कि उसका स्पष्ट वर्णन कर सके। यदि वह कोई व्याख्या करने वाला है तो उसे अपने मानस में स्पष्ट कर लेना चाहिये कि उसका प्रत्येक पद क्या है और वह किस प्रकार अगले पद से जुड़ा हुआ है। यदि विषय के सम्बन्ध में वह स्वयं अस्पष्ट स्थिति में है तो वह शीघ्र ही अपनी कक्षा की रुचि लुप्त करा देगा। यदि वह किसी निपुणता की शिक्षा देने जा रहा है तो उसे पहले निश्चित कर लेना चाहिये कि वह सर्वोत्तम पद्धतियों को जानता है **और उनका प्रयोग कर सकता है**। निपुणता का जितना अधिक सुन्दर प्रदर्शन वह स्वयं करेगा उतना ही अधिक उसके बच्चों को उसे प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। तैयारी पर जितना भी जोर दिया जाये थोड़ा है। इसी में बहुत कुछ रुचि बनाये रखने, तथा फलतः कक्षा को नियंत्रित करने का रहस्य छिपा है।

२. शिक्षक को व्यवस्था करनी चाहिये। वास्तव में यह तैयारी का एक दूसरा रूप है। उसे निश्चित कर लेना चाहिये कि समस्त आवश्यक साधन उपलब्ध रहें। यह बड़ी ही घातक बात है यदि पाठ के मध्य में नक़शा मंगवाना पड़े या किसी चित्र के बीच में रुक कर खोज करनी पड़े। फालतू कलम, पेन्सिल, आदि जिस किसी वस्तु की आवश्यक होने की संभावना हो, तैयार रहना चाहिये।

३. परन्तु उस साधन का तैयार रखना ही पर्याप्त नहीं हैं। उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिये प्रयोग भी करना चाहिये। कमरे में श्याम-पट सदैव रहता है परन्तु उसका सदैव उचित उपयोग नहीं किया जाता। कभी-कभी देखा जाता है कि शिक्षक कमरे में नक़शे के बिना या कम से कम नक़शा खोले बिना ही इतिहास का पाठ देते हैं सारे आवश्यक साधन प्राप्त कर लेना सदा सम्भव नहीं है। परन्तु हमें जो कुछ मिलता है उसका उत्तम उपयोग तो कर ही सकते हैं। उदाहरणतः कच्ची और गीली मिट्टी प्राप्त करना कठिन नहीं होता और अनेकों पाठों के लिये नमूने बनाने में उसको बहुत कुछ कार्य किया जा सकता है। हर प्रकार की छड़ियों और दूसरी सुगमता से प्राप्त होने वाली वस्तुओं का प्रथम कक्षा को गिनती और प्रारम्भिक गणित सिखाने में उपयोग किया जा सकता है। शिक्षक को साधन प्राप्त करने और उसका प्रयोग करने में अपनी कल्पना-शक्ति का उपयोग करने का प्रयास करना चाहिये। यदि वह ऐसा करता है कि उसके पाठ की रुचि में कितना भारी अन्तर पड़ जाता है।

४. कक्षा-शिक्षण में बहुधा अपना ध्यान अग्रिम शिष्यों तक ही सीमित रखने का बड़ा प्रलोभन होता है। सदैव कतिपय हाथ ऊपर उठ जाते हैं लगभग चिल्ला उठते हैं, "जी हां, मैं बता सकता हूं।" और हम बहुधा उन्हें आज्ञा देते हैं कि वह हमें बतायें और बताते ही जायें परन्तु जिन शिष्यों की हमें कुछ भी बताने की विशेष रुचि नहीं होती उन्हें हम पीछे बैठ कर ऊंघने के लिये छोड़ देते हैं। परन्तु स्पष्ट है कि यह कितनी भयंकर भूल है। हमें पूरी कक्षा को शिक्षा देने की चेष्टा करनी चाहिये यद्यपि बड़ी संख्या के साथ ऐसा करना कठिन है। प्रत्येक बच्चे को यह अनुभव करा देना चाहिये कि शिक्षक का ध्यान उसकी ओर है, और स्वयं उसको भी बदले में अपना भाग करना है। प्रश्नों को पूरी कक्षा पर समान ढंग से बांटना चाहिये। शिष्यों से क्रमानुसार प्रश्न न पूछने चाहियें वरन् इधर-उधर करके पूछे जाने चाहियें और शिक्षक को सावधान रहना चाहिये कि कोई भी छूट न जाये। प्रत्येक शिष्य का कार्य शुद्ध किया जाना चाहिये। शिक्षक जो कुछ भी करे, उसे याद रखना चाहिये कि वह पूरी कक्षा को शिक्षा देने का प्रयास कर रहा है। उसे ऐसे स्थान पर खड़ा होना चाहिये जहां से वह पूरी कक्षा को आज्ञा दे सके और जो कुछ हो रहा हो उसे देखने का सबसे अच्छा अवसर मिल सके। सदा एक ही स्थिति में खड़ा रहना न आवश्यक है और न बुद्धिमानी की बात है। उसे यह प्रबंध करना चाहिये कि श्याम-पट ऐसी स्थिति में हो जहां से सभी को सुगमता से पढ़ने में आ जाये। शिक्षक को स्पष्ट स्वर से बोलना चाहिये परन्तु बोलने में बहुत जल्दी नहीं करनी चाहिये। चिल्लाने की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु उस के वाक्य सभी को सुगमतापूर्वक सुनाई देने चाहिये।

"परन्तु सब कुछ लिख देने के पश्चात भी यह कहना ही पड़ता है कि आदर्श कक्षा पाठ देना अत्यन्त कठिन कार्य है। और सुयोग्यतम शिक्षकों के पाठ नवआगन्तुक के पाठों की अपेक्षा आदर्श से थोड़ा अधिक समीप होते हैं। वास्तविक रूप से शिक्षक की उपमा जादूगर से दी जा सकती है जो दस-दस गेंदें एक साथ हवा में रोक कर अपने दर्शकों को चकित कर देता है। शिक्षक को चालीस ऐसे मस्तिष्कों को एक ही विषय पर निश्चित समय में विचार करने के लिये प्रोत्साहित करना पड़ता है जिनका पिछला ज्ञान भिन्न है, जिनकी रुचियाँ भिन्न हैं और जो भिन्न गति से कार्य करते हैं। और जिस प्रकार जादूगर को प्रत्येक गेंद के सम्बन्ध में पता होना चाहिये, उसी शिक्षक को भी कक्षा में

प्रत्येक का पता होना चाहिये, कभी वह किसी से सहायतार्थ एक दो शब्द कह दे, कभी ऐसे प्रश्न पूछ ले कि दूसरा किसी कठिनाई पर विचार करने के प्रयास में लग जाये।

सुनने में यह बात विचित्र लगती है परन्तु यदि पाठ की तैयारी निपुणता पूर्वक और कक्षा के अनुकूल की जाये और उसे व्यवहारिक तथा प्रसन्न चित्त ढंग से दिया जाये तो मध्यम कक्षा में मध्यम शिशु अवश्य ध्यान देता है।"[१]

५. किसी व्यक्ति से ऐसे समय में शान्त तथा प्राकृतिक भाव बनाये रखने को कहना, जबकि वह शिक्षण आरम्भ कर रहा हो—विशेषकर प्रारम्भिक प्रयास के समय में, सम्भवतः उसके संग अत्याचार करना है। यही वह चीज है जिसका होना अत्यन्त कठिन है। निपुणता पूर्ण तैयारी और व्यवस्था पर ध्यान देने से, जिस पर हम विचार कर चुके हैं, इसमें बड़ी सहायता मिलेगी। तैयार होने का ज्ञान आत्म-विश्वास को जन्म देता है। फिर अपने विषय में वास्तविक रुचि भी बड़ी सहायता देती है। यदि हमें अपने विषय **तथा** अपने शिष्यों के प्रति रुचि है, तो हम स्वयं अपने को भूल जायेंगे।

६. कक्षा में कार्यशीलता को प्रोत्साहित करने की विधियों पर आगे चलकर विचार किया जायेगा परन्तु शिक्षक को कभी यह न भूलना चाहिये कि उसके शिक्षण का लक्ष्य कक्षा को कार्यशील बनाना और शिष्यों से एक साथ कार्य करवाना है। वास्तव में यदि वह अनुशासन अथवा स्वयं अपने आन्तरीक कम्पन से व्याकुल है तो कार्य को कार्य में व्यस्त कर देना ही कार्य और अपने आप दोनों को शान्त करने का सर्वोत्तम साधन है।

शिक्षक को सभी को कार्य-व्यस्त रखने का प्रयत्न करना चाहिये। उदाहरणतः कभी-कभी गणित में तेज शिष्य प्रश्न को अधिकांश कक्षा से पहले ही पूरा कर लेते हैं। उन्हें दूसरे प्रश्न करने देना चाहिये और समस्त कक्षा के लिये रुका न रखना चाहिये। यदि शिक्षक को पता चलता है कि कक्षा के केवल २० प्रतिशत शिष्य ही प्रश्न को हल कर पाये हैं, और वह समझता है कि पूरी कक्षा के साथ उस प्रश्न को करना आवश्यक है तो जो शिष्य उसे पूरा कर चुके हैं और नियम को समझते हैं, उन्हें पहले से समझे हुये नियम की व्याख्या सुनने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिये बल्कि दूसरे प्रश्न करने और

---

१. एन० कैटी—ए फ़र्स्ट बुक ऑन टीचिंग, पृ०२८-६ (मेथ्यून)

इस प्रकार और अधिक अभ्यास प्राप्त करने की आज्ञा दे देनी चाहिये। सुयोग्य शिष्यों की रुचि किसी दूसरी बात से इतनी शीघ्रता से लुप्त नहीं हो सकती जितना उन्हें रोक कर मानसिक रूप से अकर्मण्य बढ़ाये रखने से। इससे सदैव बचना चाहिये।

७. हम देख चुके हैं कि अपना पाठ प्रारंभ करते समय, हमें शिशुओं के पूर्व-ज्ञान तथा अनुभव का किस प्रकार उपयोग करना चाहिये। यह भी अत्यन्त लाभदायक है कि पाठ के सम्बन्ध में जो कुछ विचारा जा रहा है उसमें शिशुओं से योगदान कराया जाये। इससे पाठ के प्रति रुचि में भारी वृद्धि हो जायेगी। यह उत्तम शिक्षण का लक्षण है जब किसी कक्षा में शिशु स्वयं अपने ज्ञान तथा अनुभव का योगदान करने के लिये अपने आपको स्वतंत्र समझते दिखाई पड़ते हों। शिक्षक को इन सब का स्वागत करना और इस प्रकार के सहयोग को प्रोत्साहित करना चाहिये। संभव है कि उसने अपनी टिप्पणी-पुस्तिका में जो कुछ लिख रखा है, उससे वह कुछ समय के लिये अलग हट जाये। परन्तु, यदि शिशुओं ने जो कुछ दिया है वह सचमुच सार्थक है तो कोई बुराई नहीं है। शिक्षक सुगमतापूर्वक अपनी योजना की ओर लौट सकता है और पाठ का मूल्य बढ़ जायेगा।

यहाँ एक बात का भय है—भटक जाने का भय। शिक्षक को विषय से भटका देना कालेज के विद्यार्थियों का प्रिय व्यवसाय है और पाठशाला के बड़े शिष्यों के लिये भी कोई अनूठी बात नहीं है। बहुधा छोटे शिष्य तो ऐसा अचेत रूप से कर सकते हैं क्योंकि वह जिस विषय में अधिक रुचि रखते हैं, स्वभावतः उसका अध्ययन करना चाहते हैं। शिष्य जो कुछ स्वयं अनुभव कर चुके हैं, उसमें स्वाभाविक रूप से उनकी रुचि होती है। यदि शिक्षक सावधान न रहे तो जिस समय शिष्यों को पता चलेगा कि उनके योगदान का स्वागत किया जाता है, संभव है कि वह ऐसी बातें लाने लगें जो सचमुच निर्थक हों। जब तक शिक्षक सतर्क रहे इस सम्बन्ध में निपटारा करना कठिन कार्य नहीं है। वह शीघ्र ही अपने पाठ को ठीक मार्ग पर रखना सीख लेता है। यदि संयोगवश शिक्षक की किसी ऐसे अकाल प्रौढ़ अथवा उपद्रवी नवयुवक से टक्कर हो गई जिसको वास्तविक पाठ के चारों ओर हव्वा खड़ा करने में आनन्द आता है तो ऐसे शिष्य से उसको स्वयं निपटना और उसे उचित व्यवहार करने को तैयार करने के लिये विधि अपनानी पड़ेगी।

८. नित्यक्रम सेवक तथा स्वामी दोनों ही हो सकता है। परन्तु यदि उसे सचमुच प्रवृत्ति की भांति, हमारा सेवक बनना है तो उसके द्वारा बहुत कुछ समय तथा कष्ट की बचत हो सकती है। कुछ बातें हैं, जैसे श्यामपट का साफ करना, खिड़कियों का खोलना, कक्षा के कमरे के भीतर आने तथा बाहर जाने के ढंग, और इसी प्रकार की साधारण बातें जिनका निश्चित नित्यक्रम होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि एक निश्चित प्रवृत्ति-रूपी विधि होनी चाहिये जिसके अनुसार ऐसे कार्य होने हैं, उनके करने का एक निश्चित समय हो, और निर्णय करने के लिये कि कौन उन्हें पूराकरे, एक नियमित विधि हो। यदि ऐसी बातें कक्षा की 'प्रवृत्तियाँ' मान ली जायें (जैसा कि हम उन्हें कह सकते हैं) तो अधिक समय और शक्ति की बचत होती है जिसका प्रयोग अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों में किया जा सकता है। निस्सन्देह, शिक्षक यदि ऐसा हितकर समझे तो नित्यक्रम को बदलने में कभी डरना नहीं चाहिये। परन्तु कक्षा के सामान्य वातावरण तथा अनुशासन के अनुसार, इस प्रकार के समस्त नियमित कार्यों की एक निश्चित विधि होने से बड़ी सहायता मिलेगी।

९. साधारण शिष्टाचार के अनेकों नियम हैं जिनका शिक्षक और शिष्य दोनों के द्वारा पालन होना चाहिये। जब कोई बात कर रहा हो तो बीच में टोक देना अथवा बात करने की चेष्टा करना अशिष्टाचार है। इसलिये शिक्षक को चाहिये कि बहुत से शिशुओं को एक ही समय में प्रश्नों का उत्तर चिल्लाने का प्रयत्न करने के लिये स्वतंत्र न छोड़ दिया जाय। यह केवल शिक्षण तथा (निस्सन्देह) अनुशासन के लिये ही बुरा नहीं है, वरन् बुरा व्यवहार भी है। जिस समय कोई व्यक्ति-चाहे शिक्षक अथवा शिष्य कक्षा को कुछ बतला रहा हो, उस समय अपने पड़ोसी से अलग बातें करना शिष्टाचार के विरुद्ध है। इसलिये शिक्षक को इसकी आज्ञा नहीं देना चाहिये। (यह ऐसी प्रवृत्ति है जिसके बहुत से नवयुवक अपराधी हैं परन्तु इससे इस अशिष्टाचार में कमी नहीं हो जाती।) शिशुओं तथा शिक्षक को शिष्टाचार के साधारण शब्द जैसे "धन्यवाद" "कृपया" आदि का प्रयोग अवश्य करते रहना चाहिये। इन बातों से कक्षा के वातावरण में मौलिक अन्तर पड़ जाता है और यदि शिष्टता का पालन किया जाये तो प्रत्येक पाठ अधिक सुगमता से चलेगा।

१०. अनुशासन बहुधा नये और अनुभवी शिक्षक दोनों के लिये एक कठिनाई का प्रश्न होता है। निम्नतम कक्षाओं को छोड़ सभी कक्षाओं के

सदस्यों से स्वयं इस सम्बन्ध में अधिक सहायता मिल सकती है यदि शिक्षक इस कार्य को अपने मन में ठान ले। कक्षा-स्वराज्य की एक संशोधित प्रथा प्रचलित की जा सकती है। कक्षा को दलों में बांटा जा सकता है, जिनमें से प्रत्येक अपने सदस्यों के अनुशासन का उत्तरदायी होगा। नेतृत्व की प्रवृत्ति दिखलाने वाले बालकों को इन प्रत्येक दल का नायक बनाया जा सकता है। इस प्रकार की कोई भी पद्धति, जिसे शिक्षक अपनी विशिष्ट परिस्थितियों में उचित समझता है उसका प्रयोग होना चाहिये, परन्तु यदि शिष्यों का सहयोग प्राप्त करने के प्रयत्न के इस सिद्धान्त का पालन होता रहे तो अनुशासन की कठिनाइयों का पूर्णतया समाधान संभवतः कभी न हो पाये फिर भी उसकी भयङ्करता अत्यन्त घट जायेगी।

आत्म-कार्यशीलता उत्प्रेरित करना

जैसा कि हम उत्प्रेरण पर विचार करते समय देख चुके हैं प्रत्येक व्यक्ति में कार्यशील होने तथा अपनी पैतृक शक्तियों का प्रयोग करने की एक स्वतः भावी प्रवृत्ति वर्तमान होती है, जो शिशु कार्यशील नहीं होना चाहता, उसमें कोई न कोई शारीरिक अथवा मानसिक गड़बड़ अवश्य है। इस प्रकार हमारी समस्या अपने शिशुओं में कार्यशीलता उत्प्रेरित करने की उतनी नहीं है, जितनी कि उचित ढंग की कार्य-शीलता की, अथवा कार्यशीलता की प्रेरक भावना का उचित मार्गों में मोड़ सकने की। यह सत्य है कि हम अपनी कक्षाओं में बहुधा ऐसे शिशु देखते हैं जिनमें कार्यशील होने की कोई इच्छा प्रतीत होती ही नहीं। परन्तु यदि हम इन मामलों की निपुणतापूर्वक परीक्षा करें तो हमें साधारण रूप से पता चलेगा कि यह पैतृक क्षमता के मौलिक अभाव का इतना प्रश्न नहीं है जितना कि रुचि अथवा स्वास्थ्य का। सभी साधारण शिशु कार्यशील होना चाहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनसे पाठशाला में जिस ढंग से कार्यशील होने की आशा की जाती है, वह सब उसी प्रकार कार्य-शील होना चाहते हैं।

अब कुछ सिद्धान्त हैं जिन्हें पाठशाला के भीतर शिशुओं में कार्य-शीलता उत्प्रेरित करने के इस विषय पर विचार करते समय हमें ध्यान में रखना चाहिये।

१. पहला सिद्धान्त यह है कि शिशुओं की कार्यशील होने की इच्छा का

यथासम्भव कम से कम दमन होना चाहिये। स्पष्ट है कि यदि हम चाहते हैं कि शिशु कार्यशील हों तो वह जो कार्यशीलता प्रदर्शित करते हैं उसके दमन की चेष्टा करके हम अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते यद्यपि वह दिशायें, जिनमें वह कार्यशीलता प्रदर्शित करते हैं, वही दिशाएं न हों जिनमें हम उन्हें कार्यशील करवाना चाहते हैं। यदि हम उनका दमन करते हैं तो इसका भय है कि उनकी स्वतः भावी इच्छा का बहाव रुक जाये और उन्हें अनुचित धारा में बहना पड़ जाये और धीरे-धीरे शिशु ऐसी मानसिक दशा को पहुँच जायें जो वह पाठशाला में कार्यशील होना ही अस्वीकार कर दे और इस प्रकार हमारे लक्ष्य ही व्यर्थ हो जायें। छोटे शिशुओं में, विशेषकर जब वह पहली बार पाठशाला आते हैं, यथासम्भव दमन से दूर रहना चाहिये। अनुचित कार्यशीलताओं के सम्बन्ध में दमन से सदैव पूर्णरूप से दूर नहीं रहा जा सकता परन्तु नियम में ऐसा करना आवश्यक नहीं है।

२. दूसरा सिद्धान्त इसी नकारात्मक सिद्धान्त से निकलता है जिसपर हम अभी विचार कर चुके हैं। सकारात्मक सिद्धान्त तो यह है कि शिशुओं को कार्यशील होने के अवसर देने चाहियें। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह बात इतनी सहज नहीं जितनी कि लगती है। परन्तु यदि हम सचमुच चाहते हैं कि हमारे शिशु मानसिक तथा शारीरिक आत्म-कार्यशीलता की प्रवृत्तियों को अपने में विकसित करें, तो स्पष्ट है कि हमें उनको कार्यशील होने के अवसर देना चाहिये। एक ओर तो हमें उनका दमन न करना चाहिये और दूसरी ओर उपयोगी तथा उचित कार्यशीलता के लिये अवसर देना चाहिये। दूसरे शब्दों मे कार्यशीलता का आन्तरिक स्वतः भावना का उत्कृष्टीकरण होना चाहिये और उसे ठीक मार्गों में पथप्रदर्शित करना चाहिये।

३. इसके पश्चात् प्रश्न उठता है इसे कैसे किया जाये। अर्थात तीसरा सिद्धान्त है शिशु के उद्देश्यों का यथा सम्भव उपयोग करना। कुछ चीजें ऐसी हैं जिनकी शिक्षक आवश्यकता अनुभव करता है। इसके द्वारा उपयोगी कार्यशीलता के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है। शिशु जिस आवश्यकता को अनुभव करता है, यदि हम उसकी पूर्ति की इच्छा का उपयोग कर सकते हैं तो हम सुगमतापूर्वक उसे उपयोगी कार्यशीलता की ओर पथप्रदर्शित कर सकते हैं। प्रत्येक शिशु में खेल की जो इच्छा होती है, हम उसका भी कार्यशीलता में पथप्रदर्शन के लिये उपयोग कर सकते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, बहुत कुछ

शिक्षात्मक कार्य खेल तथा खेल रूपी शिक्षण विधियों के द्वारा किया जा सकता है। उपयोगी कार्यशीलता निश्चित कराने के लिये शिशु की स्वतः भावी प्रवृत्तियों का उपयोग किया जा सकता है। प्रतियोगिता तथा आत्म प्रदर्शन की भावनाओं का उपयोग किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्त स्वतः भावी शक्तियों का शिक्षा में उपयोग हो सकता है और सभी से हमें वह मार्ग मिलते हैं जिनके द्वारा हम अपने शिशुओं को कार्यशील होने के अवसर उपलब्ध कर सकते हैं।

४. चौथा सिद्धान्त है कि शिक्षक के लिये अपने शिशुओं, उनकी रुचियों और विशिष्ट योग्यताओं का जानना आवश्यक है। निस्संदेह, उसके लिये शिशु-स्वभाव तथा विकास के सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान होना भी आवश्यक है। शिशु-स्वभाव और अपने व्यक्तिगत शिष्यों के सम्बन्ध में ज्ञान उनकी कार्यशीलताओं को पथप्रदर्शित करने में उसे बड़ी सहायता देगा। उदाहरणतः यदि वह जानता है कि अमुक अवस्था के बालक "दलों" में रहकर कार्य करना और खेलना पसन्द करते हैं, तो वह अपनी योजनायें इसी के अनुसार बना सकता है। यदि वह जानता है कि कक्षा में एक बालक को कहानी कहने में विशेष रुचि है, तो वह उसे कार्यशीलता का अवसर देने की विधि जानता है। यदि एक दूसरा नक्शा बनाने में रुचि रखता है, तो इसे दूसरे प्रकार का अवसर दिया जाता है। इसलिये व्यक्तियों तथा सामान्य शिशुओं के सम्बन्ध में ज्ञान होना शिक्षक के लिये आवश्यक है यदि वह उनकी कार्यशीलता की इच्छा को उत्प्रेरित और पथप्रदर्शित करना चाहता है।

५. पाँचवाँ सिद्धान्त यह है कि शिक्षक जिस कक्षा और जिन शिशुओं को शिक्षा देता है, उनमें सुरक्षा और विश्वास की भावना उत्पन्न करने के लिये यथा शक्ति प्रयत्न करे। उसकी साधारण प्रवृत्ति आत्म-कार्यशीलता के सभी प्रयत्नों को प्रोत्साहित करने की होनी चाहिये, चाहे वह प्रयत्न भोंड़ें हो अथवा निपुणतापूर्ण। बहुधा शिशु अपने विचार प्रदर्शित करने की चेष्टा करते डरते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास नहीं होता कि उनके प्रयत्नों को किस प्रकार स्वागत किया जायगा। यदि वह देखते हैं कि उनकी कार्यशीलताओं का सहानुभूति तथा मित्रतापूर्ण ढंग से स्वागत होता है तो उन्हें और आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहन मिलेगा। यदि वह कोई घृणा का संकेत, रुचि का अभाव या अधीरता देखते हैं तो वह घबड़ा कर बैठ जाते हैं और शिक्षक का कार्य अत्यन्त कठिन

हो जायगा। शिशुओं का दमन हो गया होगा। निस्संदेह सभी शिशु सहज ही हतोत्साहित नहीं हो जाते। परन्तु एक बहुत बड़ी संख्या को, विशेषकर पाठशाला के प्रारम्भिक काल तथा युवावस्था में, स्वयं अपने और अपनी शक्तियों का निश्चित ज्ञान नहीं होता। वह स्वयं अपने को खोज निकालने से कोसों दूर भागते हैं और इसलिये हम उन्हें जो कुछ भी प्रोत्साहन दे सकते हैं, सभी की उन्हें आवश्यकता है।

अपने शिशुओं में कार्यशीलता प्रोत्साहित करने की चेष्टा करते समय शिक्षक को हमारी बताई मानसिक बातों पर विचार करने के साथ-साथ कुछ शारीरिक बातों को भी ध्यान में रखना होगा।

शिशु के सामान्य स्वास्थ्य को देखना है। मैं कह चुका हूँ कि कोई भी साधारण शिशु अकर्मण्य नहीं होता। परन्तु यदि शिशु का स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो निस्संदेह उसका झुकाव न मानसिक कार्यशीलता की ओर होगा और न शारीरिक कार्यशीलता की ओर। हुकवर्म (केंचुआ), पेचिश, मलेरिया और इसी प्रकार के दूसरे रोग शिशु की सारी शक्ति को निचोड़ लेते हैं। इसलिये, यदि हमें किसी शिशु में कार्यशीलता उत्प्रेरित करना कठिन प्रतीत होता है तो हमें पता लगाना चाहिये कि कहीं उसके स्वास्थ्य में तो कुछ गड़बड़ नहीं है।

बहुधा घर की परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि शिशु को पाठशाला में कार्यशील होना कठिन लगता है। सोने का उचित प्रबन्ध नहीं होता। घर की निर्धनता का परिणाम दुर्पुष्कता और शक्ति क्षीणता के रूप में होता है। कभी-कभी शिशुओं को अपने घरों में बहुत अधिक कार्य करना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप पाठशाला में उन्हें भी शक्ति का अभाव प्रतीत होता है। प्रातःकाल लम्बी दूरी पार कर घर से पाठशाला आने और पाठशाला के पश्चात् घर लौटने के कारण पाठशाला में कार्यशीलता का अधिक प्रदर्शन नहीं हो पाता। जब हमें कहीं भी कार्यशीलता की इच्छा का अभाव दिखाई दे तो इन सारी बातों पर विचार करना होगा।

घर की परिस्थितियों अथवा पाठशाला में कार्य द्वारा उत्पन्न अधिक थकावट शक्ति के अभाव का दूसरा कारण है।

कभी-कभी कार्यशीलता का अभाव पाठशाला के कार्य में विषमता के अभाव का परिणाम होता है। विशेषकर निम्न कक्षाओं में छोटे शिशुओं के लिये दिन के कार्य में यथा संभव अधिकाधिक विषमता उपलब्ध करने पर उचित

ध्यान देना आवश्यक है। उदाहरणतः तीन चार घंटे लगातार गणित में व्यस्त रहने का ढंग, जो प्रारम्भिक पाठशाला की सब से ऊँची कक्षाओं में अन्तिम परीक्षा के समय बराबर देखने में आता है, पूर्णतया अनुचित है। यदि हम उतनी रुचि की आशा करते हैं, जो कि कार्यशीलता के लिये आवश्यक है, तो हमें शिशुओं के कार्य में विषमता रखनी पड़ेगी।

कार्यशीलता कार्य के लिये उचित प्रयोजन करना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि शिक्षक को यथाशक्ति ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि शिशुओं की कार्यशीलता पर्याप्त स्थान के अभाव या प्रतिकूल वातावरण में कार्य करने के कारण संकुचित अथवा लुप्त न हो सके। साधारण रीति से इस समस्या का निवारण कक्षाओं को बाहर खुले में ले जाने से होता है। जब कार्यशीलतायें कक्षा के भीतर होती हैं तो उन में वास्तविक रुचि उत्पन्न करना अत्यन्त कठिन होता है जिसका कारण केवल यह है कि खेत और दूसरी कार्यशीलतायें कमरे में उचित ढंग से नहीं हो सकतीं।

आत्म-कार्यशीलता को उत्प्रेरित तथा प्रदर्शित करने की चेष्टा में कुछ व्यवहारिक पद हैं जिनका शिक्षक प्रयोग कर सकता है।

जब शिक्षक किसी प्रकार की कार्यशीलता के लिये योजना बना रहा हो तो इसे सदैव सावधानी पूर्वक यह देख लेना चाहिये कि समस्त साधन, जिनकी सम्भवतः आवश्यकता पड़ सकती है, उपलब्ध रहें। इसका यह अर्थ नहीं है कि शिशुओं को पहले से तैयार वस्तु ही का प्रयोग करना है। शिशुओं से स्वयं अपना साधन तैयार करवाना अत्यन्त बहुमूल्य है। परन्तु यदि शिशुओं को स्वयं अपना साधन तैयार करना है तो शिक्षक को कक्षा में समस्त यन्त्र और दूसरी वस्तुयें जिनकी शिशुओं को आवश्यकता पड़ सकती है तैयार रखनी चाहिये। उदाहरणतः यदि कक्षा को क्यारियों में कार्य करना है, जिसके लिये उसे खुर्पे की आवश्यकता पड़ सकती है। सम्भव है कि वह अपने खुर्पों की लकड़ी की मुठिया बना लें। वह अपने लिये लकड़ी भी खोज सकते हैं। परन्तु उनके पास मुठिया गढ़ने के औजार तो होने ही चाहियें। यदि कक्षा को भिन्न-भिन्न शिक्षा पूर्ण खेलों का उपयोग करना है, तो हो सकता है कि वह खेल की आवश्यक सामग्री स्वयं तैयार कर लें। परन्तु गत्ता, कागज, ब्रुश, या दूसरे आवश्यक सामान पास होने चाहियें। किसी को कोई चीज लाने के लिये भेज कर शिशुओं को अकारण प्रतीक्षा करनी पड़े या उन्हें यह पता चले

कि पर्याप्त सामग्री के अभाव के कारण सभी तैयारी में भाग नहीं ले सकते तो शिशुओं का उत्साह जिस बुरी तरह से ठंढा पड़ जाता है, उतना किसी और बात से नहीं होता। शिशु धीर नहीं होते, और जो कुछ हो रहा है उसके प्रति जब शिक्षक ने उत्साह या कम से कम रुचि उत्पन्न कर दी, तो केवल सामग्री के तैयार न होने के कारण उस रुचि के लोप का भय न होना चाहिये। शिशु शीघ्र ही कार्य में लग जाना चाहते हैं।

कार्यशीलता उत्प्रेरित करने में खेल और खेल-भाव से अधिक उपयोगी कोई चीज नहीं है। साधारण कक्षा कार्य में इस भाव का जितना अधिक उपयोग हो सकता है, शिशु की रुचि, और उसके कार्य का मूल्य उतना ही अधिक होगा। और खेल का सदा अर्थ होता है कार्यशीलता। कार्यशीलता उत्प्रेरित करने के लिये समस्त विषयों में खेल और खेल रूपी पद्धति के उपयोग से अधिक लाभप्रद कोई दूसरी विधि नहीं है। यह निम्न कक्षाओं में तो सहज है ही परन्तु उच्चतर कक्षाओं में भी बहुत कुछ किया जा सकता है।[1]

समस्याओं का उपयोग बहुधा कक्षा में कार्यशीलता उत्पन्न करने का उपयोगी साधन होता है। समस्याओं के हल करने के लिये रुचि को प्रोत्साहित करना साधारणतः सहज है। शिक्षक को सावधान रहना है कि शिशुओं को दी गई समस्यायें अधिक कठिन न हों। यद्यपि उन्हें अधिक सहज भी न होना चाहिये, तथापि अधिक कठिन होने की अपेक्षा अधिक सहज होना ही उत्तम है। कुछ नहीं तो सहज समस्यायें बारम्बार देनी चाहियें। भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्यायें प्रथम कक्षा से ही दी जा सकती हैं। सहज पहेलियाँ, बोर्डों के संग खेले जाने वाले खेल, चित्रों से सम्बन्धित वाक्य-खेल, संख्याओं की सरल समस्यायें, या कोई भी ऐसी चीजें जिनके फलस्वरूप शिशु में सचमुच रुचि उत्पन्न हो और वह विचार करने को बाध्य हो जाये, उनका उपयोग किया जा सकता है। जैसे-जैसे शिशु एक कक्षा से दूसरी में आगे बढ़ता है ऐसी समस्याओं की जटिलता

---

१. देखो—डब्ल्यू० एम० रायबर्न, 'दि प्ले वे' (मशाल प्रेस, खड़र) (उर्दू) डब्ल्यू० एम० रायबर्न व प० हंसराज, 'एजुकेशनल गेम्स' (मशाल प्रेस, खड़र) उर्दू, डब्ल्यू० एम० रायबर्न व प० हंसराज, तालीमी खेल पु० १, २, ३ (आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस), उर्दू डब्ल्यू० एम० रायबर्न 'प्ले वे इंग्लिश' बुक्स १, २, ३ (ओ० यू० पी०)

भी बढ़ती जायेगी, और शिष्यों की योग्यता के अनुसार उनका स्तर सदैव उच्चतर होता जायेगा। इस प्रकार का जितना अधिक कार्य हम अङ्कगणित, बीजगणित, इतिहास और भूगोल, विज्ञान, नागरिक शास्त्र आदि में दे सकते हैं, शिशुओं के लिये उतना ही अधिक रुचिकर होगा और उतनी ही अधिक मानसिक कार्यशीलता उत्पन्न होगी। यह फिर कह देना आवश्यक है कि समस्यायें देते समय शिक्षक को व्यक्तिगत शिशुओं की योग्यताओं को ध्यान में अवश्य रखना चाहिये।

सम्भवतः मस्तिष्क तथा शरीर दोनों की कार्यशीलता प्राप्त करने की एक सर्वोत्तम विधि वह पद्धति है जिसे योजना पद्धति कहा जाता है। इसमें शिशु के किसी उद्देश्य का उपयोग किया जाता है और उसे उस उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। अपने उद्देश्य को कार्यान्वित करने से शिशु को ज्ञात होता है कि कुछ बातें आवश्यक हैं और कुछ ज्ञान की आवश्यकता है, तो जैसे-जैसे वह बढ़ता जाता है, वह इन वस्तुओं को बनाता और आवश्यक ज्ञान प्राप्त करता जाता है। इस प्रकार अपने उद्देश्य को कार्यशीलता पूर्वक कार्यान्वित करते हुये वह शिक्षा प्राप्त करता है। उसका उद्देश्य रुचि का केन्द्र है जो उसको कार्यशीलता की विभिन्न दिशाओं में उसे अग्रसर करता है। स्पष्ट है, कि प्रत्येक विषय को प्रत्येक परियोजना के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता। परियोजनाओं के प्रयोग से साधारण 'साधक' विषयों, लिखना-पढ़ना-गिनती के साधारण कार्य से छुटकारा नहीं मिल जाता। परन्तु परियोजना के फलस्वरूप नियुक्त दिशाओं तथा सम्बन्धित विषयों में अधिक कार्यशीलता निश्चित हो जाती है। इससे एक लाभ यह भी होता है कि शिशु जो कुछ सीख और कर रहा है, उसका उपयोग भी देख सकता है। बहुधा शिशु कार्यशील होने के लिये तत्पर नहीं होता क्योंकि जो कुछ उससे करने को कहा गया है, उसका उपयोग वह नहीं देख पाता। दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम शिशु की दृष्टि में उचित सिद्ध नहीं हो पाया है। जब वह किसी परियोजना पर कार्य करता रहता है तो वह देख सकता है कि उदाहरणतः कमरा बनाने के लिये थोड़ा बहुत अंकगणित का ज्ञान आवश्यक है जिससे कि आवश्यक हिसाब लगाया जा सके। दुकान चलाने के लिये अंकगणित आवश्यक है और वही-खाता रखने में लिखना। इस प्रकार उससे जिस विषय की शिक्षा प्राप्त करने को कहा जाता है, उसका व्यवहारिक मूल्य वह स्वयं देख सकता है। उत्प्रेरण

में यही सहायता जो हमें परियोजनाओं के उपयोग से मिलती है, इस पद्धति का एक प्रमुख लाभ है।

शिष्यों के योगदान को प्रोत्साहित करना कार्यशीलता उत्प्रेरित करने का एक और व्यवहारिक ढंग है। कक्षा कार्य में इस प्रकार का योगदान मौखिक, लिखित अथवा चित्र रूपी हो सकता है। परन्तु जब शिशु अनुभव करते हैं कि पाठशाला में जो कुछ हो रहा है, उसमें वह भी सचमुच योगदान कर सकते हैं, जब वह यह अनुभव करें कि उनके योगदान का सचमुच मान होता है और वह सचमुच सार्थक होते हैं, तो स्वभावतः वह प्रोत्साहित होते हैं और अपनी सृजनात्मक शक्तियों का उपयोग करना आरम्भ कर देते हैं। पाठ में शिष्य जितना अधिक भाग ले सकेंगे, उतनी ही अधिक उनकी कार्यशीलता भी होगी और उतना ही अधिक उन्हें अपनी प्रदर्शन शक्तियों के उपयोग करने का उत्साह होगा।

इसी दिशा में यह भी है कि जो शिशु किसी विशेष कार्य में निपुण हों उन्हें उस कार्य में दुर्बलों को सहायता देने को प्रोत्साहित किया जाये। यह कार्य दलों में अथवा एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को सहायता का प्रयोजन कर पूरा किया जा सकता है।

"यह प्रवृत्ति कि कुछ किसी विशेष कार्य में निपुण हों, कुछ किसी दूसरे में, और जो निपुण हैं, वह उनकी सहायता करें जो निपुण नहीं हैं—कक्षा के भीतर उचित वातावरण उत्पन्न कर देता है—यदि कार्य में यह सिद्धान्त निहित रहे, कि जो कर सकते हैं, न कर सकने वालों की सहायता करें तो आश्चर्य होता है कि कक्षा के भीतर न जाने कितनी क्षमतायें निकल आती हैं कम बुद्धि रखने वालों का किस निपुणता से प्रशिक्षण हो जाता है।"[१]

कलह-सम्बन्धी स्वतः भावना का भी प्रतियोगिता के द्वारा कार्यशीलता उत्प्रेरित करने में उपयोग किया जा सकता है। प्रतियोगिता उन साधनों में से है जिनका उपयोग सावधानी से करना होता है। परन्तु कोई कारण नहीं है कि कार्य तथा खेलों में सामूहिक प्रतियोगिता का उपयोग न किया जाये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रतियोगिताओं द्वारा कार्य तथा खेलों में उत्प्रेरण उत्पन्न होता है, विशेषकर ऐसे कार्य में जहाँ कार्यशीलता की आवश्यकता पड़ती है।

---

१. एन० कैटी० ए फर्स्ट बुक आफ़ टीचिंग—पृ० ३१ (मेथ्यून)

प्रतियोगिता जीतना एक प्रकार का पुरस्कार है। दूसरे प्रकार के पुरस्कारों का भी उपयोग हो सकता है। कार्य की छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ, चाहे कक्षाओं चाहे पूरी पाठशाला के लिये की जा सकती हैं, और यह प्रदर्शनियाँ, यदि बारम्बार होने लगें तो निस्सन्देह उनके द्वारा कार्यशीलता तथा सृजनात्मक कार्य के लिये उत्प्रेरणा मिलेगी। अपनी रचना को प्रदर्शनी में रखवाना एक प्रकार का पुरस्कार है। कभी-कभी विशेष रूप से उत्तम रचना को कक्षा अथवा पाठशाला में किसी उच्च स्थान पर रखा जा सकता है। यदि यह पाठशाला की नित्य क्रिया बन जाये तो अनेकों को उस प्रतिष्ठित स्थान को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने की प्रेरणा मिलेगी।

यदि सुगुणांकन पाट भलीभाति लिये जाते हैं, तो उन्हें कार्यशीलता का उत्प्रेरक अवश्य बनना चाहिये। ऊपरी कक्षाओं में उत्तम कविता अथवा गद्य के सुगुणांकन के फलस्वरूप कुछ ने जो कुछ सुना है उसी का अनुकरण करने तथा उत्तम कविता अथवा गद्य लिखने का प्रयास करने के लिये प्रेरणा मिलती है। निम्न कक्षा में यदि कोई कहानी उत्तम ढंग से सुनाई जाये तो स्वभाविक रूप से शिशुओं में उसका अभिनय करने की प्रतिक्रिया होती है। सुगुणांकन कार्य का परिणाम बहुधा अभिनय के रूप में प्रकट होता है। भावना स्वभावतः कार्यशीलता पर अन्त होती है, और जब हम भावनायें उत्पन्न करते हैं तो हमें परिणाम स्वरूप कार्यशीलता की आशा करनी चाहिये। हमें सुगुणांकन को कार्यशीलता के रूप में प्रदर्शित होने का अवसर उपलब्ध करने पर ध्यान देना चाहिये। यदि हम सचमुच मानसिक तथा शारीरिक कार्यशीलता दोनों उत्प्रेरित करने के इच्छुक हैं तो हमें अपनी पाठशालाओं में हस्तकला कार्य सुविधायें उपलब्ध करनी चाहियें। हस्तकला कार्य शारीरिक कार्यशीलता के अवसर प्रदान करने के साथ-साथ मानसिक कार्यशीलता भी उत्प्रेरित करता है। बिना खटके कहा जा सकता है कि जब तक हम शिशुओं को विभिन्न प्रकार के हस्तकला कार्य करने का अवसर उपलब्ध नहीं कर सकते, तब तक विशेष व्यस्तताओं (हाबी) तथा समस्त शरीर के कार्यशील प्रयोग के द्वारा हमारे शिष्यों में कार्यशीलता उत्पन्न करने के प्रयास में अधिक सफलता नहीं मिल सकती।

इस सम्बन्ध में ज्ञानेन्द्रियों के प्रसाधन पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है। यह समस्त कार्यशीलता के लिये परम आवश्यक है। जब तक शिशुओं को ठीक-

ठीक देखने, सुनने और छूने की प्रशिक्षा नहीं मिलती, उन्हें कार्यशील कार्य से उतना सन्तोष नहीं प्राप्त हो सकता जितना कि होना चाहिये। पाठशाला में हम प्रारम्भिक अवस्थाओं में अधिकांशतः सुनने और अग्रिम अवस्थाओं में देखने पर निर्भर करने के आदी होते हैं। हमें शिशुओं को अपनी **समस्त ज्ञानेन्द्रियों का** उपयोग करने की प्रशिक्षा देनी चाहिये। यह कार्यशीलता की आधार-शिला है।

अन्त में, बहुत कुछ स्वयं शिक्षक की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। शिष्यों में अधिक कार्यशीलता उत्प्रेरित होगी यदि शिक्षक स्वयं कार्यशील हो। जिस शिक्षक ने कार्यशील कार्य के लिये अपनी रुचि लुप्त कर दी है, वह अपने शिष्यों से अधिक उत्साह अथवा किसी प्रकार की कार्यशीलता में रुचि प्रदर्शित करने की आशा नहीं कर सकता। इसके विपरीत जो शिक्षक मानसिक तथा शारीरिक कार्यशीलता-सम्पन्न कार्य मे स्वयं रखता है, अचेत रूप से वही उत्साह अपने शिष्यों में भी उत्प्रेरित कर देगा। इस सम्बन्ध में शिक्षक को संकेत की जो शक्ति प्राप्त है, वह उतनी ही महान है जितनी कि किसी दूसरे विषय में। इसलिये शिक्षक को हस्तकला कार्य पर ध्यान देना और स्वयं किसी हस्तकला पर कार्य करना चाहिये। उसे समस्याओं और आत्म-प्रदर्शन के सभी रूपों के प्रति रुचि होनी चाहिये। तभी उसका उत्साह और उसकी रुचि उसके शिष्यों के जीवन में प्रतिबिम्बित होगी।

यह सदैव याद रखना चाहिये कि कार्यशीलता का अर्थ मानसिक तथा शारीरिक दोनों कार्यशीलतायें हैं। बहुधा जब हम कार्यशीलता की बात करते हैं तो हम केवल शारीरिक कार्यशीलता ही के सम्बन्ध में विचार करते हैं। निस्सन्देह यह आवश्यक है, परन्तु उतना ही आवश्यक मस्तिष्क, या जिसे हम कह सकते हैं, आत्मा की कार्यशीलता भी। नैतिकता का विकास नैतिक कार्य करने के कार्यशीलता पूर्ण अभ्यास द्वारा होता है। इस प्रकार कार्यशीलता एक ऐसी वस्तु है जो व्यक्तित्व के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित रहती है।

यह भी याद रखना चाहिये कि कार्यशीलता को पथप्रदर्शित करते समय हम सावधान रहें। शिष्यों के समक्ष इतने कठिन कार्य रख देने से कोई लाभ नहीं, जिन्हें वह कार्यान्वित न कर सकें। यदि उन्हें कोई कार्य करना अथवा कोई वस्तु बनानी है तो वह ऐसी वस्तु हो जिसमें उन्हें परिमित रूप से सफलता मिल सके। छोटे शिशुओं के लिये कार्य लम्बे न हों। शिशु अपने

परिश्रम का सम्पूर्ण फल शीघ्र ही देखना पसन्द करता है। यदि कार्य अधिक लम्बा हुआ तो शिशु की रुचि लुप्त हो जाती है। परन्तु इसमें भी, दूसरे विषयों की भांति, शिक्षक कार्य का स्तर व्यक्ति के अनुसार श्रेणी बद्ध करेगा। यदि कोई शिशु सचमुच कोई ऐसा कार्य करना चाहता है जो शिक्षक को उसके लिये अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है, तो उसे अपने इच्छित कार्य में हाथ पैर मारने की आज्ञा दे देनी चाहिये। शिक्षक अपने शिशुओं और प्रत्येक शिशु की क्षमताओं को जान लेगा और उसे ज्ञान हो जायेगा कि प्रत्येक शिशु से क्या आशा करनी चाहिये। यदि शिशु सचमुच उत्सुक हो उसके लिये कठिन कार्य में लग जाना लाभ प्रद होगा।

हमारा लक्ष्य अपने शिशुओं को इस प्रकार प्रशिक्षित करना है कि उनमें मस्तिष्क, शरीर और आचरण तीनों क्षेत्र में कार्यशील रहने की प्रवृत्ति का विकास हो जाये। यह एक अनुक्रमिक क्रिया है, परन्तु यदि हम प्रथम कक्षा से प्रारम्भ करें और अपने शिशुओं की प्राकृतिक स्वतः भावनाओं का उपयोग करते जायें, तो हमें उस लक्ष्य की प्राप्ति में कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ेगी। परन्तु यह ऐसी प्रवृत्ति है जो निरन्तर अभ्यास द्वारा ही पुष्ट होती है। इस अभ्यास का पथप्रदर्शन होना चाहिये। केवल कार्यशीलता के लिये कार्यशील होने से अधिक लाभ नहीं होता। कार्यशीलता इच्छित केवल इस कारण है कि कार्यशील होने के फलस्वरूप ही व्यक्तित्व का विकास होता है। परन्तु इस प्रकार को कार्यशीलता कोई निरुद्देश्य कार्यवाही नहीं है कि कभी यह कर लिया तो कभी वह। यह ऐसी कार्यशीलता है जो एक लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है। इसलिये जब हम अपने शिशुओं में कार्यशीलता उत्प्रेरित करने का प्रयास करते हैं, तो हमें सदैव वह उद्देश्य अपने समक्ष रखना चाहिये, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि हम निश्चित रूप से ठीक पथप्रदर्शन तथा निर्दर्शन कर सकेंगे जो हमारे शिशुओं को अपनी निहित शक्तियों का परिपूर्ण विकास करने के योग्य बना देगा।

प्रश्न

शिक्षण में प्रश्न का सबसे अधिक महत्त्व होता है। यह कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं है कि किसी विशेष पाठ अथवा सामान्य शिक्षण में शिक्षक की सफलता उसकी भली भांति प्रश्न पूछने की योग्यता पर निर्भर करती है।

प्रश्न शिशु को उत्प्रेरित करता है, और यदि उसका निपुणतापूर्वक उपयोग किया जाये तो उसकी शिक्षा-प्राप्ति को भी निर्दर्शित कर सकता है। शिक्षण की निपुणता, इसलिये, बहुत कुछ पूछे गये प्रश्नों की श्रेणी तथा उनके बनाने की सुयोग्यता पर निर्भर करती है। "प्रश्न को समस्त शिक्षण-पद्धतियों में एक मौलिक तत्व स्वीकार किये बिना शिक्षण-पद्धतियों पर विचार करना असम्भव होगा। प्रश्न प्रवृत्ति-निपुणता स्तर के ऊपर समस्त शिक्षात्मक कार्यशीलता की कुंजी है।"[१]

यदि प्रश्न पूछने की पद्धत्ति इतनी महत्त्वपूर्ण है तो शिक्षक को प्रश्न का बुद्धिमानी पूर्वक उपयोग करने के लिये स्वयं अपने को साध्य करना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि शिक्षक को कुछ विशेष दिशाओं में निपुणता प्राप्त करनी होगी।

(क) शिक्षक—सर्वप्रथम, प्रश्न का बुद्धिमानी से उपयोग करने के लिये प्रश्नों के शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है। यह कार्य सुनने में अत्यन्त सहज लगता है। प्रश्न तो कोई भी पूछ सकता है। परन्तु हम एक क्षण के लिये भी इस पर विचार करें तो हम देख लेंगे कि यदि प्रश्न हम किसी निश्चित उद्देश्य को दृष्टिगत रख कर पूंछ रहे हैं तो हमें प्रश्न बनाने में सावधान रहना पड़ेगा। जिन शब्दों का हम प्रयोग कर रहे हैं उनके सम्बन्ध में हमें सावधान रहना होगा जिससे कि वह शब्द हमारे अभिप्राय को ठीक-ठीक, अथवा यथा-सम्भव ठीक-ठीक व्यक्त कर सकें। जिन लोगों से हम उत्तर मांग रहे हैं, वह शब्द स्पष्ट रूप से उनकी समझ में आ जायें। शिक्षक को स्पष्ट और निश्चित रीति से प्रश्न पूछने की कला प्राप्त कर लेनी होगी।

२. यदि शिक्षक उत्तम ढंग से प्रश्न पूंछने के योग्य बनना चाहता है, विशेषकर यदि वह अपने प्रश्नों का अपने शिशुओं को किसी विशेष विचार अथवा अध्ययन की दिशा में अग्रसर होने में सहायता देने के लिये उपयोग करना चाहता है, तो उसे स्पष्ट और तार्किक चिन्तन की कला भी प्राप्त करनी

---

१. एस० सी० पार्कर की 'मेथड्ज़ ऑव् टीचिंग इन हाई स्कूल्स' पृ० ४६६-७ (जिन्न) १६२० में से एन० एल बार्सिंग द्वारा 'प्रोग्रेसिव् मेथड्ज़ ऑव् टीचिंग इन सेकेन्ड्री स्कूल्स' उद्धरित पृ० २८३ (हाउटन मिफ़िन) १६३५.

चाहिये। प्रत्येक प्रश्न को तार्किक ढंग से अपने पूर्व प्रश्न में से ही निकलना चाहिये और उन्हें इस प्रकार भी बनाया जाये कि अगला प्रश्न उसी में से उत्पन्न हो जाये। परन्तु ऐसा करना कोई सहज कार्य नहीं है। और जब तक शिक्षक को बहुत अधिक अनुभव न हो जाये, उसे पाठ तैयार करते समय इस सम्बन्ध में सावधान रहकर बहुत ध्यान देना होगा।

३. शिक्षक केवल स्पष्ट और तार्किक रूप से चिन्तन करने ही के योग्य न हो, उसे शीघ्रता से विचार करने के योग्य भी होना चाहिये। बहुधा उत्तर आशा के अनुसार नहीं होता और न उस दिशा की ओर बढ़ता जिस दिशा में शिक्षक उसे ले जाना चाहता था। शिक्षक को शीघ्र निर्णय करना होता है कि क्या किया जाये। उसे निर्णय करना पड़ेगा कि उत्तर द्वारा जिस उपदिशा की ओर संकेत हुआ है उसी को पकड़ ले अथवा अपनी तैयार योजना ही पर चलता रहे। फिर, जब वह अपने शिष्यों को किसी कठिनाई के कारण अकस्मात अवरुद्ध देखता है तो उसे शीघ्रतापूर्वक ऐसे प्रश्न विचार लेने के योग्य भी होना चाहिये जिनके फलस्वरूप उसके शिशु स्वयं चिन्तन करने लगें। उसे शीघ्रता पूर्वक ऐसे सहजतर प्रश्न तैयार कर लेने के योग्य भी होना चाहिये जिनसे कक्षा के कमजोर शिष्य भी उसके इच्छित बिन्दु तक पहुँच सकें।

४. इसके अतिरिक्त शिक्षक को आपेक्षिक मूल्यों में अन्तर करने की भावना भी प्राप्त करनी चाहिये। जैसा कि हम देख चुके हैं, उसे यह निर्णय करने के योग्य होना चाहिये कि उसने जिस कार्य-दिशा की तैयार की है उसकी अपेक्षा इंगित उपदिशा अथवा भिन्न दिशा को स्वीकार करे अथवा नहीं। उसे निर्णय करना है कि कौन से प्रश्न उसके कक्षा के विचार करने के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। उसे निर्णय करना है कि अपने पाठ में विभिन्न विषयों पर कितना समय लगाये, किस पर अधिक प्रश्न पूछे, किस पर वह अपने प्रश्नों के द्वारा कक्षा को स्वयं अपने लिये परिणाम निकालने के लिये अग्रसर करे, और किसको वह दो-चार प्रश्न करके ही समाप्त कर दे। इससे वह समय निर्धारित करता है जो उसे दुहराने के प्रश्नों पर और 'शिक्षण' प्रश्नों पर लगाना होगा। इन सब के लिये पाठ से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के प्रश्नों का आपेक्षिक मूल्य समझने की योग्यता की आवश्यकता पड़ती है।

(ख) प्रश्न पूछने के उद्देश्य—पाठशाला तथा कक्षा में प्रश्न पूछने के उद्देश्य प्रश्न पूछने के साधारण उद्देश्य से थोड़े बहुत भिन्न होते हैं। इसका उद्देश्य

है, साधारणतः तथ्यों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करना। हम प्रश्न तभी पूछते हैं जब हम किसी तथ्य का पता लगाना चाहते हैं। परन्तु पाठशाला में साधारण रीति से यह उद्देश्य नहीं होता। इस दृष्टिकोण से पाठशाला का प्रश्न एक बनावटी चीज है। निस्सन्देह शिक्षक प्रश्न पूछते समय बहुधा सूचना प्राप्त करने की चेष्टा करता है, परन्तु यह वही सूचना नहीं है जो उत्तर में मिलती है। वह अपने प्रश्न के द्वारा उदाहरणतः यह पता लगाना चाहता है कि जिस शिशु से प्रश्न पूछा गया वह उत्तर जानता भी है अथवा नहीं। तथ्य के दृष्टिकोण से उत्तर में क्या है, शिक्षक को इसकी कोई चिन्ता नहीं होती, अधिक से अधिक वह इसे शिशु के ज्ञान का थोड़ा-बहुत सूचक समझता है।

१. इस प्रकार पाठशाला में प्रश्न पूछने का पहला उद्देश्य है ज्ञान की परीक्षा करना। शिक्षक यह जानने लिये प्रश्न करता है कि शिशु कितना जानता है। मैंने इस क्रिया को बनावटी कहा है क्योंकि शिक्षक प्रश्न पूछते समय यथार्थ ज्ञान नहीं माँगता, और शिशु भी किसी के प्रश्न पूछने पर, उसे इसलिये करते हैं कि वह उत्तर द्वारा प्राप्त सूचना पाना चाहते हैं। एक छोटा बालक कक्षा में बिल्ली पर एक पाठ ले रहा था। बिल्ली के सम्बन्ध में दो चार प्रश्नों के पश्चात् वह एकदम से फूट पड़ा "गुरू जी क्या आप ने कभी बिल्ली नहीं देखी है।" वास्तव में वह बालक पूरी क्रिया की कृत्रिमता पर अचेत रूप से विरोध प्रगट कर रहा था। फिर भी इस प्रकार के प्रश्न तो पूँछने ही पड़ते हैं। परन्तु शिक्षक को अपने प्रश्नों का वास्तविक उद्देश्य कक्षा के सामने स्पष्ट कर देना चाहिये।

२. प्रश्न पूछने का दूसरा उद्देश्य रुचि उत्पन्न करना तथा ध्यान को झिझोण देना है। प्रश्न के प्रारम्भ में प्रश्नों का इस प्रकार साधारणतः बहुत अधिक उपयोग होता है। प्रश्न किसी ऐसी वस्तु की ओर ध्यान को मोड़ देते है जिसमें शिशुओं की रुचि है या सम्भवतः हो सकती है। 'क्या तुम ने रेल का इञ्जन देखा है?' कह कर जार्ज स्टिफेन्सन सम्बन्धी पाठ की भूमिका देने से रुचि उत्पन्न होती है और ध्यान खिंचता है। इसी प्रकार पाठ की विभिन्न अवस्थाओं में प्रश्नों का इसी उद्देश्य के लिये उपयोग हो सकता है। जो कुछ चल रहा है उसके विशेष तथ्यों की ओर ध्यान केन्द्रित करने के लिये भी प्रश्न का उपयोग हो सकता है और उसके द्वारा फिर रुचि उत्पन्न को अथवा स्थिर रखी जा सकती है।

३. प्रश्नों का उपयोग एक चिन्तन-दिशा विकसित करने के उद्देश्य से

किया जाता है। प्रश्नों के द्वारा कक्षा को एक तथ्य-बिन्दु से दूसरे तथ्य-बिन्दु तक पहुँचाया जा सकता है और इस प्रकार कक्षा से स्वयं अपने लिये चिन्तन का कार्य कराया जा सकता है। जहाँ कभी भी उनका उपयोग हो सके, इस प्रकार की प्रश्नमाला साधारणतः शिक्षक द्वारा सीधे-सीधे निर्देशन और शिष्यों द्वारा उसके कथन को निष्क्रियता पूर्वक मानते जाने की अपेक्षा अधिक उत्तम है। उस समय कोई मानसिक कार्यशीलता नहीं होती। परन्तु वह प्रश्नों के उत्तर सोचते रहें तो वह मानसिक रूप से कार्यशील रहते हैं और स्वयं अपने लिये चिन्तन-दिशा का विकास कर लेते हैं। प्रश्नमाला के द्वारा एक चिन्तन-दिशा का विकास किस प्रकार हो सकता है, उसका उदाहरण निम्नलिखित है :—

क्या तुमने कपास का पौधा देखा है ?
तुमने कहाँ देखा था ?
वह किस प्रकार का होता है ?
उससे हमें रूई कैसे मिलती है ?
तोड़ने के पश्चात् उसके साथ क्या किया जाता है ?
स्थानीय कारखाने में उसके साथ क्या किया जाता है ?
तब वह कहाँ जाती है ?
वहाँ उसके साथ क्या किया जाता है ?
जब उसका धागा बना लेते हैं तो फिर धागे का क्या होता है ?
तब कपड़े का क्या होता है ?
तुमको कपड़ा कहाँ से मिलता है ?
कपड़े का तुम क्या करते हो ?

इस प्रकार की प्रश्नमाला के सभी प्रश्नों का उत्तर कक्षा में प्रत्येक शिशु से प्राप्त करना सम्भव न होगा। कभी-कभी जब शिशु को बिल्कुल ज्ञान न होगा तो शिक्षक को प्रश्नों का उत्तर उपलब्ध करना होगा। परन्तु जब भी सम्भव हो इस प्रकार की प्रश्नमाला का जिसमें एक प्रश्न प्राकृतिक रूप से दूसरे में से निकलता है, उपयोग अवश्य करना चाहिये। निस्सन्देह, उसका उपयोग मुख्यतः पिछले असम्बद्ध तथ्यों को जोड़ने के लिये किया जाता है। जब तक शिशुओं का पहले से अधिकांश रूप से तथ्य सम्बन्धी ज्ञान न हो, इस पद्धति से कोई लाभ न होगा। उसका मूल्य उनको तथ्यों के सम्बद्ध करने के योग्य बनाने और स्वयं अपने लिये क्रमबद्ध चिन्तन करने की प्रशिक्षा देने में निहित है।

४. शिशुओं में अपने ज्ञान का प्रयोग करने की कितनी योग्यता है, इसका परीक्षा करने के लिये भी प्रश्नों का उपयोग किया जा सकता है। ऐसे प्रश्नों से एक लाभ यह भी होता है कि परीक्षा करने के साथ-साथ उनके द्वारा मानसिक प्रशिक्षा भी प्राप्त होती है क्योंकि वह मानसिक क्रियाशीलता के लिये अवसर उपलब्ध करते हैं। गणित में ऐसे प्रश्नों के उपयोग का बहुधा अवसर मिलता है। बहुत कुछ ज्ञान हृदयगंम करने से प्राप्त होता है, और यह भय रहता है कि शिशुओं ने जो कुछ सीखा उसका नई परिस्थितियों में प्रयोग करना सीखने के स्थान पर उनमें केवल अपनी स्मरण शक्ति पर निर्भर करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाये। गणित में ऐसे प्रश्न पूछना सहज है जिनके उत्तर में समस्याओं को हल करना पड़ता है, और स्वयं इन समस्याओं के लिये पूर्व प्राप्त ज्ञान, जैसे पहाड़ा आदि, के उपयोग की आवश्यकता होती है। इन समस्याओं की जटिलता कक्षा के अनुसार बढ़ती जायेगी। इस प्रकार का प्रश्न उसी प्रकार के प्रश्न के समान महत्त्व रखता है जिसके सम्बन्ध में हम अभी विचार कर चुके हैं। इसका लगभग सभी पाठों में उपयोग किया जा सकता है।

"इस प्रकार परीक्षात्मक प्रश्न पूछने के प्रति तुम्हारे पूरे दृष्टिकोण में जो परिवर्तन होना चाहिये वह यह है कि प्रश्नों का आधार यह पता लगाना हो कि 'क्या बालक बिना तुम्हारी किसी सहायता के अपने ज्ञान का उपयोग कर सकते हैं?' यदि तुम यह तथ्य सदैव ध्यान में रखोगे और उस पर कार्य करते रहोगे तो तुम देखोगे कि पहले की भांति तुम केवल मौखिक स्मरण शक्ति पर निर्भर नहीं रह सकते।"[१]

५. हम प्रश्न पूछने के सामान्य उद्देश्य के अन्तर्गत दो अन्तिम उद्देश्यों को सार रूप में शिशुओं को स्वयं चिन्तन करवाना कह सकते हैं। चाहे किसी चिन्तन-दिशा में अग्रसर होने की बात हो अथवा प्राप्त ज्ञान के उपयोग की, हमारा मुख्य उद्देश्य उन्हें चिन्तन करने की स्थिति तक पहुँचा देना है। इस प्रकार ऐसे प्रश्नों का जिनमें केवल हृदयगंम तथ्यों की पुनावृत्ति की आवश्यकता पड़ती है, अपना स्थान तो होता है, परन्तु हमें उनका मुख्य रूप से प्रयोग नहीं करना चाहिये। उदाहरणतः शिशुओं ने जो कहानी अथवा पाठ पढ़ लिये हों उसकी विषय-सामग्री पर ऐसे प्रश्न पूछने से, जिनका उत्तर पुस्तक के शब्दों ही

१. एच० डिप्पी—सजेशन्स फॉर प्राइमरी स्कूल टीचर्स इन इण्डिया पृ० १८७ (ओ० यू० पी०) १९४३

में दिया जा सकता है, कोई अधिक लाभ न होगा। हमारे प्रश्न ऐसे होने चाहियें कि शिशु को थोड़ा बहुत चिन्तन करना पड़े। जैसे-जैसे शिशुओं की अवस्था बढ़ती जाये प्रश्नवाचक शब्द 'क्यों' का हमारे प्रश्नों में दूसरे प्रश्न-वाचक शब्दों की अपेक्षा प्राधान्य बढ़ता जाना चाहिये।

६. कक्षा शिक्षण में प्रश्न पूछने का अन्तिम उद्देश्य यह होना चाहिये कि शिशुओं को स्वयं ज्ञान हो जाये कि वह जो कुछ कर रहे हैं उसका सचमुच अर्थ समझते हैं अथवा नहीं। बहुधा शिशु बड़ों के समान ही स्वयं अपने को धोखा दे देते हैं। वह विचार करते हैं कि जो कुछ किया गया, वह समझ गये। यह तो जब किसी प्रश्न का उत्तर देने की बारी आती है, जिसमें किये गये कार्य के बोध की आवश्यकता पड़ती है, तब कहीं जाकर वह अनुमान करते हैं कि वह उसे सचमुच समझ ही नहीं पाये थे। इस प्रकार बहुत से पाठों में शिक्षक ऐसे प्रश्न बनायेगा जिससे स्वयं उसको और उसके शिशुओं को ज्ञान हो सके कि जो कार्य हुआ है, उसे वह सचमुच समझे भी हैं, अथवा नहीं। उदाहरणतः शिशु विचार करता है कि किसी मुहावरे को उसने समझ लिया और उसका प्रयोग करना भी जानता है। परन्तु जब उससे स्वयं अपने वाक्य में उस मुहावरे का प्रयोग करने को कहा जायेगा तभी वह या उसका शिक्षक ठीक-ठीक अनुमान कर सकता है कि वह सचमुच उसे समझता है अथवा नहीं।

(ग) प्रश्न कब पूछे जायें—शिक्षक पाठ के प्रारंभ में प्रश्न पूछेगा। यह पाठ का पहला पद होगा। शिक्षक जो कुछ करने जा रहा है, उसका शिशुओं के पूर्व प्राप्त ज्ञान से सम्बन्ध जोड़ने के लिये जब वह ठीक-ठीक यह पता लगाना चाहता है कि उसके शिशु क्या जानते हैं, तो साधारणतः थोड़े बहुत प्रश्न पूछना आवश्यक होता है। यह बात विशेषकर सत्य होगी जब शिक्षक कक्षा के लिये नया हो अथवा शिक्षार्थी-शिक्षक अभ्यास शिक्षण कर रहे हों।

जब शिक्षक कोई नया ज्ञान प्रदान करने का कार्य आरम्भ कर रहा हो तो भी वह अपने पाठ के प्रथम पद में प्रश्नों का प्रयोग करेगा जिससे कि वह कुछ तथ्यों अथवा विचारों को जिन्हें वह लाना चाहता है, शिशुओं की चेतना में सर्वश्रेष्ठ बना सके। अर्थात् पाठ के आरम्भ में प्रश्न पूछने के दो उद्देश्य होंगे, शिक्षक को अपने शिशुओं के पूर्व प्राप्त ज्ञान के सम्बंध में कुछ पता लगाने के योग्य बना देना और उस ज्ञान को तत्काल में शिशुओं के ध्यान में ला देना

जिससे कि वह उसका सम्बन्ध अपनी नई दी जानेवाली सामग्री के संग जोड़ सके।

२. प्रश्नों का उपयोग पाठ के बीच-बीच में भी होना चाहिये जिससे कि शिष्य निश्चित रूप से समझ सकें कि उन्हें क्या बताया जा रहा है या वह किस कार्य के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार के प्रश्न का प्रयोग बहुत सोच समझकर करना चाहिये। उदाहरणतः यदि शिक्षक कोई कहानी सुना रहा है तो उसे अपनी कहानी के भीतर प्रश्न नहीं ठूंस देने चाहियें। उसे पूरी कहानी सुना देनी चाहिये। तब वह उसे फिर दूसरी बार ले सकता है और इस बार यह पता लगाने के लिये कि कहानी समझ में आई अथवा नहीं, जो प्रश्न आवश्यक समझे पूछ सकता है। यह बात किसी भी विषय की कहानियों, उर्दू, इतिहास, भूगोल, प्रकृति-अध्ययन आदि के लिये सत्य है। यदि कोई परिच्छेद पढ़ा जा रहा हो, तो जब तक वह समाप्त न हो जाये और शिक्षक उसे फिर से लेना आरम्भ न करे, प्रश्नों को रोक रखना चाहिये।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह प्रश्न ऐसे रूप में होने चाहियें कि सरलता पूर्वक समझ में आ सकें साथ ही ऐसे हों कि सम्बधित उत्तर थोड़े बहुत चिन्तन के फल स्वरूप ही निकल सकें। उनके द्वारा केवल रट्टूपन को प्रोत्साहन न मिलना चाहिये। किसी शब्द का अर्थ समझ में आ गया अथवा नहीं, इसका पता लगाने का सब से उत्तम ढंग उसको किसी वाक्य में प्रयोग कराया जाये।

"एक बार एक छोटे बालक ने एक वाक्य पढ़ा जिसमें 'आकाश' शब्द का प्रयोग हुआ था। शिक्षक से यह पता लगाने को कहा गया कि बालक समझ गया अथवा नहीं। उसने झट पूछा 'आकाश क्या है?' पंचवर्षीय बालक के लिये यह प्रश्न हल करना पूर्णतया असम्भव है...ऐसे छोटे बालकों की परीक्षा की एक सरल विधि है "रात को तुम आकाश में क्या देख सकते हो? या "कल रात तुमने चांद कहां देखा था?" यदि बालक इन प्रश्नों का उत्तर दे सकता है तो स्पष्ट है कि वह 'आकाश' शब्द का अर्थ जानता है और कैसी सहअर्थी शब्द बताने के योग्य हुये बिना भी अपने ज्ञान का प्रयोग कर सकता है।"[१]

---

१. एच० डिप्पी, सजेशन्स फॉर प्राइमरी स्कूल टीचर्स इन इण्डिया, पृ० १८५ (ओ० यू० पी०)

३. जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रश्नों के निर्दर्शन में कक्षा को एक तथ्य-विन्दु से दूसरे तथ्य-विन्दु तक ले जाते समय उपयोग किया जा सकता है। चिन्तन की दिशा का प्रश्नों के द्वारा विकास होता है और उपमानिक श्रेणी के पाठ में प्रश्न पाठ का एक अत्यन्त मूल्यवान अंग होता है।

४. प्रश्नों का निर्दर्शन में भी महत्वपूर्ण तथ्य-विन्दुओं की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये उपयोग किया जा सकता है। प्रश्न एक झटके के समान आता है। वह अवलोकन में सहायता देने के लिये भी उपयुक्त हो सकता है। अवलोकन का ऐसे प्रश्नों द्वारा जो दृष्टि से छूट जानेवाले तथ्य-विन्दुओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हों, पथ प्रदर्शन किया जा सकता है।

५. प्रश्नों का अधिकांशतः दुहराने और अभ्यास कार्य में जो एक प्रकार का दुहराना है, अवश्य रूप से उपयोग करना चाहिये। दुहराने से कोई अधिक लाभ न होगा, यदि शिक्षक जो कुछ हो चुका है, उसे एक बार फिर लेकर रह जाये। प्रश्नों के द्वारा शिक्षक शिशुओं को दुहराये जाने वाले कार्य को कार्य-शीलता-पूर्वक पूरा करने में सहायता दे सकता है, जिसके फलस्वरूप इस प्रकार का दुहराना कहीं अधिक फलदायक होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षक को बहुधा आश्चर्य होगा कि वह पूरी अवधि भर क्या करता रहा, परन्तु कक्षा से प्रश्न पूछने के फलस्वरूप कार्य में चाहे जो भी संकुचन आये फिर भी दुहराने के कार्य में यही पद्धति उपयोग करने के योग्य है। इसी प्रकार अभ्यास कार्य के दो-चार शीघ्रतापूर्वक पूछे गये प्रश्न जैसे पहाड़ा; और इस प्रकार की मौखिक गणित आदि से बहुधा लाभ होता है। प्रतिदिन इस प्रकार के थोड़े बहुत अभ्यास प्रश्न पूछ लेना पर्याप्त होता है परन्तु उसके द्वारा भिन्नता प्राप्त होती है और शिशु को जिन यंत्रों से कार्य करना है उनके स्वयं-प्रयोग में बड़ी सहायता मिलती है।

(घ) प्रश्न पूछने की कला—शिक्षक को अपनी कक्षा से प्रश्न पूछते समय कुछ तथ्य ध्यान में रखने चाहियें।

१. शिक्षक को चाहिये कि पहले प्रश्न पूछे फिर किसी से उत्तर देने को कहे। उसे पहले किसी शिष्य का नाम लेकर फिर प्रश्न पूछना नहीं चाहिये।

यदि प्रश्न पहले पूरे कक्षा से पूछा जाता है तो सभी उत्तर देने का कुछ न कुछ प्रयत्न करेंगे क्योंकि उन्हें पता नहीं होगा कि किससे उत्तर देने को कहा जाने वाला है। उत्तर देने के लिये प्रयत्न का अवसर सभी को मिल जाता है।

यदि प्रश्न पूछने से पहले किसी बालक को पुकार दिया गया तो अधिकतर की प्रवृत्ति यही होगी कि "मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी को करने दो।" इसके अतिरिक्त यदि प्रश्न सभी से पूछा जाये तो, सबका नहीं तो कम से कम एक बड़ी संख्या का आलोचनात्मक ध्यान उत्तर की ओर आकृष्ट हो जायगा। मतों में भेद हो सकता है जिसके आधार पर बहुत मूल्यवान कार्य हो सकता है। एक शिशु ही से पहले प्रश्न पूछ लेना कि दूसरों को उत्तर की कोई चिन्ता न रह जाये, इस लाभ को लुप्त कर देता है।

२. शिक्षक को अपने प्रश्न समान रूप से बांटने चाहियें। उसे किसी शिष्य को छोड़ न देना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसे अपने प्रश्न कक्षा भर से एक नियमित क्रम के अनुसार नहीं पूछने चाहियें। ऐसा करने का परिणाम वही होगा जो किसी शिशु का पहले नाम लेकर फिर प्रश्न पूछने से होता। वास्तव में यह उससे भी अधिक हानिकारक होगा क्योंकि बालक अनुमान लगाने लगेंगे कि उनकी बारी कब आने वाली है, और उदाहरणतः यदि पठन हो रहा है, तो उसी परिच्छेद की तैयारी करने लगेंगे, जो उनके अनुमान के अनुसार उनके समक्ष आने वाला है। कक्षा को यह अनुमान लगाने का अवसर नहीं मिलना चाहिये कि प्रश्न किस ओर आने वाला है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस पद्धति के अपनाने से प्रत्येक शिशु को अवसर मिलना निश्चित हो जायेगा। परन्तु यह हानिकारक शिक्षण है। शिक्षक को सावधान रह कर यह ध्यान रखना है कि यद्यपि वह अपने प्रश्न इससे उससे बिना किसी नियमित क्रम के पूछता है परन्तु किसी को भी, विशेषकर सबसे पीछे या सबसे आगे वालों को, छोड़ नहीं जाता।

३. जब कोई प्रश्न पूछा जाये तो (यदि वह शीघ्र अभ्यास कार्य न हो जिसमें उत्तर उसी क्षण मिलना चाहिये) शिक्षक को उत्तर के सम्बन्ध में विचार करने के लिये पर्याप्त समय शिष्यों को देना चाहिये। दिया हुआ समय प्रश्न के स्वरूप पर निर्भर करेगा। यह उन शिष्यों पर भी निर्भर करेगा जिनसे उत्तर मांगा गया है। स्वाभाविक है कि कुछ दूसरों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से उत्तर दे सकेंगे। परन्तु शिक्षक को अपने मन्दगति शिष्यों को ध्यान में रखकर उन्हें चिन्तन करने के लिये समय देना चाहिये।

४. शिक्षक को सावधान रहना चाहिये कि वह प्रश्न के ऐसे रूप का प्रयोग न करे जिससे उत्तर का संकेत मिलता हो। "बूढ़े के पास एक बड़ी

लाठी थी—थी कि नहीं ?" यह तक अनुचित प्रश्न है क्योंकि शिशु को उसके सम्बन्ध में कोई ज्ञान हो चाहे न हो, वह उत्तर में 'हां' ही कहेगा। "क्या तुम नहीं सोचते यह एक सुन्दर कविता है ?" यह भी प्रश्न का एक अनुचित रूप है क्योंकि शिशु स्वाभाविक रूप से ८०% उत्तर में 'हां' ही कहेगा, कारण यह कि वह सहज रूप से देखता है कि शिक्षक उससे "हां" ही का उत्तर चाहता है; और वह सदैव कृतज्ञ करने को तत्पर रहता है। प्रश्न इस रूप से पूछना चाहिये कि शिशु को स्वयं अपना मत निश्चित करना और स्वयं अपने लिये चिन्तन करना पड़े।

५. शिक्षक को सदैव प्रश्न का उत्तर देने की अयोग्यता को स्वीकार कर लेना चाहिये जब यह स्पष्ट हो जाये कि शिशु सचमुच उत्तर को नहीं जानता या उस पर विचार नहीं कर सकता। कभी कभी शिक्षक किसी ऐसे शिशु से जो उत्तर नहीं दे सकता उत्तर निकलवाने की चेष्टा में अधिक समय नष्ट कर देते हैं। निस्सन्देह, संभव है कि शिशुओं में इतनी रुचि न हो कि वह उत्तर देने की चेष्टा कर सकें। यह तो एक दूसरी ही बात है। इसके अतिरिक्त, यह भी बहुधा सम्भव है कि सरलतर प्रश्नों से आरम्भ कर क्रमगति से मूल प्रश्न तक पहुँच जायें और एक ऐसे शिशु से उत्तर निकलवाने में सफल हो जायें, जो पहले नहीं समझता था कि वह प्रश्न का उत्तर दे सकता है। शिक्षक को यह अनुमान लगाने का प्रयत्न करना चाहिये कि कब स्थिति निराशाजनक है और कब नहीं, और उसे उसी के अनुसार बुद्धिमानी पूर्वक अपने समय को बचाना या व्यय करना चाहिये। फिर भी उसे याद रखना चाहिये कि कक्षा को शिक्षा देते समय, वह किसी व्यक्ति पर बहुत अधिक समय व्यय नहीं कर सकता, चाहे ऐसा करना उस व्यक्ति के लिये कितना ही अधिक लाभप्रद क्यों न हो।

६. प्रश्नों को श्रेणीबद्ध होना चाहिये। यह तथ्य स्पष्ट है परन्तु शिक्षक बहुधा इसे भूल जाते हैं। साधारण नियम के रूप में प्रश्न न अत्यन्त सहज हो न अत्यन्त कठिन। कभी-कभी कठिन प्रश्न कक्षा के चतुर शिष्यों के लाभ के लिये दिये जा सकते हैं। शिक्षक कमजोर शिष्यों से सहज प्रश्न और तेज शिष्यों से कठिन पूछेगा। वह उस समय जिस व्यक्ति से व्यवहार कर रहा हो उसी के अनुसार उसे अपने प्रश्न को श्रेणीबद्ध करना चाहिये। उसका नियम यह हो कि शिष्य से कोई प्रश्न पूछे जो थोड़ा सा कठिनता की ओर झुकता हो और यदि उसे पता चलता है कि प्रोत्साहन की आवश्यकता है, तो कोई सहज

प्रश्न पूछ ले। कठिनाई का स्तर व्यक्तिगत शिष्य के बौद्धिक तथा प्राप्ति-स्तर द्वारा निर्धारित होगा।

७. जो प्रश्न एक बार पूछ लिया गया उसे उस समय तक नहीं दुहराना चाहिये जब तक शिक्षक को यह विश्वास न हो जाये कि कक्षा उसे नहीं समझ सकी। यदि अपने प्रश्न को दुहराना शिक्षक की प्रवृत्ति बन गई तो प्रश्न पूछने पर प्रथम बार उस पर ध्यान न देना कक्षा की प्रवृत्ति बन जायेगी। यदि शिक्षक को पता लगता है कि उसका प्रश्न समझ में नहीं आया है, तो उसे बदल देना चाहिये। या तो उसके शब्दों में परिवर्तन कर दिया जाये, या वह आवश्यक समझे तो पहले एक सहज प्रश्न पूछ ले जिससे मूल प्रश्न तक पहुँचा जा सके।

८. प्रश्नों को ऐसे शब्दों में स्पष्ट रूप से रखना चाहिये जो शिशुओं की समझ में आ सकें। प्रश्न के अर्थ में किसी प्रकार की संदिग्धता नहीं होनी चाहिये।

९. जब शिक्षक कुछ शिशुओं का ध्यानहीन होना देखे, तो उसे उनसे प्रश्न पूछने चाहियें।

१०. शिक्षक को सदैव शिष्य द्वारा यह आभास कराने का प्रयत्न करना चाहिये कि वह प्रश्न का उत्तर दे सकता है, विशेषकर जब तथ्यों के याद करने का विषय न हो वरन् उत्तर पर विचार करने की बात हो। संकेत की शक्ति का अपने शिष्यों को सहायता देने के लिये शिक्षक द्वारा उपयोग किया जाना चाहिये। यदि उनकी यह भावना हो कि उनको शिक्षक उनकी उत्तर देने की योग्यता के सम्बन्ध में निराश है तो वह अपने मस्तिष्क का जिस प्रकार उपयोग करेंगे, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सफलता के साथ अपने मस्तिष्क का उपयोग उस समय करेंगे यदि वह अनुभव करते रहें कि शिक्षक समझता है वह उत्तर अवश्य खोज निकालेंगे।

११. शिक्षक को सदैव पहले आने वाले ठीक उत्तर ही को स्वीकार नहीं कर लेना चाहिये। उसे कभी-कभी बिना यह बताये कि उत्तर ठीक है अथवा त्रुटीपूर्ण, आगे बढ़ जाना और किसी दूसरे-तीसरे से पूछना चाहिये। यदि शिक्षक की प्रवृत्ति है कि उसे जो पहला ठीक उत्तर मिला उसी को स्वीकार कर लिया, तो कक्षा को पता रहता है कि जब वह दूसरे उत्तर के लिये कहे तो पहला उत्तर त्रुटीपूर्ण है, और इसी के अनुसार वह उत्तर भी देते हैं।

परन्तु यदि उसकी यह प्रवृत्ति नहीं है, तो दूसरा शिशु जिससे प्रश्न पूछा जाये, केवल प्रश्न पूछे जाने के फल स्वरूप, यह अनुमान नहीं लगा सकेगा कि पहला उत्तर ठीक था अथवा नहीं। इसलिये, उसे स्वयं अपने चिन्तन पर निर्भर करना और अपने ऊपर भरोसा करना पड़ेगा।

१२. शिक्षक को अपने प्रश्नों के रूप में विभिन्नता उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये। एक ही बात भिन्न-भिन्न ढंगों से पूछी जा सकती है। एक ही ढर्रे से कार्य करने की प्रवृत्ति में फंस जाना सदैव खतरनाक होता है। शिशु भी ऐसा ही करेंगे, यह बात उनकी चिन्तन शक्ति के विकास के लिये घातक होगी। उदाहरणतः प्रश्न "कपास कहां पैदा होती है ?" को दूसरे रूप में कहा जा सकता है "यदि तुम कपास का पौधा देखना चाहो, तो कहां जाओगे ?"

(ङ) शिष्यों के उत्तर के प्रति शिक्षक का व्यवहार—शिक्षक को उत्तरों के प्रति यथा सम्भव सदैव गुणग्राही होना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी-कभी मनुष्य अधिक गुणग्राही नहीं हो सकता और शिष्य को बतलाना होगा कि उसका उत्तर कहां त्रुटिपूर्ण है। परन्तु इसी के साथ-साथ शिक्षक जो कुछ भी गुणग्रहण (मूल्यांकन) प्रदर्शित कर सकता है, अवश्य करे। शिशु को प्रोत्साहन की आवश्यकता है।

२. अपूर्ण उत्तर का प्रारम्भिक विन्दु के रूप में उपयोग किया जा सकता है और सम्पूर्ण तथा शुद्ध उत्तर उसी एक शिष्य के द्वारा, जिससे प्रश्न किया जा रहा है, अथवा पूरी कक्षा के द्वारा धीरे-धीरे निकलवाया जा सकता है। इस का अर्थ यह है, कि जो प्रश्न अंशतः त्रुटिपूर्ण अथवा अपूर्ण हो, उसका उपयोग शिशुओं के लिये चिन्तन में सहायक साधन के रूप में किया जा सकता है। प्रत्येक दशा में, शिक्षक को प्राप्त वस्तुओं का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिये। "हां ! यह ठीक है, परन्तु इस सम्बन्ध में हम कुछ और भी कह सकते हैं", "यह ठीक है, क्या कोई इस सम्बन्ध में कुछ और भी जोड़ सकता है।" उत्तर के प्रति कुछ इसी प्रकार के प्रतिवादन के द्वारा आवश्यक प्रोत्साहन मिलता है और विषय भी इस प्रकार आगे बढ़ता है कि उसका आगे विकास हो सके।

३. कभी-कभी कोई उत्तर, विशेषकर अच्छे शिष्यों का उत्तर पुनः कक्षा के समक्ष रखा जा सकता है। कक्षा से पूछा जा सकता है कि उत्तर ठीक है अथवा नहीं, वह उससे सहमत हैं या नहीं ?

४. यदि उत्तर निश्चित रूप से अशुद्ध हो, तो शिक्षक को यह बात बतला देनी चाहिये, और **उस कारण की व्याख्या भी करनी चाहिये कि उत्तर अशुद्ध क्यों है**। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बहुधा शिक्षक केवल यह कह कर कि 'नहीं, यह अशुद्ध है', आगे बढ़ जाता है यहाँ तक कि वह ठीक उत्तर तक पहुँच जाता है परन्तु यह नहीं बतलाता कि पहला उत्तर क्यों अशुद्ध है। इसका परिणाम यह होता है कि जिस शिष्य ने अशुद्ध उत्तर दिया था बहुधा उसे यह पता नहीं चलता कि उत्तर कहाँ और क्यों अशुद्ध है। वह अपने तथा स्वीकृत उत्तरों का अन्तर तो देख सकता है परन्तु यह नहीं समझता कि उससे त्रुटि कहां हुई। जब तक शिक्षक निपुणता पूर्वक न बतलाये कि उसका उत्तर क्यों अशुद्ध है, वह कभी भी शिक्षा प्राप्त नहीं करेगा, वरन् जहाँ तक उस विषय का सम्बन्ध है धीरे-धीरे व्यग्रता में अधिकाधिक फंसता जायेगा। यह बात विशेषकर गणित के लिये सत्य है परन्तु सत्य सभी विषयों के लिये है। शिक्षक को सदैव व्याख्या करनी चाहिये कि कोई त्रुटिपूर्ण उत्तर क्यों त्रुटिपूर्ण है।

अशुद्ध उत्तर का कभी-कभी प्रारम्भिक विन्दु के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। उसका निपुणतापूर्ण उपयोग कर, शिष्य के द्वारा स्वयं खोज कराई जा सकती है कि उससे त्रुटि कहाँ हुई। यदि शिक्षक समझता है कि उस शिष्य के लिये कुछ संकेत मिलने पर स्वयं अपनी त्रुटि खोज निकालना सम्भव है, तो निश्चय ही, शिष्य के लिये स्वयं अपने को शुद्ध करना अधिक उत्तम होगा। जो उत्तर अंशतः शुद्ध और अंशतः अशुद्ध है, उसे अपूर्ण उत्तर की भाँति ही लेना होगा।

५. शिक्षक को निश्चित कर लेना चाहिये कि शिष्य अपने उत्तरों में जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वास्तव में उनका अर्थ भी समझते हैं। कभी-कभी शब्दों का प्रयोग तोते की भाँति होता है, यद्यपि उनसे अर्थ तो निकलता है परन्तु वह शिक्षक द्वारा किसी चिन्तन अथवा बोधन का फल नहीं होते। यदि शिक्षक को किन्चित मात्र भी सन्देह हो कि किसी शिशु के उत्तर में केवल शब्द ही शब्द हैं, उसे इस समस्या को शिशु के संग अधिक गहराई से लेना होगा और निश्चित करना होगा कि वह जिस विषय में बातें कर रहा है, वास्तव में उसका अर्थ समझता है।

६. कभी-कभी उत्तर वह न होंगे जिनकी शिक्षक को आशा अथवा इच्छा थी। ऐसी दशा में शिक्षक को परिस्थिति के अनुकूल कार्य करने के योग्य होना

चाहिये। यदि उत्तर बुद्धिपूर्ण है, तो वह उसका भी उपयोग कर सकता है चाहे उसे उस योजना से कुछ दूर हट जाना पड़े जो उसने अपने पाठ के लिये निर्धारित की थी। शिक्षक को शीघ्रतापूर्वक निर्णय करना पड़ता है कि ऐसे प्रश्न को लेकर बढ़ना लाभदायक होगा अथवा नहीं। यदि वह समझता है कि किसी लाभप्रद विषय के द्वार खुल रहे हैं तो उसे कभी भी अपने को अपनी पाठ-योजना के द्वारा जड़ रुप से बँधा रहने की आज्ञा नहीं देनी चाहिये। इसके विपरीत, यदि वह निर्णय करता है कि उत्तर के द्वारा ऐसी बातें उत्पन्न होंगी जो सर्वथा अनुचित हैं और उनका कोई उपयोग नहीं तो उसे आप अथवा कक्षा को व्यर्थ मार्गों में भटक जाने की आज्ञा नहीं देनी चाहिये।

७. सिद्धान्ततः शिक्षक को अपने उत्तर द्वारा शिष्य की सहायता नहीं करनी चाहिये। यदि शिष्य उसी में फँस कर रह जाये, तो शिक्षक को दूसरे शिष्य से उसकी सहायता करवानी चाहिये। इस क्रिया का किसी कट्टर सिद्धान्त के रूप में निर्धारित नहीं किया जा सकता। शिक्षक को परिस्थितियों के अनुसार निर्णय करना होगा, परन्तु कहीं शिष्यों को पता चल जाये कि शिक्षक उन्हें शब्द, और यदि वह आधा उत्तर निकाल लें तो आधा उत्तर उपलब्ध करने को तत्पर है, तो वह धीरे-धीरे ठीक-ठीक और निश्चित उत्तर देने की चिन्ता न करने की प्रवृत्ति में फँस जायेंगे, और बातों पर स्वयं सम्पूर्ण तथा उचित रूप से विचार नहीं करेंगे।

८. इस विषय में कुछ मतभेद है कि शिक्षक को सदैव सम्पूर्ण वाक्यों में उत्तर पाने के लिये जोर देना चाहिये अथवा नहीं। मैं समझता हूँ यह पाठ की श्रेणी पर निर्भर करता है। सामान्य रूप से मौखिक कार्य में शिक्षक को वह उत्तर स्वीकार कर लेने चाहियें जो साधारण वार्तालाप मे दिये जाते हैं। अर्थात् मौखिक गणित में सम्पूर्ण वाक्यों के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। और पाठ्य–पुस्तक के वार्तालापरूपी पाठ में वार्तालापरूपी उत्तर स्वीकार करने चाहियें। परन्तु जिन पाठों में शिक्षक का उद्देश्य भाषा में वर्णन शक्ति का विकास करना हो, अथवा इतिहास और भूगोल के पाठों में जहाँ निश्चित वर्णन का महत्त्व होता है, सम्पूर्ण वाक्यों का प्रयोग होना चाहिये। इस सम्बन्ध में शिक्षक को पाठ के उद्देश्य, उसकी श्रेणी, और उत्तरों द्वारा शिशु की समान वर्णन प्रवृत्तियों पर परिणाम स्वरूप पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर निर्णय करना होगा।

९. यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं, कि यद्यपि यह रीति तो साधारण

है तथापि मिल कर उत्तर देने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये। और न दो-तीन उत्साही शिष्यों को चिल्लाकर उत्तर देने या दूसरों के कार्य में, जो मन्द हैं अथवा त्रुटि कर रहे हैं, विघ्न नहीं डालने देना चाहिये। जैसा कि हम देख चुके हैं कक्षा में साधारण शिष्टाचार का पालन अवश्य होना चाहिये।

१०. कभी-कभी एक प्रवृत्ति यह भी पाई जाती है, जिसका कोई औचित्य नहीं है, कि शिक्षक किसी शिशु द्वारा ठीक उत्तर प्राप्त होने पर उसे लगभग यांत्रिक ढंग से दुहराता है। जब तक कि शिक्षक कक्षा पर उस उत्तर का प्रभाव नहीं डालना चाहता, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वह प्रत्येक उत्तर के साथ ऐसा ही करना अपनी प्रवृत्ति बना लेता है तो जब वह सचमुच प्रभाव भी डालना चाहेगा तो कोई अवसर सम्भव न रह जायेगा। यह समय का नष्ट करना है। यदि शिक्षक चाहता है कि उत्तर दुहराया जाये तो स्वयं करने की अपेक्षा किसी दूसरे शिष्य से करवाना अधिक उत्तम होगा। अन्त में, यदि उत्तर न आ रहा हो तो शिक्षक को अपने प्रश्न अथवा दृष्टिकोण पर पुनः विचार करना चाहिये, उसे पांव पटकना और यह न कहना चाहिये, "अच्छा तो फिर लो।"[1]

(च) शिष्यों के प्रश्नों के प्रति शिक्षक का व्यवहार—जब कक्षा प्रश्न पूछने के लिये उत्सुक दिखाई पड़े तो यह उत्तम शिक्षण का लक्षण है। शिक्षक को सभी प्रश्नों का स्वागत करना चाहिये। यह सर्वप्रथम तथ्य है। शिक्षक को अपने शिष्यों को प्रश्न पूछने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। ऐसा करने से, यदि शिक्षक प्रश्नों को उचित ढंग से ले, उसके शिष्य अधिकाधिक शीघ्रता से शिक्षा प्राप्त करते हैं।

२. इसी के साथ-साथ शिक्षक को सम्बद्धता पर भी जोर देना चाहिये। जिन प्रश्नों का चल रहे विषय से कोई लगाव नहीं, उनको ध्यान में रखकर किसी सुविधा के समय पर अलग से हल कर देना चाहिये। परन्तु कक्षा को सम्पूर्ण रूप से ध्यान में रखना है।

३. जैसा हम देख चुके हैं शिष्टाचार पर भी जोर देना चाहिये। शिक्षक को चाहिये कि कई शिष्यों को एक साथ प्रश्न पूछने की आज्ञा न दे। उसे

---

१. एम० स्टर्ट ऐण्ड ई० सी० ओकडेन, मैटर ऐण्ड मेथड इन एजुकेशन, पृ० १८७ (केगन पॉल)

इस पर भी जोर देना चाहिये कि सभी शिष्य पूछे गये प्रश्न और उसके उत्तर को सुनें।

४. जहाँ कहीं संभव हो शिष्यों को अपने प्रश्नों का उत्तर स्वयं खोजने के लिये सहायता देने का प्रयत्न करना चाहिये। कभी-कभी पूछे गये प्रश्नों को एक छोटे से अनुसंधान कार्य अथवा छोटी सी परियोजना के लिये प्रारम्भिक विन्दु बनाया जा सकता है।

५. जब शिक्षक को किसी प्रश्न का उत्तर ज्ञात न हो तो उसे निस्संकोच कह देना चाहिये। उसे उसी अवस्था में न पड़े रहने देना चाहिये। यदि कक्षा में और कोई उत्तर नहीं जानता तो इस प्रश्न को कक्षा द्वारा एक अनुसंधान कार्य की भूमिका बनाया जा सकता है और शिक्षक तथा कक्षा साथ मिलकर उत्तर की खोज में कार्य आरम्भ कर सकते हैं।

६. कभी-कभी शिष्य शिक्षक द्वारा अपने प्रश्नों के उत्तर से सहमत न हों तो शिक्षक को कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये। असहमति कक्षा और शिक्षक द्वारा सयुक्त अध्ययन तथा अनुसंधान कार्य के लिये उत्प्रेरक बन सकती है।

(छ) प्रश्न किस प्रकार उत्प्रेरित किये जायें—शिक्षकों को साधारणतः बहुत अधिक प्रश्नों के कारण चिन्ता नहीं होती। कठिनाई तो यह होती है कि कक्षा को किस प्रकार प्रश्न पूछने के लिये उत्प्रेरित किया जाये। मौलिक रूप से यह रुचि ही की समस्या है। यदि शिष्यों को किसी विषय या पाठ में रुचि हुई तो वह प्रश्न पूछेंगे। इस प्रकार रुचि उत्प्रेरित करने के लिये जो कुछ भी किया जायेगा उसके द्वारा प्रश्न भी उत्प्रेरित होंगे। फिर भी दो विशेष विधियाँ हैं जो शिष्यों द्वारा प्रश्न पूछने में विशेष प्रेरणा देते हैं।

१. परियोजना पद्धति के फलस्वरूप, जिसमें कक्षा या कक्षा के समूह किसी उद्देश्य को कार्यान्वित करते हैं, अनेकों प्रश्न पूछे जाते हैं। परियोजना पद्धति के अन्तर्गत साधारण बहुत से कार्य किये जाते हैं तथा चीजें बनाई जाती हैं, जिसके लिये सूचना की आवश्यकता होती है। और इस प्रकार अनेकों प्रश्न पूछे जाते हैं। परियोजना साधारण रूप से कार्य के नये-नये रोचक मार्ग खोल देती है जो परियोजना को कार्यान्वित करने वाले शिशुओं के लिये नये होते हैं और इस प्रकार उत्पन्न होते हैं।

२. दूसरी पद्धति व्यक्तिगत कार्य की है जिसे कभी-कभी डाल्टन योजना

कहते हैं। यद्यपि इस देश में, जहाँ तक मुझे ज्ञान है, प्रारम्भिक पाठशालाओं में व्यक्तिगत कार्य की योजनाओं का प्रयोग नहीं किया गया है, इंगलैण्ड की प्रारम्भिक पाठशालाओं में भी डाल्टन योजना का हमारी तीसरी और चौथी कक्षाओं की समकक्ष कक्षाओं ही में प्रयोग किया गया है। यहाँ अनुसंधान के लिये एक दिशा मिलती है। माध्यमिक पाठशालाओं में इसका प्रयोग करने में कोई कठिनाई नहीं है। कार्य की व्यक्तिगत पद्धति शिष्यों को अपने कार्य के सम्बन्ध में एक दूसरे से तथा अपने शिक्षक दोनों से प्रश्न पूछने को निस्सन्देह प्रोत्साहित करती है।

साधारण रीति से जब कक्षा को पता चलता है कि शिक्षक प्रश्नों का स्वागत करता है और उनके प्रश्नों के संग प्रोत्साहन तथा सहानुभूति का व्यवहार होता है, तो कक्षा में शिष्यों की एक बड़ी संख्या प्रश्न पूछने को तैयार होगी। कक्षा को प्रश्न पूछने के लिये प्रोत्साहन देने में शिक्षक के व्यवहार का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

सारांश रूप में, निम्नलिखित को अनुचित प्रश्न समझना चाहिये और जहाँ तक सम्भव हो, उनसे बचना चाहिये।

१. जिन प्रश्नों का पुस्तक के शब्दों में उत्तर दिया जा सकता है; अर्थात् वह प्रश्न जो शिष्यों द्वारा चिन्तन नहीं करवाते।

२. लम्बे और पेंचीले प्रश्न, अर्थात् ऐसे प्रश्न जो सहज समझ में नहीं आते।

३. संदिग्ध अथवा अनिश्चित प्रश्न, अर्थात् ऐसे प्रश्न जो शिष्य को सन्देह में डाल देते हैं कि शिक्षक सचमुच किधर लिये जा रहा है।

४. चालक प्रश्न, अर्थात् ऐसे प्रश्न जो उत्तर की ओर संकेत करते हैं।

५. ऐसे प्रश्न, जो शुद्ध उत्तर का अनुमान लगाने का पचास प्रतिशत अवसर दे देते हैं, उदाहरणतः वह हिन्दू था अथवा सिक्ख ?

६. ऐसे प्रश्न, जिसका उत्तर सम्भवतः कक्षा न दे सके।

७. तिकड़मपूर्ण प्रश्न, कभी-कभी इनका प्रयोग, कक्षा को चेतावनी देकर भिन्नता उत्पन्न करने के लिये या खेल के समान किया जा सकता है। परन्तु साधारणः रीति से यह अनुचित प्रश्न होते हैं।

८. दो प्रश्न एक में, उदाहरणतः क्या अकबर एक उदार सम्राट था और वह दूसरे धर्म वालों के संग कैसा व्यवहार करता था।

९. ऐसे प्रश्न जो रट्टूपन को प्रोत्साहित करते हैं (जिसमें अभ्यास कार्य सम्मिलित नहीं है ।)

समूह कार्य

कक्षा को समूहों में विभाजित करने से बहुधा शिक्षक कक्षा-शिक्षण की हानियों से बच सकता है । इसकी इकाई छोटी हो जाती है जिसके फलस्वरूप शिष्यों पर व्यक्तिगत ध्यान देने का अधिक अवसर उपलब्ध होता है । न्यूनतम तथा अधिकतम बुद्धि तथा प्राप्ति के अन्तर का क्षेत्र पूरी कक्षा की अपेक्षा समूह में कम विस्तृत होता है । समूहों का प्रयोग कर हम शिशुओं का कक्षा में श्रेणी-करण कर सकते हैं । समूहों के द्वारा शिष्यों से अधिक कार्यशील कार्य प्राप्त करना सम्भव होता है । उसी के साथ-साथ शिशुओं को अपनी पहलकारिता और नेतृत्व की शक्तियों के प्रयोग का अवसर मिलता है ।

समूह व्यक्ति और कक्षा के बीच की चीज है । इस प्रकार समूहों के संग कार्य करना बहुधा शिक्षक को व्यक्तिगत कार्य तथा शिक्षण के लाभों को मिला लेने के योग्य बना देता है । अत्यधिक व्यक्तिवाद का भय टल जाता है । शिशुओं को सहयोग तथा साथ मिलकर कार्य करने की प्रशिक्षा मिलती है और दूसरी ओर उन्हें कार्य भी करना पड़ता है जो कक्षा शिक्षण चलते समय कदाचित् ही करते हों । फिर भी स्मरण रखना चाहिये कि समूहों में कार्य करना कोई ऐसी पद्धति नहीं है जिसका **प्रत्येक** विषय में **हर** समय या किसी भी समय प्रयोग किया जा सकता है । यह एक पद्धति है जो शिक्षक को इस योग्य बना देगी कि वह कक्षा के कार्य में विभिन्नता उत्पन्न कर सके और बारम्बार इस ढंग का कार्य देता रहे जिसमें शिशु के वास्तविक विकास के आवश्यक तत्व निहित हों ।

समूहों का आकार दो शिष्यों से लेकर समस्त कक्षा के आधे तक का हो सकता है । समूह का आकार पूर्णतया किये जाने वाले कार्य के स्वरूप ही पर निर्भर करेगा । उदाहरणतः दो-दो के समूहों का प्रयोग गणित कार्य में हो सकता है । ताश का प्रयोग पहाड़े अथवा मौखिक गणित में कार्य के लिये किया जा सकता है । उदाहरणतः प्रत्येक शिशु के पास एक ताश होता है जिस पर प्रश्न और उसके उत्तर अंकित होते हैं, वह अपने संग के शिशु से प्रश्न करता है और उत्तर का मिलान करता है । तीन-तीन के समूह पठन कार्य के

लिये बनाये जा सकते हैं। एक अच्छे पाठक को दो कमजोर शिष्यों के संग रख दिया जाता है जो उन्हें पाठ पढ़ने में सहायता देता जाता है। जहाँ पाठ-शाला को भवनों में विभक्त कर दिया जाता है वहाँ भवनों के द्वारा ही वह संगठन उपलब्ध होता है जिसका उपयोग समूह-कार्य के लिये किया जा सकता है। यदि चार भवन हों, जिनमें से प्रत्येक भवन के सदस्य प्रत्येक कक्षा में हों, तो शिक्षक के लिये अपनी कक्षा में पहले ही से चार समूहों का संगठन तैयार है, जिसका भिन्न-भिन्न प्रकार के समूहकार्यों तथा प्रतियोगिताओं के लिये प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षक किये जाने वाले कार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न आकार के समूहों का प्रयोग करेगा।[1]

कभी-कभी बड़ी कक्षा में परियोजना पद्धति का उपयोग हो रहा हो तो कक्षा को समूहों में विभक्त करना लाभप्रद होता है। (यहाँ भवन-समूहों का उपयोग कर लाभ उठाया जा सकता है) तब प्रत्येक समूह स्वयं अपनी परियोजना को कार्यान्वित कर सकता है। परियोजनायें एक ही अथवा भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। एक बड़ी कक्षा को एक साथ किसी एक परियोजना के अन्तर्गत कार्य करने देने में कठिनाई यह है जब तक परियोजना इतनी बड़ी न हो कि अधिकांश को भिन्न-भिन्न प्रकार की कार्यशीलताओं में लगना पड़ जाये, तब तक व्यवहारिक अथवा शारीरिक कार्य करने के समय बहुत से शिशुओं को कुछ भी न करना होगा। इसलिये बड़ी कक्षा में उचित होगा कि परियोजनाओं के लिये छोटे समूह बना लिये जायें।

किसी भी प्रकार के समूह-संगठन का उपयोग करते समय शिक्षक को कुछ बातों पर अत्यन्त सावधानी से दृष्टि रखनी पड़ेगी।

१. उसे अपने समूहों को यथासम्भव समान रूप से श्रेणीबद्ध करना होगा। यदि दो-दो के समूहों का उपयोग हो रहा हो तो दोनों शिशुओं को बुद्धि तथा प्राप्ति में समान रूप में एक दूसरे के अनुकूल होना चाहिये। यदि वह समूहों का प्रतियोगितात्मक कार्यों के लिये उपयोग कर रहा है तो स्वाभाविक है, कि समूहों को यथासम्भव समान रूप से व्यवस्थित होना चाहिये। ऐसी दशा में एक

---

१. समूह-कार्य के सम्बन्ध में क्या-क्या किया जा सकता है, इसके विस्तृत विश्लेषण के लिये देखिये डब्ल्यू० एम० रायबर्न की पुस्तक 'दि प्रोग्रेसिव स्कूल' पृ० १६७-६८ (ओ० यू० पी०) १९३८

समूह के भीतर कुछ कमजोर शिष्य होंगे कुछ मध्यम होंगे और कुछ चतुर होंगे। यदि समूहों का परियोजना कार्य के लिये उपयोग हो रहा है तो इस तथ्य को अत्यन्त सावधानी से दृष्टि में रखना चाहिये। सभी पहलकारिता वाले शिष्यों को एक ही समूह में नहीं रख देना चाहिये। प्रत्येक समूह को पूरी कक्षा के भीतर श्रेणियों के अन्तर का प्रतीक होना चाहिये।

२. शिक्षक को सावधानी पूर्वक ध्यान रखना होगा कि समूह में सारा कार्य वही थोड़े से शिष्य न कर डालें जो उसे भली-भाँति कर सकते हैं और दूसरे चुप-चाप बैठे केवल देखते रहें। समूह कार्य की यही सबसे बड़ी कठिनाई है। स्वाभाविक है कि जो शिशु किसी कार्य को भली-भाँति कर सकते हैं, उसे करना चाहेंगे, और दूसरे जो उसमें इतने निपुण नहीं हैं सारा कार्य अपने से अधिक निपुण शिष्यों के करने के लिये छोड़ देगें। यह भी सम्भव है कि कमजोरों को रोचकता हीन और उस कार्य को ही करने को मिले और अधिक रोचक कार्य तेज शिशु ही ले लें। यह बात परियोजना कार्य में बहुधा दिखाई पड़ेगी। कोई समूह कार्य करता प्रतीत होगा परन्तु वास्तव में थोड़े से अधिक उत्साही तथा रुचि रखने वाले शिशु ही अधिकांश कार्य कर रहे होंगे और दूसरे शिशु अपना अधिकतर समय अकर्मण्य रूप से दूसरों को कार्य करते हुये देखने ही में व्यतीत करते होगे। निश्चित है कि प्रत्येक समूह में नेता अवश्य होंगे और शिक्षक को ध्यान रखना होगा कि सारा कार्य नेता ही न कर डालें, वरन् कार्य तथा उत्तरदायित्व का यथा सम्भव समान विभाजन करना होगा। समूह में प्रत्येक व्यक्ति को अपना कार्य पूरा करने का अवसर मिलना चाहिये। यह कठिनाई दो-तीन के छोटे-छोटे समूहों के साथ उत्पन्न नहीं होती परन्तु बड़े समूहों में विशेषकर यदि उनका उपयोग प्रतियोगिता के लिये हो रहा है, वास्तविक रूप में समक्ष आती है। ऐसी प्रतियोगिताओं की इस प्रकार व्यवस्था करनी चाहिये कि जो कुछ कार्य हो रहा हो उसमें प्रत्येक समूह का प्रत्येक शिशु पूरा-पूरा भाग ले सके। यदि कोई समूह किसी खेल अथवा प्रतियोगिता को जीतने के लिये इच्छुक है, तो स्वभावतः वह अपने सर्वोत्तम शिष्यों को अधिक से अधिक कार्य करने का अवसर देगा। शिक्षक को अपनी प्रतियोगितायें इस ढंग से व्यवस्थित करनी चाहियें, कि यह बात सम्भव हो सके।

३. जैसा कि हम पहले ही प्रस्तावित कर चुके हैं समूह का आकार कार्य के विषय तथा स्वरूप द्वारा निर्धारित होगा। शिक्षक को समूह की संख्या वे

सम्बन्ध में किसी कट्टर सिद्धान्त द्वारा बधंन युक्त न होना चाहिये। समूह कार्य का एक लाभ यह है कि यह कार्य करने की एक लचीली पद्धति है जिसे हर प्रकार की स्थितियों और परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जा सकता है।

४. शिक्षक को निश्चित कर लेना चाहिये कि प्रत्येक समूह ठीक-ठीक समझता है कि उसे क्या करना है। यह विशेष रूप से उस समय आवश्यक है जब शिक्षक इस कार्य को ऐसे शिशुओं के संग आरम्भ कर रहा हो जो उससे अपरिचित हैं। उन्हें यह बोध करने में विलम्ब न होगा कि इसमें क्या कार्य निहित हैं, परन्तु थोड़े समय में निपुणता पूर्वक आदेश दे देने होंगे और शिक्षक के लिये यह देख लेना सदैव आवश्यक होगा कि प्रत्येक समूह ठीक-ठीक समझ जाये कि क्या करना है। ऐसा न करने के फलस्वरूप अत्यन्त उलझाव उत्पन्न होगा और अधिक समय तथा परिश्रम नष्ट होगा।

५. इसी से जुड़ा हुआ अवेक्षण का प्रश्न है। जिस समय समूह-कार्य कर रहे हों, उनका सावधान पूर्वक अवेक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षक अपने समूहों को किसी कार्य में लगा कर उन्हीं तक कार्य को नहीं छोड़ सकता। उसे अपना पूरा समय इसमें व्यतीत करना है कि समूह से दूसरे समूह तक घूम कर पहुँचता रहे और यह देखता रहे कि वह ठीक से कार्य कर रहे हैं, और जैसे चाहिये था वैसा ही उनका कार्य है तथा समूह के भीतर सभी अपना भाग पूरा कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ आवश्यक हो वहाँ कार्य में सहायता दे। समूह कार्य का अर्थ शिक्षक के लिये विश्राम नहीं होता। उसे निरन्तर अपने समूहों का अवेक्षण करना पड़ेगा।

६. प्रतियोगिता का प्रयोग आवश्यकता से अधिक न होना चाहिये। यह रुचि उत्पन्न करने तथा कार्य के लिये प्रेरणा देने में लाभ पहुँचाती है, परन्तु दूसरी बहुत सी वस्तुओं की भाँति यह उत्तम सेवक तो है परन्तु हानिकारक स्वामी भी है। शिक्षक को यह धारणा विकसित न होने देनी चाहिये कि जब भी समूह कार्य किया जाये प्रतियोगिता अवश्य होनी चाहिये। यदा कदा प्रतियोगिता होने से लाभ होता है, परन्तु वह कभी भी आवश्यकता से अधिक न हो और सदैव उसे एक सीमा के भीतर बाँधे रखना चाहिये।

७. समूहों का प्रयोग पाठशाला-अतिरिक्त कार्य-शीलताओं के लिये भी किया जा सकता है। समूह-धारण ही का प्रयोग बुल्फ़ कब, गर्ल्सगाइड और बालचर संगठनों में किया गया है। समूहों का उपयोग नाटक खेलने, पुस्तिकायें

बनाने, कहानी प्रतियोगिता, और पेरेन्ट्स डे (वार्षिकोत्सव) में कार्य प्रदर्शनी आदि जैसे पाठशाला-अतिरिक्त कार्यों में किया जा सकता है।

८. यह आवश्यक नहीं है कि शिशु सदैव एक ही समूह में रहे। (जब समूह भवनों के अनुसार बने हों तो दूसरी बात है)। इस प्रकार एक शिशु गणित कार्य के लिये एक समूह में परन्तु भूगोल कार्य के लिये दूसरे समूह में रह सकता है। यह बहुत कुछ शिशु की योग्यता पर निर्भर करेगा। भिन्न-भिन्न विषयों में उसकी योग्यता समान नहीं होगी इसलिये उसका समूह भी एक ही होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार भी यह पद्धति लचीली होती है और शिक्षक को अपनी पाठशाला तथा कक्षा की परिस्थितियों के अनुसार निर्णय करना चाहिये।

समूह कार्य का जिस काल में सर्वोत्तम उपयोग हो सकता है, आठ से बारह वर्ष के शिष्यों की अवस्था है। इस काल से पूर्व, यद्यपि शिशु दूसरों के संग होना और यह अनुभव करना पसन्द करते हैं कि दूसरे भी उनके निकट हैं, तथापि उनमें दूसरों के साथ मिलकर कार्य करने अथवा ऐसे खेल, जिनमें लेशमात्र भी सहयोग की आवश्यकता पड़ती हो, खेलने की प्रवृत्ति नहीं प्रकट होती। इसी आठ से बाहर तक की 'झुण्ड' अवस्था में हम शिशुओं को समूह और दल बनाने तथा समूहों में परियोजनायें कार्यान्वित करने के लिये उत्सुक देखते हैं। इस अवस्था के पश्चात् फिर व्यक्तिवाद अथवा व्यक्तियों के मध्य अधिक घनिष्ट की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। यह सत्य है कि हमें युवावस्था में मण्डली वाले खेलों आदि चीजों के द्वारा स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति की काट करनी पड़ती है और जहाँ-जहाँ सम्भव हो, सहयोग की प्रशिक्षा देनी पड़ती है। परन्तु उत्प्रेरण तथा रुचि के दृष्टिकोण से समूह-कार्य की पद्धतियाँ बड़े शिष्यों के लिये उतनी सफल नहीं होतीं जितनी कि 'झुण्ड' अवस्था वालों के लिये होती हैं।

व्यक्तिगत कार्य [१]

व्यक्तिगत कार्य की पद्धतियां कक्षा-शिक्षण के कुछ दोषों को समाप्त करने

---

१. देखो डब्ल्यू. एम. रायबर्न की पुस्तक "सजेशन्स फॉर दि टीचिंग ऑव इंगलिश" पृ० ६८-९५ (ओ० यू० पी०) १९४२; सजेशन्स फॉर दि टीचिंग आफ दि मदर टंग, पृ० १५७-७० (ओ० यू० पी०) १९४३; दि प्रोग्रेसिव स्कूल पृ० १०८-३४ (ओ० यू० पी०)

का प्रयत्न करती हैं। व्यक्तिगत कार्य के उद्देश्य हैं—प्रत्येक शिशु पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान अवश्य दिया जाये, प्रत्येक शिशु को स्वयं अपनी गति से कार्य करने का अवसर देना, यह निश्चित करना कि जो मन्द शिशु हैं उन पर तेज शिशुओं की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाये (क्योंकि उन्हें अधिक की आवश्यकता है), शिक्षक को इस योग्य बना दिया जाये कि वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिये उनकी आवश्यकताओं के अनुसार अपनी पद्धतियों में परिवर्तन कर सके, इसके अतिरिक्त शिशुओं को स्वयं अपने लिये कार्य तथा चिन्तन करने, स्वयं अपने पर विश्वास करने और अपने आप अध्ययन करने की प्रशिक्षा दी जाये।

व्यक्तिगत कार्य की सर्वोत्तम पद्धति डाल्टन योजना कहलाती है। इसके बहुत से संशोधित रूप चल रहे हैं परन्तु 'नियुक्त-कार्य' का उपयोग लगभग सभी में समान है, जिस कारण व्यक्तिगत कार्य की पद्धति को कभी-कभी नियुक्त कार्य प्रथा कहा जाता है।

नियुक्त-कार्य कार्य की एक योजना है जो इस प्रकार बनाई जाती है कि शिशु के लिये समय की एक इकाई तक चलती रहे, यह इकाई साधारण रूप से एक सप्ताह की निर्धारित की जाती है। नियुक्त कार्य, इस विधि से निर्धारित किया जाता कि शिशु को थोड़ा सा लिखने का कार्य, थोड़ा सा याद करने का और थोड़ा सा लिखित कार्य करने को दिया जाता है और इस पूरी नियुक्त कार्य के समय में शिशु को अपने कार्य में सहायता देने और उसे स्वयं अपने चिन्तन करने की स्थिति में लाने के उद्देश्य से अध्ययन के लिये संकेत मिलते रहते हैं इस प्रकार मातृभाषा सम्बन्धी नियुक्त कार्य में शिष्य से अपनी पाठ्य-पुस्तक के कुछ अन्शों को देखने को कहा जायगा। कठिन शब्दों अथवा वाक्य खण्डों की व्याख्या की जायेगी। प्रश्न पूछे जायेंगे। उसे इन प्रश्नों का उत्तर लिखने अथवा मौखिक उत्तर तैयार करने का कार्य करना होगा। यह प्रश्न ऐसे होगे कि उनके कारण उसे पाठ्य-पुस्तक के नियुक्त अंश का बुद्धिमानी पूर्वक अध्ययन करना पड़े। वह चिन्तन के लिये क्षेत्र भी खोल देंगे। शिशु से कोई कहानी अथवा संक्षिप्त निबन्ध लिखने को कहा जा सकता है और इसके लिये कुछ आदेश दे दिये जायेंगे। दूसरे भी मौखिक अथवा लिखित अभ्यासों का भी, जिन्हें शिक्षक करवाना चाहे, नियुक्त-कार्य में स्थान होगा।

जब कोई शिशु अपना नियुक्त कार्य पूरा करले, अर्थात् जब वह नियुक्त

अंशों का अध्ययन करले, समस्त लिखित कार्य जो करना था पूरा करले, जितने प्रश्नों के मौखिक उत्तर चाहियें थे, उनके उत्तर तैयार करले तो वह अपने शिक्षक के पास अपने कार्य की परीक्षा करवाने आता है। शिक्षक उसके लिखित कार्य को शुद्ध कर देता है, मौखिक कार्य की परीक्षा करता है और यदि कार्य संतोषजनक ढंग से किया गया है तो शिष्यों को नया नियुक्त कार्य दे देता है। इस नियुक्त कार्य का प्रारम्भ करने से पूर्व शिष्य अपने पिछले नियुक्त कार्य की त्रुटियाँ शुद्ध कर लेता है।

जब वह नियुक्त कार्यों के शुद्ध करने में व्यस्त नहीं होता तो शिक्षक उन लोगों को सहायता देता रहता है जिनको इसकी आवश्यकता रहती है। प्रत्येक शिशु किसी भी समय शिक्षक के पास सहायता के लिये आने को स्वतंत्र होता है। प्रत्येक शिष्य किसी भी समय पुस्तकालय में पुस्तकों की सहायता लेने के लिये भी स्वतन्त्र होता है। नियुक्त कार्य के अन्तर्गत पुस्तकालय की पुस्तकों तथा पाठ्य पुस्तकों को बारम्बार देखना होगा।

प्रत्येक शिष्य के पास एक विन्दुरेखा कार्ड और शिक्षक के पास एक विन्दु-रेखा पत्र होता है। जब शिष्य का नियुक्त कार्य स्वीकृत हो जाता है तो शिशु के कार्ड के साथ-साथ शिक्षक के कार्ड पर भी तिथि अंकित कर दी जाती है, जिससे दोनों के पास किये गये कार्य का प्रमाण प्राप्त रहता है और शिक्षक एक ही दृष्टि में कक्षा के भीतर सभी की स्थिति को देख सकता है। स्वभाविक है कि शिशु भिन्न-भिन्न गतियों से कार्य करेंगे और कक्षा शीघ्र ही कार्य मग्न हो जायेगी। तब शिक्षक को मन्द-गति वालों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर उन्हें सहायता देनी पड़ेगी।

शिक्षक किसी ऐसी कठिनाई के लिये, जो सामान्य प्रतीत होती है, पूरी कक्षा को किसी भी समय एक साथ ले सकता है। जो लोग आगे बढ़ चुके हैं, उनके लिये यह दुहराने का कार्य करेगा। सदैव ही एक अच्छा बड़ा गुट्ट उपस्थित रहेगा जो बहुत कुछ साथ रहकर कार्य करेगा। कक्षा के छितरा जाने के भय का निराकरण करने के लिये, जहाँ नियुक्त कार्यों का एक पूरा सेट हो, वहाँ उसका वही संशोधित रूप लेना चाहिये जो आवश्यक न्यूनतम कार्य हो। इनमें प्रत्येक के लिये लगभग एक सप्ताह लगना चाहिये। वह सप्ताह के आरम्भ में दे दिये जाते हैं और तब शिक्षक आवश्यक समझता हो तो वह कुछ तथ्यों की व्याख्या करने के लिये कक्षा को सामूहिक रूप से ले सकता है।

तब सप्ताह के अन्त तक सभी इस नियुक्त-कार्य को समाप्त कर चुके होंगे, और दूसरे सप्ताह के प्रारम्भ में दूसरा नियुक्त-कार्य बांट दिया जाता है। जो लोग सप्ताह समाप्त होने के पूर्व ही अपना नियुक्त-कार्य पूरा कर लेते हैं, उनके लिये नियुक्त-कार्यों की एक दूसरी सूची तैयार की जाती है, और जैसे ही कोई न्यूनतम नियुक्त-कार्य समाप्त कर लेता है, उसे एक पूरक कार्य दे दिया जाता है। वह उसी पर कार्य करता है, और दूसरे सप्ताह के प्रारम्भ में उसे छोड़ देता है, यदि दूसरा न्यूनतम नियुक्त-कार्य समाप्त करने पर उसके पास समय रहा तो उसे फिर से ले लेता है। यह पद्धति कक्षा को साथ न रखने की कठिनाई का निराकरण कर देती है, साथ ही तेज शिष्यों को अधिक कार्य करते जाने की आज्ञा भी दे देती है।

व्यक्तिगत कार्य पद्धतियों का प्रयोग करते समय नियुक्त कार्यों के निर्धारित करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। यही पूरी पद्धति का मूल आधार है। फिर, शिक्षक को बहुधा यह भी प्रतीत होगा कि नियुक्त कार्यों का थोड़ा बहुत शुद्ध करना (विशेषकर जब कक्षा वही हो) पाठशाला कार्य समाप्त होने के पश्चात् भी आवश्यक होगा। पच्चीस शिशुओं तक की कक्षा के लिये इसकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी परन्तु बड़ी कक्षाओं में सारा शुद्धि-कार्य पाठशाला के घन्टों ही मे पूरा कर लेना सम्भव नहीं है। फिर भी अधिकतर शिक्षक देखेंगे कि यह शिक्षण की अत्यन्त संतोषप्रद विधि है और इस योग्य है कि शुद्ध कार्य में जो थोड़ा सा अतिरिक्त समय लगता है, लगाया जाये। इसका शिष्यों की शिक्षा-प्राप्ति तथा कार्य-प्रवृत्तियो पर बड़ा उत्तम प्रभाव पड़ता है और उनमें अधिक आत्म-विश्वास उत्पन्न होता है और कक्षा शिक्षण उन्हें स्वयं चिन्ता करने के लिये जितना बाध्य करता है, उससे कहीं अधिक वह इस पद्धति के द्वारा स्वयं अपने लिये चिन्तन करने लगते है। जब तक वह पाठशाला में रहते हैं सारे समय शिक्षा-प्राप्ति तथा का र्यकरते रहते हैं।

अन्वेषण पद्धति

यह पद्धति, जैसा कि उसके नाम से ही पता चलता है, एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा शिष्य स्वयं वस्तुओं का पता लगाता है। शिष्य को खोजक की स्थिति में डाल दिया जाता है और वह ज्ञान-पथ को स्वयं उसी प्रकार ढूंढ निकालता है जिस प्रकार इस समय हम ज्ञात तथ्यों, सिद्धान्तों तथा नियमों का

सर्वप्रथम पता लगाने वालों ने निकाला था। शिक्षण-पद्धति के नाते प्रथम बार प्रो० आर्मस्ट्रांग ने इस शिक्षण विज्ञान को पद्धति के रूप में नियमबद्ध किया। परन्तु यह शिक्षण की एक ऐसी पद्धति है जिसका प्रयोग किसी भी विषय में किया जा सकता है। वैज्ञानिक पद्धति अनिवार्य रूप में विज्ञान के विषय ही तक सीमित नहीं रही।

अन्वेषण पद्धति के द्वारा शिक्षण का उद्देश्य तथ्यों (जैसे विज्ञान, या इतिहास या भूगोल अथवा व्याकरण के तथ्यों) की शिक्षा देना उतना नहीं है जितना कि यह सिखलाना कि तथ्यों का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है, उन्हें किस प्रकार नियमबद्ध किया जाये और उनका प्रयोग कैसे किया जा सकता है। जिन शिष्यों का इस विधि से शिक्षण होता है वह अवलोकक बनना, निश्चित होना तथा स्वयं चिन्तन करना सीख लेते हैं।

इस पद्धति के द्वारा शिक्षण करने में अधिकतर उपमानिक क्रिया का प्रयोग होता है। शिष्यों को स्वयं अपने प्रयास से चाहे पुस्तकों अथवा यंत्रों के उपयोग अर्थात् अनुसंधान करके अथवा शिक्षक के द्वारा सूचना प्राप्त कराई जाती है। व्यक्तिगत कार्य पद्धतियों की आधार-शिला जो सिद्धान्त है, वही अन्वेषण सिद्धान्त है।

अन्वेषण पद्धति इस तथ्य का उपयोग करती है कि शिष्य का स्वयं अपना अनुभव यथार्थ शिक्षा-प्राप्ति की आधार-शिला है। यह एक कार्यशीलता-पद्धति है, जिसके अन्तर्गत शिष्य पूरे समय मानसिक रूप से कार्यशील होता है जिस प्रकार आविष्कारक, खोजक तथा अनुसंधान करने वाले विद्यार्थी हुआ करते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रत्येक विद्यार्थी को अनुसंधानकर्ता विद्यार्थी बना देना है। परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि सभी शिष्यों को थोड़ा बहुत परिज्ञान हो जाये कि वैज्ञानिक पद्धति क्या है और सभी विषयों में अपने कार्य को किस प्रकार वैज्ञानिक भाव तथा वैज्ञानिक दृष्टि से पूरा किया जा सकता है। उनमें एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण और तथ्यों को परखने, वक्तव्यों के स्वीकार करने में चाहे वह पुस्तकों में अथवा समाचार पत्रों में सावधानी बरतने की प्रवृत्ति का विकास हो जाता है। अन्वेषण पद्धति द्वारा शिक्षण अपनी शिक्षण क्रिया की समस्त शक्ति ज्ञान का संचय करने पर नहीं वरन मस्तिष्क के विकास मे लगा देती है।

स्पष्ट है कि हम इस पद्धति का हर समय उपयोग नहीं कर सकते। बहुधा

ऐसे अवसर आते हैं जब शिष्यों को सूचना उपलब्ध करनी पड़ती है और उनके लिये स्वयं बातों का खोज निकालना सम्भव नहीं होता। परन्तु साधारण रीति से हम सूचना उपलब्ध करने पर अत्यधिक जोर देते हैं जो आगे चलकर शिशु के लिये सम्भवतः उपयोगी हो न हो। बहुत सी ऐसी बातें हैं जिसका उसे ज्ञान अवश्य होना चाहिये। और शिक्षक के पास जितना सीमित समय होता है बहुधा उसका बहुत बड़ा भाग शिशु द्वारा इन सभी बातों का स्वयं पता लगवाने ही में व्यतीत हो जायेगा। परन्तु दूसरी ओर बहुधा पाठशाला में सारा समय सूचना उपलब्ध करने ही में बीत जाता है। शिष्य का पर्याप्त समय अन्वेषण सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने में व्यतीत करना होगा चाहे वह परियोजनाओं को कार्यान्वित करना हो, अथवा खेल रूपी पद्धति, वैज्ञानिक अनुसंधान हो या नियुक्त कार्यों को कार्यान्वित करना अथवा कोई भी दूसरी पद्धति हमें यथासम्भव अधिक से अधिक अपना कार्य इसी पद्धति के अनुसार करने की चेष्टा करनी चाहिये। इस विधि से कार्य करने से शिशु को यथार्थ शिक्षा मिलती है।

अन्वेषण पद्धति के प्रयोग के उदाहरण अधिकाश विषयों में पाये जा सकते हैं। भाषा में, जब शिशु व्याकरण के किसी नियम के बहुत से उदाहरण एकत्रित करते हैं और तब स्वयं अपने लिये उस नियम को निर्धारित कर लेते हैं तो उस समय अन्वेषण पद्धति का उपयोग कर रहे होते हैं। विज्ञान में उसका प्रयोग उस समय होता है जब अनुसंधान सचमुच 'अनुसंधान' के रूप में होता है। अर्थात् जब शिष्यों को यह ज्ञात नहीं रहता कि अनुसंधान का परिणाम सम्भवतः क्या होगा। इतिहास में उसका प्रयोग तब होता है जिस समय मौलिक अभिलेखों का मिलान किया जाता है और किसी ऐतिहासिक घटना का विवरण संग्रह किया जाता है। नागरिक शास्त्र में, जब एक ही कार्य भिन्न-भिन्न समाचार पत्रों में छपे उल्लेखों से किया जाता है तो हम अन्वेषण पद्धति का उपयोग कर रहे होते हैं। जब कभी भी हम शिष्य को खोजक की स्थिति में रखने के योग्य होते हैं, जो प्राप्त यंत्रों तथा सूचना का उपयोग कर स्वयं एक परिणाम पर पहुँच जाता है, तो उस समय हम अन्वेषण पद्धति के अनुसार शिक्षण करते होते हैं।

कहानी सुनाना[1]

प्रत्येक शिक्षक को प्रयत्न करना चाहिये कि अच्छा कहानी सुनाने वाला बन जाये। कोई भी निपुणता शिक्षक की इतनी अधिक सहायता नहीं करती जितनी कि कहानी सुनाने की निपुणता। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ भाग्यवानों में जन्म से ही उत्तम कहानियाँ सुनाने की प्राकृतिक क्षमता वर्तमान होती है, परन्तु उसी के साथ-साथ कुछ चीज़ ऐसी भी होती है जिसकी हम किसी न किसी सीमा तक शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं और यह एक ऐसी कला है जिसमें परिश्रम करें तो बहुत अधिक उन्नति कर सकते हैं। यह एक ऐसी कला है जिसको व्यवहार रूप में रखने के लिये हमें अवसर ढूँढने कहीं दूर नहीं जाना पड़ेगा।

प्रत्येक शिक्षक से सिफारिश की जाती है कि कहानी सुनाने की कला पर जो बहुत सी उत्तम पुस्तकें मिल सकती हैं, उनमें से किसी एक को ले और भली भाँति अध्ययन करे। इस अध्ययन से जितना लाभ होगा उतना किसी और ढंग से नहीं हो सकता। यहाँ मैं कुछ संकेत कर देना चाहता हूँ जो सदैव दृष्टिगत रखने योग्य तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करते रहेंगे।

१. कहानी **सुनानी** चाहिये, वह पढ़ी न जाये। यदि कहानी सुनाने वाला कहानी पढ़ता है तो वह कहानी सुनाने वाला नहीं है। और उसके श्रोताओं के लिये कहानी की रोचकता अत्यन्त घट जाती है। हम सब जानते हैं कि हम किसी को पुस्तक में से पढ़ते हुये सुनने की अपेक्षा उसको मौखिक रूप से बतलाते सुनना अधिक पसन्द करते हैं। शिशु बातें बतलाये जाने में हमसे भी अधिक रुचि रखते हैं।

२. इससे यह परिणाम निकलता है कि शिक्षक जो कहानी सुना रहा हो उसका उसे ज्ञान होना चाहिये। कहानी के मध्य में रुक कर कोई पुस्तक टटोलना घातक है। इसका यह अर्थ नहीं कि कहानी को रट लेना आवश्यक है। निस्सन्देह, हो सकता है कि महत्वपूर्ण अंश जैसे प्रारम्भ और अन्त तथा दुहराये जाने वाले वाक्यों को हृदयंगम करना आवश्यक हो परन्तु पूरी कहानी को

---

१. देखो—डब्ल्यू० एम० रायबर्न की पुस्तक 'सजेशन्स फॉर दि टीचिंग आव दि मदर टंग' अध्याय १३ (ओ० यू० पी०)

हृदयंगम करना आवश्यक नहीं है। शिक्षक को अपनी कहानी सुनाना सीख लेना चाहिये। यदि वह रटने से प्रारम्भ करता है तो इस प्रवृत्ति से कभी मुक्त न हो सकेगा। यह अधिक लाभप्रद है कि कहानो आरम्भ से उन महत्त्वपूर्ण वाक्यों को छोड़ कर जो हृदयंगम कर लिये गये हों, अपने ही शब्दों में सुनाई जाये।

३. इसका फिर यह अर्थ हुआ कि भली-भाँति तैयारी की जाये। शिक्षक को घटनाओं के क्रम का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये। कहानी की गति को रोक कर यह कहना कि 'अरे मैं तो यह बताना भूल ही गया था'...घातक होगा। कहानी की भली-भाँति तैयारी करनी चाहिये।

४. शिक्षक को स्वयं अपनी कहानो मे रुचि रखनी चाहिये। उसे स्वयं कहानी को 'अनुभव करना' चाहिये। यदि वह ऐसा कर सकता है तो उसके श्रोताओं को भी उसमें रुचि होगी।

५. छोटे शिशुओं के लिये जो कहानियाँ हों उनमें मुख्य वाक्यों तथा कहानी मे प्रयुक्त बातचीत के वाक्यों को बारम्बार दुहराना चाहिये। छोटे शिशुओं को इस दुहराने में बड़ा आनन्द आता है। शिक्षक को सावधान रहना चाहिये कि जब किसी वाक्य अथवा वाक्य खण्ड को दुहराये तो वह उसे ठीक-ठीक दुहराये। यदि वह कोई परिवर्तन करता है तो शीघ्र ही उसको शुद्ध कर दिया जायेगा।

६. छोटे शिशुओं के लिये कहानियों के भीतर कार्यशीलता अधिक मात्रा में होनी चाहिये। उन्हें वर्णन के प्रति कोई रुचि नहीं होती।

"इसलिये छोटे शिशुओं के लिये कहानियाँ कार्यशीलता तथा इन्द्रियज्ञान के आधार पर सुनाई जानी चाहिये। छः वर्ष की अवस्था तक शिशु गतिमान वस्तुओं जैसे इंजिन, नौकाओं, घोड़ों, गाड़ियों, बालकों और बालिकाओं को कार्यशील देखकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। जब कार्यशीलता में किसी लम्बे वर्णनात्मक अवतरण के द्वारा विघ्न पड़ जाता है तो शिशुओं की रुचि लुप्त हो जाती है। कहानी सुनाने में देखा जा सकता है कि जब वर्णनात्मक और व्याख्या पूर्ण अंश आते हैं तो रुचि गिर जाती है और जब कार्यशीलता फिर उत्पन्न होती है तो रुचि भड़क उठती है। चूंकि छोटे शिशु को स्वयं अपनी कार्यशीलतायें और अपने अनुभव सबसे अधिक रोचक प्रतीत होते हैं, इसलिये

पहली कहानियाँ ऐसे अनुभवों से सम्बन्धित होनी चाहियें जिनसे शिशु परिचित हों।"[1]

७. कहानी यथा सम्भव अधिक से अधिक सजीव ढंग से सुनानी चाहिये। प्रयुक्त शब्द सरल हों और अर्थ स्पष्ट हो। जहाँ कहीं वार्तालाप हो उसे वक्ता के शब्दों में कहना चाहिये, अपने शब्दों में नहीं। कहानी स्वाभाविक ढंग से सुनानी चाहिये और सुनाने के ढंग में किसी प्रकार की बनावट नहीं होनी चाहिये। साथ ही शिक्षक को अवसर आने पर नाटकीय ढंग अपनाने से डरना नहीं चाहिये। फिर भी यह कार्य आवश्यकता से अधिक नहीं होना चाहिये। जहाँ कहीं सम्भव हो, ध्वनि अथवा घटनाओं पर जोर देने के लिये निरूपणात्मक शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। उदाहरणतः सीधे-सीधे यह कह देने की अपेक्षा कि 'तांगा सड़क पर जा रहा था', 'टप-टप-टाप-टाप तांगा सड़क पर चला जा रहा था' कहना अधिक अच्छा होगा।

८. कुछ सुनाते समय शिक्षक को अपनी काल्पनिक-चित्रण शक्ति का प्रयोग करना चाहिये। उसकी कहानी में जो घटनायें घट रही हैं, उसके चित्रों का पूरा क्रम उस के मस्तिष्क के समक्ष रहना चाहिये। तब वह किसी भी चित्र का, वर्णन उसी प्रकार करेगा जिस प्रकार वह उसे अपने मस्तिष्क में देखता है। तब वह दूसरा चित्र लेता और उसका वर्णन करता है। यह कार्य इसी ढंग से चलता जाता है। यदि उसके मस्तिष्क में मानसिक चित्रों का एक क्रम वर्तमान है तो उसकी कहानी उतनी ही सजीव तथा रोचक होगी।

९. इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि कहानी शिशुओं की अवस्था के अनुकूल है अथवा नहीं। दस वर्षीय शिशुओं को पंचवर्षीय बालकों के अनुकूल कहानी सुनाने से कोई लाभ न होगा, इसी प्रकार पंचवर्षीय बालकों को दस वर्षीय शिशुओं के अनुकूल कहानी सुनाना व्यर्थ है।

१०. शिक्षक को वह उद्देश्य दृष्टिगत रखना चाहिये जिसके लिये वह कहानी सुना रहा है। कभी-कभी कहानियाँ केवल मनोरंजन के लिये सुनाई जाती हैं। दूसरे अवसरों पर उनमें कोई न कोई निश्चित शिक्षात्मक उद्देश्य निहित रहता है। शिक्षक की इच्छा हो सकती है कि अपने शिष्यों को तार्किक क्रम के अनुसार चिन्तन करने की प्रशिक्षा दे। वह उनकी कल्पना-शक्ति के

---

१. आर० स्ट्रैंग—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु चाइल्ड स्टडी पृ० २१० (मैकमिलन)

विकास की इच्छा कर सकता है। सम्भव है कि वह उनकी रुचि के विकास का प्रयत्न कर रहा हो। एक ही समय पर इन उद्देश्यों में से कई-कई एक साथ, निस्सन्देह, ध्यान में रखे जा सकते हैं। परन्तु शिक्षक जो कुछ करने जा रहा है उसके विषय में उसे स्पष्ट होना चाहिये क्योंकि उसका लक्ष्य उसके कहानी सुनाने के ढंग को प्रभावित करेगा।

११. शिक्षक को याद रखना चाहिये कि कहानियों को परिस्थियों के अनुकूल बनाया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रथम बार कहानी जिस रूप में पढ़ी या सुनी थी ठीक उसी रूप पर अड़ा रहे। उसे चाहिये कि अपने शिष्यों को ध्यान मे रखे और यदि थोड़े बहुत परिवर्तन से कहानी उनके लिये या उस विशेष उद्देश्य के जो कहानी सुनाते समय उसकी दृष्टि के सम्मुख है, अधिक अनुकूल हो जायेगी तो उसे अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग करने और उचित परिवर्तन तथा संशोधन करने मे कोई संकोच नहीं होना चाहिये। स्पष्ट है कि यह बात ऐतिहासिक कहानियों के लिये लागू नहीं होती, इतना अवश्य है कि यदि कोई सविस्तार कहानी उसके उद्देश्य के अनुकूल न पड़ती हो तो शिक्षक को प्रत्येक विस्तार देने के लिये बाध्य न होना चाहिये। ऐतिहासिक कहानियां सुनाने में, जब तक कि उनसे कोई अशुद्ध धारणा उत्पन्न न होने लगे, पृष्ठभूमि तथा वार्तालाप उपलब्ध करने के लिये अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग करना भी न्यायपूर्ण है।

१२. हास्यभाव की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। हास्यभाव रुचि में वृद्धि कर देता है और कार्य में बड़ी सहायता देता है।

१३. प्रसिद्ध तथा परिचित कहानियाँ फिर नई बनाई जा सकती हैं यदि वह इस प्रकार सुनाई जायें मानो कहानी का कोई पात्र स्वयं सुना रहा हो। शिक्षक कहानी से बाहर खड़े रह कर अवलोकक के रूप में कहानी सुनाने के स्थान पर स्वयं कहानी के किसी महत्त्वपूर्ण पात्र का स्थान ले सकता है, और उसे इस प्रकार सुना सकता है मानो कि वह पात्र ही कहानी किसी को सुना रहा हो। शिशुओं के लिये भी यह अति उत्तम अभ्यास होगा। उदाहरणतः उस आदमी और लड़के की कहानी लो जिसके पास एक गधा था और जो सभी को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहे थे। यह कहानी इस प्रकार सुनाई जा सकती है मानो गधा सुना रहा हो। अशोक और कलिङ्ग युद्ध की कहानी सुनाई जा सकती है मानो स्वयं अशोक सुना रहा है।

१४. छोटे शिष्यों के लिये कहानी के द्वारा कुछ कार्य करने का संकेत और कार्यशील होने का उत्प्रेरण मिलना चाहिये। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि यदि छोटे शिशुओं को ऐसी कहानी सुनाई जाये तो वह तुरन्त ही कहानी को खेलना (अभिनय) आरम्भ कर देंगे। कहानियों का एक उपयोग यह भी है कि श्रोताओं को कार्य की दिशा का संकेत मिले और उन्हें अपनी सुनी कहानियों द्वारा जिस कार्य-दिशा का संकेत मिला है, उस पर अग्रसर होने के अवसर उपलब्ध हो जायें।

निर्दर्शन

निर्दर्शन की साधारण पद्धति, अर्थात् शिष्यों को नई सूचना देने और इस नई सूचना की उनके समक्ष व्याख्या करने की पद्धति का उपयोग करते समय हमें निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी होंगी। हम सूचनात्मक पाठ में प्रस्तुति का अध्ययन करते समय इस पद्धति पर विचार कर चुके हैं। निम्नलिखित तथ्य और भी हैं जिन्हें ध्यान में रखना होगा।

१. पाठ का उद्देश्य कक्षा के समक्ष स्पष्ट कर देना चाहिये।

२. शिक्षक का निर्दर्शन स्पष्ट तथा तीव्र हो, वह केवल उसी विषय विशेष को ले और लगा लिपटा न हो वरन् सीधा-सीधा हो। वह अपनी विषय-सामग्री जिस प्रकार प्रस्तुत करता है उसमें तार्किक क्रम होना चाहिये। यह अन्तिम तथ्य दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, वह शिष्यों को सहज ढंग से यह समझने में सहायता देता है कि उन्हें क्या दिया जा रहा है। दूसरे यह उन्हें तार्किक चिन्तन करने तथा अपने कार्य में वस्तुओं को तार्किक रूप से व्यवस्थित करने की प्रशिक्षा देता है।

३. शिक्षक की भाषा सरल होनी चाहिये। उसे सदैव पूरा-पूरा विश्वास कर लेना चाहिये कि यह जिन शब्दों और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर रहा है, उसके सभी शिष्य उन्हें समझ रहे हैं।

४. शिक्षक को बहुत जल्दी-जल्दी नहीं बोलना चाहिये।

५. पुनरोक्ति प्रचुर मात्रा में होनी चाहिये। शिक्षक अपने मन्द शिशुओं को भी, जो कुछ दिया जा रहा है, ग्रहण करने का समय प्रदान करे।

६. दृष्टान्त का खुल कर प्रयोग होना चाहिये। दृष्टान्त चित्र-रूपी अथवा मौखिक हो सकते हैं। चित्र, और नकशे और रेखा-चित्र और चार्ट सभी

आवश्यक हैं। इसी प्रकार उदाहरण, और तुलनायें और नमूने भी आवश्यक हैं, विशेषकर वह जो शिष्यों के जीवन से लिये गये हैं।

८. जिस प्रकार कहानी सुनाने में वर्णन, व्याख्या तथा शब्द-चित्रों के सजीव होने से रुचि तथा ग्राह्य-सुगमता बढ़ जाती है, उसी प्रकार निर्दर्शन में भी होता है।

९. किसी भी एक पाठ में अत्यधिक सामग्री नहीं होनी चाहिये। किसी भी पाठ में अधिक बोझ न लाद देना चाहिये।

१०. यदि किसी पाठ में कई उप-विषय हों तो एक को समाप्त करके दूसरे को लेना चाहिये।

११. निर्दर्शन के समय शिशुओं को पूछने की प्रचुर मात्रा में सुविधा मिलनी चाहिये और जब दुहराया जाये अथवा पुनरोक्ति की जाये तो शिक्षक को यह पता लगाने के लिये कि उसका निर्दर्शन सफल हुआ अथवा नहीं, प्रश्न पूछने चाहियें।

शिक्षक

जैसा कि हम देख चुके हैं, शिक्षण एक सम्बन्ध है। यह शिक्षक और शिष्य के बीच एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। इस प्रकार शिक्षण का एक परमावश्यक मूलतत्व शिक्षक का चरित्र और व्यक्तित्व है। शिक्षण क्रिया की सफलता शिक्षक, उसके ज्ञान और उसकी निपुणता और विशेषकर उसके सामान्य व्यक्तित्व तथा जीवन और चरित्र के गुणों पर निर्भर करेगी। इसी कारण शिक्षण पद्धतियों पर विचार करते समय यह देखना आवश्यक है कि शिक्षक के चरित्र का उसके शिक्षण के गुणों, विशेषकर उन विशेषताओं पर जो उसे भिन्न-भिन्न पद्धतियों का उपयोग कर अधिकतम लाभ उठाने के योग्य बना देती हैं, क्या प्रभाव पड़ेगा। इन विशेषताओं का उसके कार्य, अनुशासन शिक्षण तथा शिशुओं से व्यवहार करने की पद्धति और उनकी शिक्षा-प्राप्त करने की योग्यता पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा।

१. सर्वप्रथम, शिक्षक को न्यायी होना चाहिये। शिशुओं में शिक्षक का वास्तविक प्रभाव अन्यायी होने की प्रवृत्ति से जितना अधिक नष्ट होता है, किसी दूसरी बात से नहीं। शिशु शिक्षक के बहुत से दोष क्षमा कर देंगे, परन्तु अन्याय तो उसके प्रति उनका सारा विश्वास ही नष्ट कर देगा। कारण

यह है कि यदि कोई शिक्षक न्यायी नहीं है, तो शिशुओं को कभी पता नहीं चलता कि उसका व्यवहार क्या होगा। उनमें सुरक्षा की भावना नहीं होती। और यदि शिशुओं को सचमुच उन्नति करनी है, और यदि उन्हें अपने कार्य में किसी प्रकार का आनन्द अनुभव करना है, तो उन्हें अपने को सुरक्षित अनुभव करना चाहिये। शिशु यह अनुभव करना पसन्द करते हैं कि वह शिक्षक पर विश्वास कर सकते हैं। यदि वह अन्यायी है तो उनकी यह भावना नहीं हो सकती।

इसलिये आवश्यक है कि शिक्षक यथाशक्ति सचेत रूप से न्यायी होने का प्रयत्न करे! यह कार्य सदैव सहज नहीं होता। कभी-कभी हमें पर्याप्त ज्ञान नहीं होता और अज्ञान के कारण हम अन्यायी होते हैं। इसी कारण और भी प्रत्येक शिक्षक के लिये आवश्यक अपने शिशुओं के सम्बन्ध में जितना अधिक ज्ञान प्राप्त कर सके करे। फिर भी, जब शिक्षक सत्यता से न्यायी होने का प्रयास करता है तो शिशुओं को शीघ्र ही आभास हो जाता है। और यदि हम हर अवसर पर न्यायी होने का ईमानदारी से प्रयत्न करें तो अचेत रूप से अन्याय बहुत कम होगा। न्यायी होने के लिये प्रयत्न करने की प्रवृत्ति शिक्षक को अनुशासन और अपने कार्य में सहायता देगी। उसे कक्षा से अधिक प्रतिवादन प्राप्त होगा और कक्षा उसका आदर करेगी। और सबसे बढ़कर तो यह कि, जैसा मैं कह चुका हूं, वह सुरक्षित अनुभव करते हैं।

कभी-कभी शिक्षक को कक्षा में अपने कृपा पात्र शिष्य छाँटने का प्रलोभन मिलता है। मनुष्य होने के नाते, शिक्षक स्वभाविक रूप से कुछ शिशुओं को दूसरों की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं और कुछ शिशुओं को दूसरों की अपेक्षा अधिक नापसन्द करते हैं। परन्तु अपने शिशुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में शिक्षक का यह एक मुख्य उद्देश्य होना चाहिये कि जहाँ तक मनुष्य होने के नाते सम्भव हो, कुछ शिष्यों को विशेष रूप से पसन्द या नापसन्द करने से बचता रहे। यदि शिक्षक पसन्द और नापसन्द किये बिना नहीं रह सकता तो उसे चाहिये कि कम से कम इस भावना को बहुत प्रबल तो न होने दे। और अपने शिशुओं के साथ व्यवहार करने में अपनी पसन्द-नापसन्द का प्रदर्शन रोकने के लिये यथा शक्ति प्रयत्न करे। शिष्यों को यह आभास न होना चाहिये कि एक के साथ मृदुता का व्यवहार होता है और दूसरे के साथ कठोरता का। शिक्षक को निष्पक्ष होने का प्रयत्न करना चाहिये।

एक अभागी प्रवृत्ति जिसको बहुधा शिक्षकों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है पिशुनता (चुगली) की प्रवृत्ति है। बहुधा पाठशाला का जनमत इसके विरुद्ध नहीं होता और न तो शिष्य और न शिक्षक यह आभास करते कि यह कितनी अवांछनीय प्रवृत्ति है। निस्सन्देह कभी-कभी आपत्तिजनक पिशुनता और न्यायोचित ढंग से शिक्षक को सूचना देने में अन्तर करना कठिन होता है। साधारणतः आपत्तिजनक पिशुनता में बदला लेने का अंश, किसी दूसरे को आपत्ति में फंसाने की इच्छा निहित रहती है, यह इच्छा चाहे बदला लेने के लिये हो अथवा केवल एक अवांछनीय इच्छा के कारण हो सकती है जो कभी-कभी दूसरों को कष्ट में फंसा देखकर आनन्द के रूप में प्रगट होती है। किसी बालक को कोई दूसरा बालक मार देता है और वह रोता हुआ शिक्षक के पास भागता है। यह एक ऐसी बात है जिस पर शिक्षक को कोई ध्यान नहीं देना चाहिये। छोटी-छोटी बातों का निपटारा स्वयं शिशुओं को कर लेना चाहिये, और उन्हें सीखना चाहिये कि केवल गम्भीर विषय ही शिक्षक के समक्ष ले जाने हैं। यदि स्वशासन की प्रथा प्रचलित है, जिसके अन्तरगत उचित रूप से अधिकारी झगड़ों का निपटारा करने के लिये नियुक्त हैं, तो पिशुनता के इस मामले का अधिक सुगमता से उन्मूलन हो सकता है। परन्तु साधारणतया शिशु यह समझते रहें कि शिक्षक चुगली सुनने को तैयार नहीं है। यदि वह ऐसा करता है तो वह देखेगा कि कक्षा में अत्यन्त अवाछनीय वातावरण उत्पन्न हो रहा है और दुनिया भर की आपत्तियां बढ़ती जा रही हैं।

२. इस दृढ़ न्याय के साथ-साथ सहानुभूति तथा समझ का भाव भी होना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम सहानुभूति तथा समझ के बिना यथार्थ न्याय नहीं प्राप्त कर सकते। यदि शिक्षक चाहता है कि अपने शिष्यों से उसका सम्बन्ध फलदायक तथा सृजनात्मक रहे और उनके साथ उसका कार्य सफल हो तो उसे सहानुभूति का यह गुण अपने में विकसित करना पड़ेगा और अपनी सहानुभूति पूर्ण कल्पना-शक्ति का उपयोग करना होगा। उसे अपने आप को शिष्य के स्थान पर रखने, जो कुछ हो रहा है उस पर अपने शिष्य की प्रतिक्रिया की कल्पना करने और परिस्थितियों में अन्तर करने की शिक्षा प्राप्त करनी होगी। इसे प्रत्यन करना चाहिये कि जिस समय वह स्वयं छोटा था उस समय की भावनाओं तथा विचारों को याद करे। शिशु-स्वभाव के अध्ययन से एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि इसके द्वारा इस समझदारी के विकास में

बड़ी सहायता मिलती है। हमें शिशु के स्वभाव के सम्बन्ध में जितना अधिक ज्ञान संभव हो प्राप्त कर लेना आवश्यक है। हमें उसके समक्ष आने वाली कठिनाइयों को समझ लेना आवश्यक है। हमें इन कठिनाइयों में उसे सहायता देने की अधिकतम लाभदायक पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। हमें असीम धैर्य की आवश्यकता है।

सहानुभूति का गुण इस कारण और भी महत्त्वपूर्ण है कि इसके द्वारा शिक्षक अपने शिष्यों का सच्चा मित्र बनने के योग्य हो जाता है। सभी जानते हैं कि शिक्षक और शिष्य का सम्बन्ध डर पर नहीं प्रेम पर आधारित होना चाहिये। दूसरे के साथ सहानुभूति करने और उन्हें समझने की योग्यता इस मित्रता और प्रेम के सम्बन्ध की आधार शिला है। यही वह सम्बन्ध है जो वास्तव में सृजनात्मक होता है और जो हमें यथार्थ रूप से शिक्षण करने के योग्य बना देता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जब कड़ाई की आवश्यकता हो तो किसी प्रकार की कमजोरी या मृदुता प्रदर्शित की जाये। परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि हमारे शिक्षण को प्रेरण-सम्पन्न होना चाहिये।

३. अच्छा शिक्षक अपने कार्य के प्रति उत्साही होता है। वह अपने विषय के सम्बन्ध तथा उसके शिक्षण की पद्धतियों के सम्बन्ध में अपना ज्ञान बढ़ाने के लिये निरन्तर सचेष्ट रहता है। वह अपने ज्ञान को ताजा और समय के अनुकूल बनाये रखने के लिये सचेष्ट रहता है। इस तथ्य पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि बहुत बड़ी संख्या में शिक्षक इस प्रकार कार्य करते हैं मानो उनकी समझ में अपना प्रशिक्षण-कार्य समाप्त कर लेने के पश्चात किसी प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता ही नहीं रह गई। कोई भी शिक्षक वास्तव में उस समय तक सफल हो ही नहीं सकता जब तक उसके मन में व्यवसायिक उत्साह, अर्थात विषयों तथा शिक्षण पद्धतियों के सम्बन्ध में अपने ज्ञान की वृद्धि करने, व्यवहारिक अनुसन्धान करने की प्रबल इच्छा न वर्तमान हो।

४. इस व्यवसायिक उत्साह के अतिरिक्त शिक्षक में वह भावना होनी चाहिये जिसे हम जीवन शक्ति कह सकते हैं। कक्षा के सम्मुख खड़े हो कर जिस शिक्षक को स्पष्ट रूप से अपने कार्य में रुचि न होगी और जो केवल एक ढर्रे पर चल रहा होगा, जिसे येन केन पूरा ही करना है, तो उसे न बड़ी सफलता प्राप्त होगी और न कक्षा अधिक मात्रा में शिक्षा प्राप्त कर सकेगी। जिस शिक्षक

को अपने विषय और अपने शिष्यों की उन्नति के लिये उत्साह और रुचि है, वही सहायता देकर उनमें कुछ उत्साह तथा रुचि उत्पन्न कर सकता है। अपने शिष्यों पर उसका प्रभाव रुचि न रखने वाले शिक्षक की अपेक्षा कहीं अधिक उपकारी होगा। उसकी जीवन शक्ति स्वयं कक्षा में संचरित हो जायेगी। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक शिशु के मन में अपने कार्य के लिये एक उत्साह की ज्वाला भड़क उठेगी। परन्तु कक्षा के भीतर रुचि तथा उत्साह का सामान्य स्तर काफी ऊँचा हो जायेगा और बहुत से व्यक्तियों में उत्साह भड़क भी उठेगा। कक्षा-शिक्षण के पक्ष में यही बात एक मुख्य तर्क के रूप में कही जाती है। परन्तु इसकी सत्यता शिक्षक पर निर्भर करती है। निर्जीव शिक्षक का अर्थ है निर्जीव कक्षा। सजीव शिक्षक का अर्थ है सजीव कक्षा। जहाँ शिक्षक सजीव और उत्साही होता है वहाँ कक्षा में सत्य-हृदयता का वातावरण फैला रहता है। वह जो कुछ कर रहा है, उसमें उसका वास्तविक विश्वास है। और यह उद्देश्य की सत्यहृदयता कक्षा तथा उसके कार्य में प्रतिबिम्बित होती है।

५. जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, शिक्षक और कक्षा दोनों सुगमता पूर्वक चलते रहेंगे यदि शिक्षक कार्य के ढर्रे तथा अपने कार्य के संगठन पर ध्यान देता है। अच्छा शिक्षक सदैव एक अच्छा कक्षा-सगठन जिसमें ढर्रे की बातें प्रतिदिन बिना किसी गड़बड़ के होती रहती हैं प्रतिदिन नये आदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, स्थापित कर यथासम्भव अधिक से अधिक समय तथा शक्ति बचाने के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न करता है। कार्य के इस अंग की ओर ध्यान देने से अनुशासन तथा कक्षा के भीतर शान्त और सुरक्षित वातावरण उत्पन्न करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

६. अपने कक्षा के संग व्यवहार करने में शिक्षक को विस्तार की (छोटी-छोटी) बातों जैसे अपने कपड़ों की सफाई, अपने बोलने के स्वर, अपने वाक्यों की स्पष्टता, अपने साधारण शिष्टाचार तथा अपने शिष्यों के प्रति आदर प्रदर्शन के बाह्यचिन्हों के प्रभाव पर भी ध्यान देना चाहिये। सम्भव है कि शिष्य सचेत रूप से गन्दे कपड़ों पर ध्यान न दे सकें, परन्तु इस दुर्गुण का प्रभाव तो पड़ेगा ही। इसी प्रकार शिक्षक के बोलने के ढंग तथा स्वर का भी प्रभाव पड़ता है। मधुर स्वर कार्य में सहायता देगा और चिड़चिड़ा स्वर अड़चन डाल देगा। चिल्लाने से कोई काम न बनेगा यद्यपि स्पष्ट शान्त स्वर से बन जाता है। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कक्षा में शिष्टाचार के

द्वारा सुगमता पूर्वक कार्य होने तथा स्वच्छता के लिये बड़ी सहायता मिलती है। कोई कारण नहीं कि शिक्षक स्वयं शिशुओं के प्रति साधारण शिष्टाचार का पालन न करें और शिशुओं से भी आपस में पालन न करवायें। यहाँ दृष्टान्त प्रस्ताव की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है।

७. अन्त में, शिक्षक के मन में हास्यभाव अवश्य होना चाहिये। यह ऐसी वस्तु नहीं है जो कहीं से उत्पन्न की जा सकती है यद्यपि इस विषय में जर्मन सेना का कुछ और ही विचार है। परन्तु इसका विकास और उपयोग किया जा सकता है। बिना हास्यभाव की कक्षा अत्यन्त ठस और रुचि हीन होती है और यदि अत्यधिक न हो जाये, तो हास्यभाव एक ऐसी वस्तु है जिसे हमको अपने शिक्षण में उत्पन्न करना चाहिये। उसका प्रभाव तथा लाभ शिक्षक और शिशुओं के मौलिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध पर निर्भर करता है। परन्तु इस आधार-शिला के प्राप्त होने पर कक्षा का कमरा अधिक चित्तरंजक और शिक्षण अधिक प्रभावशाली बन जाता है। फिर भी यह याद रखना चाहिये कि कटाक्ष और व्यंग हास्यभाव नहीं हैं।

पाठ का गुण-निर्णय कैसे किया जाये [1]

हम सभी के लिये यह अत्यन्त हितकर होगा कि जो पाठ हम देते हैं, उनमें से कुछ की समय-समय पर जांच-पड़ताल करते रहें। शिक्षक में स्वयं अपनी तथा अपने कार्य की परीक्षा करने का सदैव उत्साह होना चाहिये। ऐसा करने ही पर उसे आभास होगा कि वह शिक्षा तथा शिक्षण के सिद्धान्तों के अनुसार, (जिन्हें वह जानता है कि सत्य हैं) कार्य करता जा रहा है अथवा नहीं। बारम्बार ऐसा करने ही पर वह अपने कार्य को यथास्तर रख सकता है। जिन लोगों को कार्य का अवेक्षण करना पड़ता है उन्हें भी, इसी प्रकार, एक कार्य-स्तर की आवश्यकता होती है जिसके अनुसार, वह जिस कार्य का निरीक्षण कर रहे हैं, उसका गुण-निर्णय कर सकें। इसलिये शिक्षकों और अवेक्षकों के लिये बड़ी लाभप्रद बात होगी यदि वह उन विविध तथ्यों और सिद्धान्तों को

---

१. पाठ का गुण-निर्णय करने के इन आदेशों में पादरी ई० एल० किङ्ग की पुस्तक 'व्हॉट् लुक फार' सीरीज में प्रस्तुत कई तथ्य सम्मिलित हैं।

दृष्टिगत रखें जिन्हें किसी पाठ का मूल्यांकन करते समय ध्यान में रखना होगा।

तथ्यों की निम्नलिखित सूची मुख्यतः शिक्षकों को स्वयं अपने कार्य के मूल्यांकन में सहायता देने के लिये बनाई गई है। यदि शिक्षक स्वयं किसी योजना का प्रयोग करें तो उसका मूल्य उनके लिये अवेक्षक द्वारा उसके प्रयोग से कहीं अधिक बढ़ कर है जो बाद में उन्हें बतलाता है कि कहाँ उनका कार्य उत्तम है और कहाँ यथास्तर नहीं है। वास्तव में हम दोनों ही गुण-निर्णयों की आवश्यकता है। हमें स्वयं अपने कार्य की आलोचना करने की आदत डालने तथा किसी दूसरे की रचनात्मक आलोचना द्वारा प्राप्त सहायता की आवश्यकता है। निम्नलिखित योजना शिक्षकों और अवेक्षकों दोनो के लिये लाभप्रद हो सकती है।

यह आशा नहीं की जाती कि सूची के सभी तथ्य-बिन्दुओं पर प्रत्येक पाठ में ध्यान दिया जाये। परन्तु, निस्सन्देह, एक पूरी पाठशाला में इन सभी तथ्य विन्दुओं का पालन हो जाना चाहिये।

पाठ

१. **तैयारी**—क्या कोई पाठ योजना है और उसकी रूप-रेखा क्या है? क्या पाठ देते समय उसका प्रयोग होता है? क्या उसका यांत्रिक ढंग से पालन किया जाता है अथवा परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक स्वतंत्रता के साथ उसका प्रयोग किया जाता है?

२. **लक्ष्य**—क्या पाठ का उद्देश्य शिक्षक तथा कक्षा के लिये स्पष्ट है? क्या पाठ समाप्त होने तक लक्ष्य की पूर्ति हो जाती है?

३. **उत्प्रेरण**—क्या पाठ का पूर्व-प्राप्त ज्ञान से सम्बन्ध जोड़ा गया है? क्या पाठ के प्रारम्भ में रुचि उत्पन्न हुई? क्या दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक है? क्या शिशु के उद्देश्यों, उसकी आवश्यकताओं और कार्यशील होने की मनोवैज्ञानिक प्रेरक भावनाओं का उपयोग हुआ?

४. **प्रस्तुति**—क्या नये ज्ञान की प्रस्तुति तार्किक और स्पष्ट है? क्या भाषा सरल है? क्या शिक्षक निश्चित कर लेता है कि जो कुछ वह प्रस्तुत करता है, उसको शिशु ठीक-ठीक समझते और ग्रहण करते हैं? क्या शिष्यों से स्वयं चिन्तन करवाया गया?

५. **व्यक्तीकरण**—क्या शिष्यों को पाठ में भाग लेने का पर्याप्त अवसर

दिया गया ? क्या पाठ के बीच में व्यक्तीकरण कार्य कौन से होने थे ? क्या व्यक्तीकरण कार्य पर्याप्त मात्रा में है ? क्या सृजनात्मक कार्य को किसी अंश में प्रोत्साहित किया जाता है ?

६. **पद्धतियाँ**—क्या पाठ में प्रयुक्त पद्धतियाँ उस विशेष पाठ के अनुकूल हैं ? क्या उनका उचित प्रयोग हुआ है। क्या पद्धति में सुधार हो सकता है ? यदि हां तो कैसे ? पद्धति के अशुद्ध प्रयोग के कौन-कौन से कारण ज्ञात हो सकते हैं ?

७. **सामग्री**—चित्रों, नकशों, रेखा-चित्रों चार्टों और दूसरी दृष्टान्त सामग्री का क्या प्रयोग हुआ ? क्या इस दिशा में कोई कल्पना शक्ति प्रदर्शित हुई ? क्या आवश्यक सामग्री पहले से ही ठीक ढंग पर तैयार थी ?

८. **प्रश्न पूछना**—प्रश्न पूछने का कार्य कैसे होता है ? क्या ठीक ढंग के प्रश्नों का प्रयोग होता है ? शिशुओं द्वारा पूछे गये प्रश्नों का निपटारा कैसे होता है ? क्या कक्षा के प्रश्नों को प्रोत्साहित किया जाता है ?

९. **पुनरुक्ति**—क्या पुनरुक्ति पर्याप्त मात्रा में होती है ? क्या यह ठीक स्थानों पर की जाती है ?

१०. **कक्षा-प्रबन्ध**—क्या श्यामपट का काफी उपयोग होता है ? क्या उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया जाता है ? यदि नहीं तो क्या सुधार किया जा सकता है ? क्या श्यामपट ठीक स्थान पर था ? क्या बैठने का प्रबन्ध यथा सम्भव अच्छे से अच्छा है ? क्या प्रयत्न किया जाता है कि पूरी कक्षा पाठ में भाग ले अर्थात् क्या प्रश्न सभी से पूछे जा रहे हैं अथवा केवल दो चार से ?

११. **सामान्य प्रभाव**—पाठ का कक्षा पर सामान्य प्रभाव क्या पड़ता है ? क्या कक्षा को सीधे-सीधे पाठ में रुचि है। क्या शिशु ज्ञान अथवा निपुणता में उन्नति करते दिखाई पड़ते हैं ? क्या घन्टा समाप्त होने पर कक्षा को स्पष्ट रूप से छुटकारा मिल जाना प्रतीत होती है ?

शिक्षक

१. शिक्षक किस प्रकार बोलता है ? क्या वह बहुत तेज बोलता है अथवा बहुत धीमे-धीमे ? क्या उसके शब्द तथा उसका उच्चारण उत्तम है अथवा भोंडा ? उसकी सामान्य वाक्य-शैली एक-स्वरीय है अथवा रोचक है ? क्या वह

बहुत अधिक चिल्लाता है अथवा मन्द स्वर से बोलता है ? क्या वह ऐसे शब्द का उपयोग करता है, जिन्हें शिष्य समझते हैं ?

२. शिक्षक पढ़ता किस प्रकार है ? क्या उसका शब्द-विभाजन, उसका जोर उत्तम है अथवा नहीं ? क्या वह अपने पढ़ने को ठीक समय से व्यवस्थित करता है अर्थात् स्थान-स्थान पर रुक जाता है ? क्या वह बहुत तेज पढ़ता है ? क्या उसका पढ़ना प्राकृतिक है ?

३. शिक्षक कहानी किस प्रकार सुनाता है ? क्या वह जो कहानी सुना रहा है उसमें स्वयं रुचि रखता है ? क्या वह कहानी स्वभाविक चित्तरंजक ढंग से सुना रहा है । क्या उसकी शब्दावली कहानी और उसके शिष्यों के अनुकूल है ? क्या वह सारा आवश्यक विस्तार देता है ? क्या कहानी सुनाने में कोई नाटकीय प्रभाव भी है ? क्या वह किसी पुस्तक पर निर्भर करता अथवा कहानी स्वयं सुना रहा है ?

४. शिक्षक अपनी कक्षा के समक्ष किस प्रकार खड़ा या बैठा है ? क्या वह फूहड़ है अथवा चौकस ? क्या वह पाठ के आरम्भ कराने में चरपरा है ? क्या पाठ के बीच में कोई समय नष्ट होता है ?

५. शिक्षक का अपनी कक्षा के प्रति व्यवहार कैसा है ? क्या वह मैत्री पूर्ण है ? क्या वह साधारण रूप से डाँटता रहता है अथवा प्रोत्साहन देता है ? क्या वह व्यंगपूर्ण है ? क्या वह हास्यभाव रखता है ? क्या वह तीव्र है अथवा सज्जन है ?

६. शिक्षक का अनुशासन कैसा है ? क्या वह ढीला-ढाला है अथवा दृढ़ ? क्या वह दण्ड के भय पर आधारित है ? दण्ड किस प्रकार के दिये जाते हैं ? अनुशासन में अधिक सुधार कैसे किया जा सकता है ?

शिक्षकों के लिये आत्म-गणना की एक योजना

अच्छे शिक्षक में कौन-कौन से गुण होने चाहियें, इस विषय पर कोई अधिक सर्वमान्य सहमति नहीं हो सकती । और गुणों के महत्त्व के क्रम पर तो और भी कम सहमति होगी । फिर भी शिक्षक के लिये आवश्यक मुख्य गुणों की सूची बनाने का प्रयत्न करना और उन्हें महत्त्व के क्रम से रखने का प्रयास करना किसी भी पाठशाला के कर्मचारी गण के लिये बड़ा लाभदायक अभ्यास है । प्रत्येक कर्मचारी बारह से पन्द्रह तक गुणों की सूची बना सकता है

और तब उन गुणों की सारिणी तैयार की जा सकती है। जिसके पक्ष में सबसे अधिक मत आये, उसे सर्वप्रथम रखा जाये, आदि-आदि। इस क्रम बन्धन का अन्तिम रूप एक सामान्य वाद-विवाद के पश्चात् दिया जा सकता है। इस प्रकार का अभ्यास कुछ न कुछ लाभदायक चिन्तन अवश्य करवाता है। एक स्थान के कर्मचारी गण की स्वीकृत सूची निम्नलिखित थी :—

आत्म-नियंत्रण
उत्साह
सहानुभूति
जीवन तथा कार्य के प्रति अनुसंधानात्मक दृष्टिकोण
व्यवसायिक भाव
हास्यभाव
न्याय-प्रियता और अन्याय के प्रति शीघ्र प्रतिक्रिया शक्ति
मानसिक स्वतन्त्रता
सत्यहृदयता
अवलम्बनीयता
धैर्य्य
साधनपूर्णता

जब सूची पर सहमति और स्वीकृति हो जाये, तो शिक्षक सूची के अनुसार स्वयं अपनी गणना का कार्य आरम्भ कर सकते हैं। इस कार्य के लिये, संभवत: सबसे अच्छी विधि होगी कि एक पंज अथवा सप्तविन्दु माप लिया जाये।

अतिशुद्र शुद्र मध्यम उत्तम अतिउत्तम

अथवा

अतिशुद्र शुद्र मध्य से कम मध्यम मध्य से अधिक उत्तम अतिउत्तम

कभी-कभी १, २, ३ से १० तक संख्याओं का प्रयोग होता है परन्तु यह उतना संतोषजनक नहीं है जितना कि उपरोक्त प्रस्तावित पंज अथवा सप्तविन्दु माप होता है। जिस प्रकार संख्याओं के द्वारा होना चाहिये, इस विषय में ठीक-ठीक मूल्यांकन करना असम्भव है।

शिक्षक के लिये तब स्वयं अपनी गणना करने की सबसे उत्तम विधि यह है कि वह एक रेखा-चित्र बना ले।

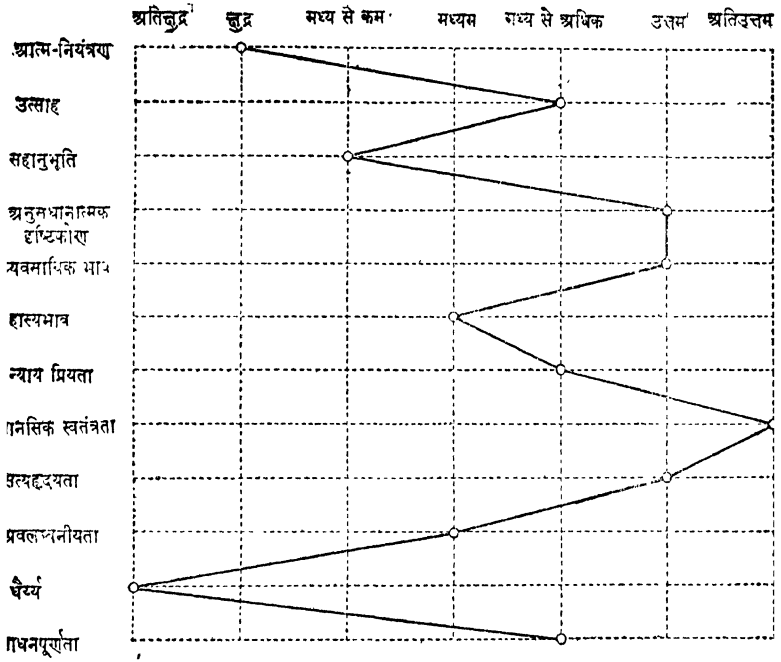

फिर शिक्षक स्वयं अपना रेखा-चित्र अङ्कित कर सकता है। अभ्यास के लिये, पहले वह किसी अच्छे शिक्षक का, जिसे वह जानता है, रेखा-चित्र बना सकता है। स्वयं अपना रेखा-चित्र बना लेने के पश्चात, यदि उसकी मित्रता इतनी गहरी है कि वह उस धक्के का सहन कर सके, तो वह अपने किसी मित्र से अपना रेखा-चित्र अङ्कित करा सकता है, जिसमें उसे अनुमान हो जाये कि वह दूसरों की दृष्टि में किस प्रकार जंचता है। दूसरों द्वारा यह गुण-निर्णय किसी प्रकार की कटुता के भय के बिना प्राप्त किया जा सकता है यदि मुख्य शिक्षक सादे रेखापत्र विचाराधीन शिक्षक का नाम लिख कर दे दे। तब किसी को पता नहीं चलेगा कि उसका रेखा-चित्र किसने अङ्कित किया है। मुख्य शिक्षक अपने कर्मचारीगण के जो रेखा-चित्र स्वयं अङ्कित करे उसकी एक नस्ती (फाइल) रख ले और प्रति वर्ष यह निर्णय कर सकता है कि उनमें क्या परिवर्तन करना आवश्यक है।

ऐसे कार्य के लिये, गुणों की सूची स्वीकार अथवा तैयार करने में इस

बात की सावधानी बरतनी चाहिये कि वह गुण यथा सम्भव अधिक से अधिक निश्चित हों। कभी-कभी इन सूचियों में हमें 'विमलता' जैसे गुण मिलते हैं जो अत्यन्त अस्पष्ट हैं और जिनका निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। यह गुण यथा सम्भव प्रारम्भिक हों और विविध दूसरे गुणों का फल न हों, जैसे 'नेतृत्व' का गुण।

इस प्रकार का आत्म-गणना का अभ्यास, यदि शिक्षक द्वारा गम्भीरता-पूर्वक किया जाये, तो उसे उन्नति करने और उन आदर्शों को ध्यान में रखने में (जिन्हें सदैव दृष्टिगत रखना चाहिये), बड़ी सहायता मिल सकती है।

: ४ :

शिक्षा-प्राप्ति का स्वरूप

शिक्षा-प्राप्ति का लक्ष्य

शिक्षा-प्राप्ति का लक्ष्य है हमें अपने चारों ओर के संसार की वस्तुओं से अधिकतम लाभ उठाना। हम कार्य करने और चीजें बनाने की शिक्षा इसलिये प्राप्त करते हैं कि हम अपनी परम्परा-प्राप्त शक्तियों का उपयोग कर सकें। सभी यथार्थ शिक्षण में एक उद्देश्य होता है। हम शिक्षा-प्राप्ति इस लिये करते हैं कि परिणाम मिले। साधारणतया इच्छित परिणाम अपने वातावरण में किसी वस्तु का उपयोग करने की योग्यता होता है। परन्तु परिणाम चाहे कुछ भी हो, हम शिक्षा-प्राप्ति करते हैं परिणाम निकालने के लिये, और परिणाम ऐसा होता है जिसे हम चाहते हैं। उद्देश्य का शिक्षा-प्राप्ति में बड़ा भाग होता है और जैसा कि हम जानते हैं उद्देश्य स्वतः भावी शक्तियों के संग मौलिक रूप से जुड़ा रहता है। हम इन शक्तियों का प्रयोग करना चाहते हैं। उनका अधिकतम लाभप्रद ढंग से उपयोग करने, अपनी स्वतः भावी प्रेरणाओं को संतुष्ट करने के लिये हमें अपने अंगों और अपने शरीर से काम लेना, अपनी मानसिक शक्तियों का उपयोग करना पड़ता है और इस प्रकार हम शिक्षा प्राप्त करते हैं। शिक्षा-प्राप्ति का लक्ष्य है हमें अपनी शक्तियों का अधिकतम लाभप्रद ढंग से उपयोग करने के योग्य बना देना। इसमें बहुत सी पेंचीली क्रियायें निहित होती हैं और कार्य शीलताओं का एक लम्बा क्रम छिड़ जाता है, परन्तु हम विविध प्रकार की समस्त शिक्षा-प्राप्ति के भीतर इस मौलिक लक्ष्य को सदैव खोज निकाल सकते हैं।

उदाहरणतः मुर्गी के बच्चे को, बहुत छोटा होने पर, दाना चुनने की शिक्षा-प्राप्त करनी होती है। वह इस कार्य करने का सब से अच्छा ढंग नहीं

जानता। परन्तु वह प्रयत्न करता है क्योंकि वह भूखा होता है और भोजन प्राप्त करना चाहता है। वह कुछ त्रुटियां करता है, परन्तु शीघ्र ही दाना चुनने का सब से अच्छा ढंग निकाल लेता है। हम कहते हैं उसने चुनने की शिक्षा-प्राप्त कर ली है। उसने यह कार्य अपने को एक स्वतः भावी प्रेरक भावना अर्थात भूख की प्रेरक भावना को सन्तुष्ट करने के योग्य बनाने के लिये किया। या फिर, एक बालक देखता है कि दूसरे बालक के पास पतंग है। उसकी अर्जनात्मक स्वतः भावना कार्य करने लगती है और उसे एक पतंग की इच्छा होती है। उसके पास मोल लेने के लिये पैसा नहीं है तो वह स्वयं बनाने लग जाता है। ऐसा करने के लिये उसे अपने हाथों और कुछ यत्रों के उपयोग की शिक्षा-प्राप्त करनी पड़ती है। वह तब पतंग को उड़ाना चाहता है और फिर इसकी शिक्षा-प्राप्त करता है कुछ तो चेष्टा-और-त्रुटि पद्धति से, कुछ यह देख कर कि दूसरे किस प्रकार करते हैं और सम्भवतः कुछ निर्देश पाकर। परन्तु उसकी समस्त शिक्षा-प्राप्ति का लक्ष्य था अपने उद्देश्य को कार्यान्वित करना और अपनी इच्छा की पूर्त्ति करना। या कोई बालक परीक्षा में सफल होना चाहता है। इस कार्य के लिये उसे अंग्रेजी लिखने-पढ़ने की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। इसलिये वह शिक्षा-प्राप्ति करता है।

यह सत्य है कि कभी-कभी शिक्षा-प्राप्ति पाठशाला में किसी यथार्थ उद्देश्य अर्थात कोई ऐसा उद्देश्य जिसे शिशु स्वयं अपना अनुभव करता हो, के बिना भी हो जाती है। परीक्षा में सफल होने के लिये जो शिक्षा-प्राप्ति की जाती है वह एक प्रसङ्गिग उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शिक्षा-प्राप्ति है। परीक्षा आगे बढ़ाने के लिये अनिवार्य बुराई है। परन्तु वह शिशु के जीवन का कोई यथार्थ उद्देश्य नहीं है। परीक्षा में सफल होना, अपने वातावरण के अनुकूल बन जाने अथवा इस वातावरण को अपने नियंत्रण में लेने के हेतु उसके संघर्ष का एक अंग नहीं है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि इसके द्वारा वह जीवन में अधिक सुगम स्थिति में प्रविष्ट हो जाता है और उसे अधिक साधनों के उपयोग करने में सहायता मिलती है। परन्तु यह एक कृत्रिम बात है। इसके विपरीत, यदि उसे पाठशाला में अच्छे ढंग की शिक्षा मिलती है और वह चिन्तन करना तथा अपने समक्ष आने वाली परिस्थितियों से निपटना सीख लेता है तो उसकी शिक्षा-प्राप्ति का यथार्थ मूल्य होता है और उसे

अपने सामाजिक तथा प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल बनने और उस वातावरण को अपने अधीन करने में सहायता मिलेगी। शिक्षा-प्राप्ति बहुधा पाठशाला में केवल दण्ड के भय से होती है। इसमें निस्संदेह, एक उद्देश्य होता है, अर्थात् दण्ड से बचना। परन्तु यह भी कोई यथार्थ उद्देश्य नहीं है। जो शिक्षा प्राप्ति इस कारण से होगी उसका अधिक मूल्य न होगा, कम से कम, उतना अधिक मूल्य तो हो ही नहीं सकता जो शिशु द्वारा स्वयं अपने उद्देश्य का आभास करने पर होता है।

इस प्रकार, शिक्षा-प्राप्ति का लक्ष्य एक उद्देश्य को कार्यान्वित करना, एक इच्छा की पूर्ति करना है। यह उद्देश्य सर्वदा किसी स्वतः भावी शक्ति, जन्म से प्राप्त किसी प्राकृतिक बल के प्रयोग से जुड़ा रहता है। हम शिक्षा-प्राप्ति इसलिये करते हैं कि अपने प्राकृतिक बल और शक्तियों का सबसे उत्तम विधि से प्रयोग करने के योग्य बन सकें। यह विधि ऐसी हो जो हमें अधिकतम संतोष प्रदान करेगी और अपने वातावरण के अनुकूल बनने तथा उसे अपने आधीन करने के द्वारा हमें उन्नति करने योग्य बना देगी।

शिक्षा-प्राप्ति की क्रिया

शिक्षा-प्राप्ति करते समय हम क्या करते हैं। अपनी सरलतम अवस्था में शिक्षा-प्राप्ति किसी परिस्थिति मे प्रतिवादन करने अथवा किसी सुधार के लिये, पिछले प्रतिवादन में संशोधन करने की समस्या है। यह एक चुनाव की समस्या है। शिशु बहुत सी चीजों को देखता है जिन्हें वह अपनी परिस्थिति के भीतर रहकर कार्यान्वित कर सकता है। वह इनमें से किसी एक के करने का निर्णय करता है, और देखता है कि वह सफल नहीं हुआ। तब वह दूसरे का परिक्षण करता है, फिर संभवतः तीसरे को परखता है...यहा तक कि उसे वह वस्तु प्राप्त हो जाती है जो इसका इच्छित परिणाम उसे दे देती है या कम से कम दूसरे परिणामों की अपेक्षा अधिक उपयोगी निकलती है। यह कार्य वह परीक्षा-और-त्रुटि पद्धति के द्वारा कर सकता है या वह अपने को ठीक करने के लिये अपने चिन्तन शक्ति का प्रयोग कर सकता है फिर या उसे निर्देश दिये जा सकते हैं जिनसे उसे सहायता मिलती है। परन्तु अपने परीक्षणों के परिणाम स्वरूप उसे सबसे उत्तम प्रतिवादन अथवा कार्य करने का ढंग प्राप्त हो जाता है और तब वह उसी पर अपना ध्यान केन्द्रित कर देता है, अर्थात् वह उस विशेष

कार्य की पुनरावृत्ति करता है। तब हम कहते हैं कि वह इस विशेष परिस्थिति में कार्य अपने इच्छित विशेष ठीक ढंग से करने की शिक्षा-प्राप्त कर रहा है। इस प्रकार शिक्षा-प्राप्ति पहले चुनना और फिर अभ्यास है।

उदाहरणतः कोई बालक है जो तिपाई बनाना चाहता है। उसे रन्दा चलाने की शिक्षा प्राप्त करनी होती है। वह फल एक स्थिति में रखकर चलाने की चेष्टा करता है। यह उस परिस्थिति के प्रति जो मांग करती कि पटरा सम तल किया जाये, उसका प्रतिवादन है। उसे लगता है कि उसका फल बहुत नीचे हो गया है। तब वह उसे ऊपर करता है। यह एक नया प्रतिवादन है। फिर भी अभी परिणाम संतोषजनक नहीं हुआ, तो वह फल को एक नई स्थिति में सरका देता है और अब उसे पता चलता है कि परिणाम संतोषजनक है। दूसरे समय जब उसे पटरे के टुकड़े पर रन्दा करना होता है तो उसे तीन प्रतिवादन नहीं करने पड़ते। वह तुरन्त फल को ठीक स्थिति में लगा देता है। उसने उसके लगाने की शिक्षा प्राप्तकर ली है। इस प्रकार उसकी शिक्षा-प्राप्ति परिस्थितियों द्वारा प्राप्त प्रतिवादनों में से सबसे उत्तम परिणामदायक प्रतिवादन चुनने की समस्या रही है। प्रारम्भ में संभवतः वह बिना अधिक झंझट के बिना फल को ठीक स्थिति में नहीं लगा सकता है। कई बार ऐसा करने के पश्चात् वह बिना झंझट के ऐसा करने की शिक्षा-प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ठीक प्रतिवादन चुन लेने के पश्चात् अभ्यास उस विशेष विषय में उसकी शिक्षा-प्राप्ति को सम्पूर्ण कर देती है।

इसी ढंग से शिशु पढ़ने की शिक्षा-प्राप्त करता है। वह एक ऐसे संसार में आता है। जिसका उसे ज्ञान नहीं है। वह अनेकों प्रतिवादन करता है, अर्थात जब तक कि उसे ठीक शब्द नहीं मिलता, वह अनेकों शब्द कहता है। फिर जब उसे ठीक शब्द मिल जाता है तो वह सम्भवतः अनेक बार उसका अभ्यास करता है। वह चुनता है और फिर अभ्यास करता है। जो प्रतिवादन वह चुनता है, वह वही होता है जिससे उसको संतोष प्राप्त हो, अर्थात जिससे उसे अपने उद्देश्य को कार्यान्वित करने में सहायता मिलती है।

शिक्षा-प्राप्ति इस शक्ति पर निर्भर करती है कि मनुष्यों को परिस्थितियों के विविध प्रतिवादन करने पड़ते हैं और उन प्रतिवादनों में से किसी एक को चुनना होता है। यही वह स्थान है जहाँ मनुष्य की स्वतःभावी शक्तियाँ पशुओं की शक्तियों से भिन्न होती हैं। पशु साधारणतया एक परिस्थिति के

प्रति केवल एक प्रतिवादन करते हैं और कोई भी शिक्षा प्राप्ति जो वह कर सकते हैं वह केवल परीक्षण और त्रुटि का परिणाम होती है। परन्तु मनुष्य ठीक प्रतिवादन अर्थात सबसे अधिक लाभदायक प्रतिवादन चुनने में सहायता पाने के लिये अपनी बुद्धि का उपयोग कर सकता है। इस प्रकार जब शिशु बड़े होते हैं तो परिस्थिति उत्पन्न होने पर उन्हें अनेकों प्रतिवादन करने नहीं पड़ते। वह चिन्तन कर सकते हैं कि विभिन्न प्रतिवादनों का परिणाम क्या होगा और सचमुच प्रतिवादन किये बिना वह उस प्रतिवादन को चुन सकते हैं जिसे वह समझते हैं कि सबसे अधिक उपयोगी होगा।

यह बात देखने में आयेगी कि जीवन के उन सभी भागों में जहाँ हम आदत का लाभ उठाते हैं, शिक्षा-प्राप्ति का परिणाम यह होगा कि एक विशिष्ट परिस्थिति में सदैव एक ही प्रतिवादन उस समय तक होता रहेगा जब तक हम वह प्रतिवादन बिना चिन्तन किये ही स्वयं न होने लगे। जब कोई शिशु प्रथम बार स्वयं अपने कपड़े पहनने की शिक्षा प्राप्त करता है तो उसे उसके विषय में चिन्तन करना पड़ता है वह त्रुटियाँ करता है और कभी-कभी उसे वस्तुओं को छोड़कर फिर से आरम्भ करना पड़ता है। परन्तु धीरे-धीरे जब वह ठीक प्रतिवादन की शिक्षा प्राप्त करता है, अर्थात वह ठीक विधि से कार्य करने की शिक्षा प्राप्त कर लेता है तो हम कहते हैं कि उसका कार्य आदतवश हो जाता है। इसका अर्थ केवल यह है कि उत्प्रेरक कार्य के फलस्वरूप ठीक प्रतिवादन चिन्तन किये बिना ही उत्पन्न हो जाता है। अन्त में वह उत्प्रेरक वस्तु के प्रति प्रतिवादन कर सकता है यद्यपि वह किसी दूसरे ही वस्तु के विषय में चिन्तन करता रहे। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उन सभी कार्यों में जहाँ आदतों का निर्माण करना होता है, शिशु को **प्रारम्भ से ही** ठीक प्रतिवादन को चुनने मे शिशु को सहायता देना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि ऐसा न किया गया तो वह ऐसी आदतों का निर्माण करेगा जो कि उपयोगी न होंगी वरन् हानिकारक होंगी। यह बात चरित्र के क्षेत्र में सत्य है। यह हस्तकला कार्य और पाठशाला के साधारण विषयों के सम्बन्ध में भी सत्य है। उदाहरणतः यह निश्चित करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि शब्दों का उच्चारण करते समय शिशु उत्प्रेरक वस्तु के प्रति ठीक प्रतिवादन को चुनें। इस समय जो अशुद्ध प्रतिवादन बढ़ते बढ़ते आदत का रूप धारण कर लेंगे आगे चलकर उनका उन्मूलन करना अत्यन्त कठिन होगा।

सबसे पहले हम निपुणता के विकास (अर्थात किसी कार्य के करने की शिक्षा प्राप्त करना) की समस्या को लेते हैं। इसमें हमें निम्नलिखित क्रिया मिलती है ।

१. **उत्प्रेरण**—शिशु अपने को जिस परिस्थिति में पाता है, वह परिस्थिति किसी न किसी प्रकार उसके मन में एक विशेष ढंग से कार्य करने की इच्छा उत्पन्न कर देती है। उसमें उसे रुचि हो जाती है। वह अपनी स्वतःभावी शक्ति का किसी विशेष ढंग से उपयोग करने की प्रेरक भावना को अनुभव करता है। उदाहरणतः एक बालक नाव **बनाना** चाहता है। उसकी सृजनात्मक प्रेरक भावना जागृत हो गई है। उसके वातावरण ने उसे किसी न किसी प्रकार उत्प्रेरण दिया है। हम जानते हैं कि समस्त शिक्षण में उत्प्रेरण या प्रेरणा की यह समस्या कितनी महत्त्वपूर्ण है। इसके बिना पाठ शिक्षकों तथा शिष्यों दोनों के लिये बड़ा कठिन होता है।

२. **चुनना**—उत्प्रेरण कार्य के लिये जागृति करता है और यह बात कई रूप धारण कर सकती है। यही प्रतिवादन होते हैं, शिशु तब उसी को चुनता है जो सबसे उत्तम अथवा आशाजनक प्रतिवादन प्रतीत होता है—अर्थात ऐसा प्रतिवादन जो लगता है कि उसे अपना इच्छित कार्य करने में सहायता देगा।

३. **कार्य**—अपना प्रतिवादन अर्थात अपनी कार्य-दिशा चुन लेने के पश्चात, उसे कार्य करना होता है। उसे कोई **कार्य करना** आवश्यक है। वह कभी भी बैठे हुये शिक्षक को बताते हुये सुन कर नाव बनाने की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। उसका शिक्षक यह निर्णय करने में सहायता दे सकता है कि प्रतिवादन कौन सा करे परन्तु शिशु को कार्य स्वयं करना चाहिये।

४. **प्रतिवादन पर पुनःविचार**—सम्भवतः शिक्षक को यह प्रतीत हो सकता है कि प्रतिवादन उतना फलदायक नहीं है जितना कि वह समझता था। उसका चुनाव ठीक नहीं रहा। उसका कार्य उसको यह बतलाता है। इसलिये वह अपने प्राप्त अनुभव को दृष्टिगत रख अपने चुनाव पर पुनर्विचार करता है और एक नया चुनाव करता है। एक नया कार्य चलने लगता है और उस समय तक चलता है जब तक उसे विश्वास नहीं हो जाता कि उसने ठीक प्रतिवादन प्राप्त कर लिया है। इस पूरी क्रिया के बीच, जब वह अपने को ठीक करता है उसे शिक्षक की सहायता उपलब्ध रहेगी।

५. पुनरावृत्ति—ठीक प्रतिवादन का अन्तिम रूप से निर्णय कर लेने के पश्चात उसे अभ्यास करना होता है। इस प्रकार लिखने की शिक्षा प्राप्त करने में, कलम पकड़ने और अक्षराकृति बनाने के ठीक ढंग की शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात उसे अभ्यास करते रहना पड़ता है।

६. आदत—अन्त में, अधिक अभ्यास के पश्चात्, एक आदत का निर्माण होता है और शिशु बिना परिश्रम और चिन्तन के इस निपुणता-कार्य को पूरा कर सकता है। निस्सन्देह, सम्भव है, कि उसकी आदत बहुत अच्छी न हो। दूसरे शब्दों में, उसने निपुणता का जो स्तर प्राप्त कर लिया है, वह बहुत उच्च नहीं है। यदि शिक्षक सावधानी पूर्वक देख भाल न करे तो सम्भव है कि उसने अशुद्ध प्रतिवादनों को अपनी आदत बना लिया हो। ऐसी दशा में पूरी क्रिया फिर से करनी होगी, परन्तु यह स्पष्ट है कि किसी निपुणता को पुनः विकसित करने की अपेक्षा किसी अशुद्ध रूप से विकसित निपुणता को शुद्ध करना कितना अधिक कठिन है। स्नायुकेन्द्र प्रभावित हो चुके हैं और स्वभावतः ऐसी विधियों से प्रतिक्रिया करता है जो अभ्यास के द्वारा आदत बन चुकी हैं और इन स्नायुमार्गों में परिवर्तन करना अत्यन्त कठिन होता है।

यदि शिक्षा-प्राप्ति इस प्रकार की हो कि उसमें ज्ञान को ग्रहण किया जाये तो क्रिया कुछ भिन्न होती है, जो—

१. संवेदन—संवेदन अपने वातावरण में वस्तुओं के सम्बन्ध में वह जानकारी है जो हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करते हैं। हम किसी वस्तु को देखते, अथवा सुनते या सूघंते हैं आदि-आदि। इसी विधि से हम संवेदनों की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार शिक्षा-प्राप्ति अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने में सर्वप्रथम तथ्य संवेदन है।

२. वस्तु बोध—संवेदन के पश्चात् वस्तु बोध का अवसर आता है जिसका अर्थ है पूर्व-प्राप्त अनुभव के प्रसंग में संवेदन का अर्थ निरूपण करना। एक शिशु पहली बार घोड़ा देखता है और उसे बड़ा कुत्ता कहता है। वह पहले कुत्तों को देख चुका है और उनके सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानता है, इसलिये वह संवेदनों के इस नये योग का अपने प्राप्त ज्ञान के प्रसंग में अर्थ निरूपण करता है। निस्सन्देह, शिशु यह काय सम्पूर्ण अचेत रूप में करता है।

३. साहचर्य्य—संवेदन तथा वस्तु बोध द्वारा प्राप्त ज्ञान का तब शिशु के पूर्व प्राप्त ज्ञान के संग साहचर्य्य स्थापित होता है और वह शिशु के मान-

सिक भण्डार का अंग बन जाता है। वह शिशु के स्मरण तथा जीवन में स्थिर हो जाता है। विविध वस्तुओं के बीच सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं।

४. **सामान्यकरण (प्रत्यय)**—इसका अर्थ केवल सामान्य धारणाओं का निर्माण है और वह वस्तु बोध द्वारा ही उत्पन्न होता है। सामान्यकरण और साहचर्य्य बहुधा साथ-साथ चलते रहते हैं।

५. **उपयोग**—अन्त में प्राप्त ज्ञान का उपयोग आता है। सामान्य सिद्धान्तों का कार्य में परीक्षण होता है और उनकी सत्यता स्थापित होती है। प्राप्त ज्ञान कार्य रूप में प्रदर्शित होता है और इस प्रकार शिशु की सम्पूर्ण कृति का वास्तविक अंग बन जाता है। कोई भी ज्ञान उस समय तक हमारा वास्तविक अंग नहीं बनता जब तक कि हम उसका उपयोग न कर लें। जब तक हम किसी ज्ञान को किसी न किसी ढंग से कार्य रूप में परिवर्तित न कर लें, हम नहीं कह सकते कि हम उस वस्तु को जानते हैं। इसी कारण ज्ञान-ग्रहण सम्बन्धी समस्त शिक्षा-प्राप्ति में व्यंजन (अथवा प्रदर्शन) कार्य का महत्त्व होता है।

यह तथ्य भी देखने में आयेगा कि क्रिया का प्रारम्भ भी अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। पूर्ण शुद्ध ज्ञान पूर्ण शुद्ध संवेदन पर निर्भर करता है। यदि हम इसमें अशुद्ध हो जायें तो सम्पूर्ण क्रिया अशुद्ध हो जायेगी। इसलिये शिशुओं की ज्ञानेन्द्रियों का प्रसाधन करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आंखों द्वारा ही नहीं वरन् सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पूर्ण शुद्ध अवलोकन समस्त प्रकार की पूर्ण-शुद्ध तथा संतोषजनक शिक्षा-प्राप्ति के लिये परमावश्यक हैं।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि इस प्रकार की शिक्षा-प्राप्ति में उद्देश्य का भी बहुत बड़ा भाग होता है। हम उन वस्तुओं का अवलोकन करते हैं जिनमें हमें रुचि होती है। जो वस्तुएँ हमें आकर्षक नहीं लगतीं, जिनका हमारे जीवन के उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उन्हें हम छोड़ देते हैं। इस प्रकार उद्देश्य शिक्षा-प्राप्ति की इस पूरी क्रिया को प्रभावित करेगा। वह हमारी शिक्षा-प्राप्ति को केवल उत्प्रेरित ही नहीं करेगा वरन् यह भी निर्धारित करेगा कि हम क्या और कैसे शिक्षा-प्राप्त करें। हम जिस भी श्रेणी की शिक्षा-प्राप्ति पर विचार कर रहे हों, शिक्षा-प्राप्ति क्रिया में उद्देश्य का महत्त्व जितना अधिक भी समझा जाये, थोड़ा है।

सार रूप से, हमें शिशुओं के शिक्षा-प्राप्त करने की निम्नलिखित विधियाँ

और शिक्षा-प्राप्ति की निम्नलिखित श्रेणियां मिलती हैं।

१. तथाकथित **प्रायोगिक शिक्षा-प्राप्ति**

"शिक्षा-प्राप्ति की क्रिया शिशु के जीवन के आरम्भिक मासों में, सम्पूर्ण रूप से नहीं तो कम से कम मुख्यतः उत्पन्न होने वाली व्यवहारिक आवश्यकताओं द्वारा प्राप्त ज्ञान ही तक सीमित रहती है। यह शिशु और पशु दोनों के लिये शिक्षा-प्राप्त का समान मौलिक नियम है। और इसमें सम्पूर्ण वंश तथा व्यक्ति का अधिक से अधिक विस्तृत अनुभव सम्मिलित है। यही कारण है कि ज्ञान को व्यवहारिक अथवा प्रायोगिक कहा जाता है। वह एक यन्त्र बन जाता है जिसके द्वारा उचित अनुकूलीकरण किया जाता है। इस प्रकार शिक्षा-प्राप्ति का आवश्यकता पड़ने पर और उस आवश्यकता के सीधे प्रतिवादन के अनुसार होता है।"[१]

यहां शिक्षा-प्राप्ति का अर्थ यह है कि शिशु पता लगाये कि वह अपने वातावरण में वस्तुओं का उपयोग कैसे कर सकता है और स्वयं अपने अंगों तथा शरीर का उपयोग कर सकता है। प्रारम्भ में यह कार्य तथा कथित परीक्षण-तथा-त्रुटि के द्वारा किया जाता है। शिशु पहले कार्य करने के एक ढंग का परीक्षण करता है, फिर दूसरे का यहाँ तक कि उसे वह ढंग हाथ आ जाता है जो उसे सन्तुष्ट कर देता है, अर्थात् उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के योग्य बना देता है। इस पद्धति में बुद्धि के उपयोग से शीघ्र ही संशोधन कर लिया जाता है, यद्यपि जब व्यस्कों के समक्ष कोई पहेली आ पड़ती है तो उनमें भी यह पद्धति देखने में आती है।

इस प्रकार की शिक्षा-प्राप्ति साधारण निपुणताओं के प्राप्त करने और शारीरिक आदतों तथा आदत-रूपी प्रतिवादन की विधियों के निर्माण में होती है, जिसका उदाहरण हमें लिखने और यंत्रों का प्रयोग करने की शिक्षा-प्राप्ति में मिलता है।

२. फिर हमें **अनुकरण** भी मिलता है। सभी शिशुओं में है कि अपनी कार्यशीलता सम्बन्धी प्रेरक भावना को दूसरों के कार्य तथा कथन के अनुकरण द्वारा प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति होती है। यह सम्भवतः झुण्ड-भावना के कार्य का फल है। अनुकरण सचेत और अचेत दोनों ही हो सकता है। छोटे

---

१. एस० एस० कालविन, दि लर्निंग प्रोसेज़ पृ० १६ (मैकमिलन)

शिशुओं में यह साधारणतः अचेत रूप से होता है। अर्थात्, दूसरे जो कुछ करते हैं, वह उसकी नकल करते हैं, और उन्हें यह विचार नहीं होता कि वह नकल कर रहे हैं और उनका कोई सचेत उद्देश्य होता है। फिर भी पाठशाला में अनुकरण बहुधा सचेत होता है जैसे कि शिक्षक जिस ढंग से लिखता, पढ़ता अथवा नकशा बनाता है शिशु उसका सचेत रूप से अनुकरण करता है। इस प्रकार की शिक्षा-प्राप्ति जो अनुकरण का परिणाम होती है, साधारणतः वही होगी जिसे ऊपर बतलाया जा चुका है परन्तु वस्तु बोधात्मक शिक्षा-प्राप्ति भी हो सकती है।

३. **वस्तु बोधात्मक और प्रत्यय-सम्बन्धी शिक्षा**—यह वह शिक्षा-प्राप्ति है जो संवेदन से उत्पन्न होती है जिसका अर्थ निरूपण होता है। तब अर्थ निरूपण का सामान्यकरण किया जाता है। हम जिसे अप्रयोगिक शिक्षा-कहते हैं, उसका अधिकाश भाग इसी तरह पूरा होता है। शिशु किसी वस्तु का अवलोकन करता है, जो कुछ देखता है उसे समझता है और उसे किसी श्रेणी में रख देता है। इसमें दो प्रकार की शिक्षा प्राप्तियाँ—वस्तुबोधात्मक और प्रत्यय सम्बन्धी—सम्मिलित होती हैं। इस विधि से हम सामान्य विचारों नियमों, परिभाषाओं और सिद्धान्तों की शिक्षा प्राप्त करते हैं।

४. **साहचर्य्य द्वारा शिक्षा-प्राप्ति**—शिक्षा-प्राप्ति की इस विधि का अर्थ केवल एक विचार से दूसरे विचार को सम्बद्ध करना (और इस प्रकार पूर्व प्राप्त ज्ञान से) सम्बद्ध करना है। इस ढंग से विचार और तथ्य याद किये जाते हैं और ज्ञान के एक समूह का निर्माण होता है। इस प्रकार की शिक्षा-प्राप्ति साहचर्य्यात्मक कहलाती है और इसी विधि से हम मौखिक सूचनाओं को सीखते हैं और विचारों और तथ्यों को स्मरण रखते हैं।

५. जैसा कि कई बार ज़ोर देकर कहा जा चुका है, **हम कार्य करने के द्वारा** शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की शिक्षा-प्राप्ति कार्यशीलता पूर्ण श्रेणी की होती है। शिक्षा-प्राप्ति कार्य के द्वारा होती है और शिक्षा-प्राप्ति का यह ढंग हर प्रकार के कार्य के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है, या होना चाहिये।

६. हमें कभी भी न भूलना चाहिये कि शिशु **खेल के द्वारा शिक्षा प्राप्त** करते हैं। यह बात भी सभी प्रकार के कार्यों के लिये सत्य है। यदि कार्य खेल भाव से किया जाता है तो शिशु जितने सुगम और सम्पूर्ण रूप से शिक्षा प्राप्त करते हैं, उतना किसी अन्य समय पर नहीं करते। खेल जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण

मात्र है, जो रुचि उत्पन्न करता है, प्रतिवादनों को उत्तेजित करता है और हस्तगत कार्य में समस्त शक्तियों का प्रयोग किया जाना निश्चित बना देता है।

शिक्षा-प्राप्ति को प्रभावित करने वाले तथ्य

जीवन और पाठशाला की अनेकों परिस्थितियाँ होती हैं जो हमारे शिशुओं पर शिक्षा-प्राप्ति के समय अत्यन्त निश्चित प्रभाव डालती हैं। यदि हम उन्हें शिक्षा-प्राप्ति और जीवन के संग अधिकतम सन्तोषप्रद अनुकूलीकरण करने में सहायता देना चाहते हैं, तो हमारे लिये इन परिस्थितियों को ध्यान में रखना आवश्यक है। निम्नलिखित सबसे महत्वपूर्ण हैं।

१. शिक्षा-प्राप्ति आनुवन्शिक मेघ (गुण) पर निर्भर करती है।

परम्पराप्राप्त स्वत: भाविक प्रवृत्तियाँ बल की मात्रा के अनुसार प्रत्येक शिशु में भिन्न होती हैं। हर शिशु की स्वाभाविक समझदारी प्रत्येक दूसरे शिशु से भिन्न हाती है। शिशु विशिष्ट योग्यताओं मे भी भिन्न होते हैं। चतुर शिशु ठस शिशुओं की अपेक्षा पूर्व-प्राप्त अनुभव से अधिक लाभ उठा सकता है। वह पारस्परिक सम्बन्धों को अधिक शीघ्रता से देख सकता है और इस प्रकार अधिक सुगमता से उत्तम शिक्षा प्राप्त कर सकता है। एक शिशु एक विशेष प्रकार की विशेष-सामग्री, की जो उसकी विशिष्ट योग्यता से जुड़ी हुई है, सुगमता पूर्वक शिक्षा प्राप्त कर लेता है परन्तु दूसरे को वह विषय कठिन और दूसरे विषय सहज लग सकते हैं। आनुवन्शिक मेघ में न परिवर्तन हो सकता है और न वृद्धि (यद्यपि उसका उपयोग और विकास हो सकता है) इस प्रकार शिक्षा-प्राप्ति की योग्यता तथा उसका वेग-माप इसी मेघ द्वारा निर्धारित होता है।

२. शिक्षा-प्राप्ति शिशुओं की शारीरिक स्थिति पर निर्भर करती है।

शिक्षा प्राप्ति पर शारीरिक दुर्बलता, दीर्घकालीन व्याधि, पोषणाभाव, थकावट और सामान्य स्वास्थ्य की स्थिति का प्रभाव पड़ता है। घर का वातावरण, रहन सहन, वायु के आवागमन की व्यवस्था, घर पर किये जाने वाले कार्य की मात्रा (घर से कर लाने वाले कार्य के अतिरिक्त), पाठशाला जाने में चलने की दूरी आदि अदि सभी का शिशु के शिक्षा-प्राप्ति के वेग-माप तथा सामान्य प्रतिवादन पर प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी याद रखना है कि शिक्षक की शारीरिक स्थिति शिशु की शिक्षा-प्राप्ति के वेग-माप को प्रभावित करती है, क्योंकि उसका प्रभाव पाठ का शिक्षण करने के ढंग और शिक्षक

और शिशु के सम्बन्ध पर पड़ता है।

३. शिक्षा प्राप्ति वेग-वर्धन पर निर्भर करती है।

उत्प्रेरण का महत्त्व हम शिक्षण के सम्बन्ध में, अर्थात इस क्रिया पर शिक्षक के दृष्टिकोण से विचार करते समय देख चुके हैं। यह तथ्य उस समय भी सत्य होते हैं, जब हम इस क्रिया पर शिष्य के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। शिशु जिन विविध परिस्थितियों में पड़ता रहता है, उन्हीं की आवश्यकताओं के अनुसार उसका मानसिक, शारीरिक तथा आत्मिक रूप से उसका विकास होता है। पाठशाला एक कृत्रिम रूप से व्यवस्थित वातावरण है। यह वातावरण जिस प्रकार उससे माँग करता है, अर्थात जिस प्रकार उसकी रुचि को जागृत कर देता है, उसी प्रकार शिशु प्राप्त करता है। शिक्षक द्वारा मार्गदर्शन उसे ठीक ढंग का वेग-वर्धन देने का प्रश्न है जिससे उसे ठीक कार्यों को ठीक ढंग से करने में सहायता मिल सके।

वेग-वर्धन कई ढंगों से किया जायेगा और उत्प्रेरण के सम्बन्ध में जो भी संकेत किये जा चुके हैं, सभी यहाँ लागू होते हैं।

४. शिक्षा-प्राप्ति उस निमित्त पर निर्भर करती है, जो हम शिष्यों के समक्ष रखते हैं।

प्रत्येक शिशु के समक्ष एक निश्चित निमित्त अर्थात एक प्रमाण उपस्थित रहना चाहिये जहाँ तक पहुँचने की उससे आशा की जाती है। यह कार्य रुचना तथा निपुणता प्राप्त करने के दोनों क्षेत्रों में किया जाना चाहिये। छोटे शिशुओं के लिये निमित्त अथवा प्रमाण ऐसा होना चाहिये जिसे शीघ्र ही प्राप्त किया जा सकता है। तब दूसरे प्रमाण निश्चित करना होगा। बड़े शिशुओं के लिये दूर के निमित्त निर्धारित किये जा सकते हैं। परन्तु निश्चित निमित्त अवश्य होने चाहियें जिनकी ओर शिशु बढ़ता हो और स्पष्ट रूप से समझता हो तभी जाकर कहीं शिक्षा-प्राप्ति में वेग-वर्धन हो सकता है। शिष्य जब प्रगति करते हैं तो उन्हें ऐसे प्रमाणों की तुलना में अपनी प्रगति की जाँच-पड़ताल करने का अवसर प्रदान करना चाहिये। जब कार्य पर (नम्बर) अंक दिये जायें अथवा परीक्षा ली जाये तो शिष्यों को अपने अंक सदैव बतला देना चाहिये। जैसा कि पहले ही देख चुके हैं[1] अंक (नम्बर) देने में कार्य

१. देखो पृ० ६३-६४

के भीतर प्राप्त लक्ष्य रूपी स्तर के अतिरिक्त दूसरी बातों पर भी ध्यान देना चाहिये।

"अभ्यासों की शुद्धि करते समय अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में थोड़ी बहुत नर्मी से अंक देकर तथा कम कड़ी आलोचना करके सफलता पर जोर देना चाहिये और जैसे-जैसे प्रवीणता और विश्वास बढ़ता जाये, कार्य-स्तर को क्रमिक रूप से ऊँचा किया जा सकता है। प्रारम्भ में कठोरता पूर्वक अंक देना और अलोचना करना किसी कोमल पौधे की फूटती कोंपल को नोच लेना है।

इस अन्तिम नियम के बहुत अच्छे उदाहरण अमरीकी विश्वविद्यालयों द्वारा किये गये शिक्षा-प्राप्ति अनुसंधान में प्राप्त हुये। विद्यार्थियों की एक उपकक्षा को यह विश्वास हो गया कि वह अपनी उन्नति करने की योग्यता की चरम सीमा को पहुँच गये हैं, और लगभग अनजाने ही उन्होंने आगे चेष्टा करना समाप्त कर दिया। अवेक्षक ने तब उस उपकक्षा के अंकों को इस प्रकार 'व्यवस्थित किया' कि देखने में प्रगति प्रतीत होने लगे। तुरन्त ही सम्बन्धित विद्यार्थियों ने अपनी चेष्टाओं को पुनः आरम्भ कर दिया और कृत्रिम प्रगति को सचमुच प्राप्त कर लेने वरन् और आगे बढ़ाने के लिये अग्रसर हो गये।"[१]

जैसा कि यह अनुसंधान सिद्ध करता है कि अङ्कन करते (नम्बर देते) समय केवल यही बात महत्वपूर्ण नहीं है कि अभ्यास के उद्देश्यात्मक मूल्य के अतिरिक्त दूसरी स्थितियों को ध्यान में रखना चाहिये, यह भी महत्वपूर्ण कार्य है कि शिष्य के मन में किसी प्रकार का स्वसतोष न उत्पन्न होने पाये। शिष्य की कभी भी यह धारणा बनने न देनी चाहिये कि उसके कार्य में उन्नति का अब कोई स्थान नहीं रहा और अब उसे और वस्तु की शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है।

'अल्प शिक्षा प्राप्ति' इस रूप में खतरनाक है कि उसके द्वारा शिशु ने जो कुछ प्राप्त कर लिया है वह उसी पर संतुष्ट हो सकता है। शिशु किसी निपुणता प्राप्त करने के सम्बन्ध में जो आवश्यकता अनुभव करता है, वह शिशु द्वारा अपने तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति योग्य प्रवीणता प्राप्त करते हीं घटने लगता है। इसलिये यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, कि शिशु जैसे ही

---

१. ए० पिसेन्ट—दि प्रिन्सिपुल्ज़ ऑव टीचिंग मेथड पृ० १२४ (हैरप)

निपुणतायें प्राप्त करने लगे, उसे अपने समक्ष यथार्थ और शुद्धता (ठीक-ठीक) के निश्चित प्रमाण उपस्थित कर लेने चाहियें।"[१]

५. शिक्षा-प्राप्ति में वस्तुओं का एक सम्पूर्ण परिस्थिति के साथ अंग के रूप में साहचर्य्य स्थापित करने से सहायता मिलती है।

जैसा कि थार्नडाइक ने बतलाया है, उन वस्तुओं को एक साथ रखना चाहिये जिन्हें हम एक साथ चलाना चाहते हैं। शिशु की ग्राह्य-शक्ति की सीमाओं में रहकर किसी भी अनुभव को जितना अधिक परिपूर्ण बनाया जा सकता है, शिक्षा-प्राप्ति भी उतनी ही अधिक फलदायक होगी। किन्तु इस प्रकार का साहचर्य्य कृत्रिम अथवा लादा हुआ नहीं होना चाहिये। उसे स्वभाविक रूप से उत्पन्न होना चाहिये। परियोजना पद्धति की सफलता का एक कारण यही है। किसी परियोजना को कार्यान्वित करने में बहुत सी भिन्न-भिन्न वस्तुओं को एक ही क्रिया के अंकों के रूप में एकत्रित किया जाता है और उनका पारस्परिक सम्बन्ध सुगमतापूर्वक शिशु समझ लेते हैं।

६. फलदायक शिक्षा-प्राप्त मार्ग-दर्शन तथा निर्देश पर निर्भर करती है।

शिशुओं का अपने वातावरण में सबसे उत्तम प्रतिवादन चुनने के लिये पथ-प्रदर्शन करना होता है। उन्हें बतलाना होगा कि एक प्रतिवादन दूसरे की अपेक्षा अधिक उपयोगी क्यों है। जब वह पहले चुनाव के पश्चात् अभ्यास आरम्भ करते हैं, तो उनका पथ-प्रदर्शन होना चाहिये। यह यन्त्रों के प्रयोग की ठीक विधियों के लिये विशेषकर आवश्यक है चाहे यह यन्त्र शब्द हो, अथवा कलम या हथौड़ा या आरी।

जब किसी निपुणता की शिक्षा प्राप्त की जा रही हो तो पथ-प्रदर्शन की एक सबसे उत्तम विधि यह है कि कार्य करने के ठीक ढंग का प्रदर्शन कर दिया जाये। शान्ति निकेतन के प्रसिद्ध कलाकार नन्दलाल बोस शिशुओं को रेखाङ्कन कला की शिक्षा देते समय बहुधा ध्यान पूर्वक देखते हैं कि शिशु क्या बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। फिर वह स्वयं शिशुओं की बनाई हुई रेखाओं के निकट ही वह रेखा खींच देते हैं जिसके बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसके पश्चात वह कुछ कहे बिना आगे बढ़ जाते हैं। पथ-प्रदर्शन और

---

१. आर० स्ट्रैंग—'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु चाइल्ड स्टडी, पृ० ४८५-६ (मैकमिलन)

तुलना को अपना कार्य करने और आवश्यक पथ-प्रदर्शन करने के लिये छोड़ दिया जाता है।

७. शिक्षा-प्राप्ति पर शिष्यों की मनोभाविक स्थिति का प्रभाव पड़ता है।

भय और अरक्षा तथा तुच्छता की भावनायें शिक्षा-प्राप्ति के विरुद्ध कार्य करती हैं। मनोभाविक परिस्थितियां साधारणतः शिशु के प्रति बड़े लोगों के व्यवहार से उत्पन्न होती हैं। शिक्षक प्रशंसा का सम्भवतः जितना अधिक उपयोग कर सकता हो, अवश्य करे क्योंकि उसके फल स्वरूप आत्म-विश्वास जागृत होता है और आगे बढ़ने के प्रयासों का वेग-वर्धन होता है। यह तुच्छता की भावनाओं और भय के विरुद्ध लड़ती है। जो कार्य भली-भांति किया जाये अथवा करने की चेष्टा की जाये, उसकी प्रशंसा या स्वीकृति करने से विश्वास, आत्म-सम्मान, आत्म-निर्भरता और आशा का निर्माण करने में सहायता मिलती है। शिशु को वह सन्तोष प्राप्त होता है, जो (जैसा कि हम देखेंगे) समस्त स्थायी शिक्षा-प्राप्ति के लिये परमावश्यक है। परन्तु यदि किसी शिशु को निरन्तर यही बतलाया जाता है कि तुम्हारा कार्य बुरा है, तुम सफल नहीं हो सकते और तुम्हारे भीतर कोई योग्यता नहीं है, शीघ्र ही उसमें वह सारी दुर्भाग्यपूर्ण विशेषतायें उत्पन्न हो जायेंगी जो तुच्छता की भावना के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती हैं। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि शिक्षक कभी भी शिशु की त्रुटियों को न पकड़े और क्षुद्र कार्य के लिये उसकी आलोचना न करे। परन्तु जब कभी भी सम्भव हो और जब कभी शिक्षक अनुभव करे कि शिशु पूरा प्रयत्न और अच्छे ढंग से कार्य कर रहा है, तो प्रशंसा अवश्य होनी चाहिये। साधारणतः त्रुटियां निकालने में हमारा हाथ बहुत अधिक खुला होता है और प्रशंसा करने में हम बहुत अधिक कंजूस होते हैं। ऐसी स्थिति में शिशु की शिक्षा प्राप्ति को धक्का लगता है।

८. शिक्षा-प्राप्ति सदैव एक सम्पूर्ण परिस्थिति का फल होती है।

हम विभिन्न तथ्यों पर पृथक-पृथक विचार कर चुके हैं, परन्तु जीवन के भीतर यह तथ्य पृथक-पृथक कार्य नहीं करते। हमें सम्पूर्ण परिस्थिति पर ध्यान देना होता है। इस परिस्थिति में शिशु की स्वाभाविक योग्यता, उसका स्वास्थ्य, उसका वातावरण तथा उसका प्रभाव, उसके उद्देश्य, उसकी इच्छायें, अभिलाषा, उसका मनोभाविक विकास, उसका पिछला अनुभव, तथा प्राप्त पथ-दर्शन और निर्देश सम्मिलित हैं।

पाठशाला में शिशु अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति को जितना अधिक जीवन से जितना अधिक सम्बद्ध देखता है, उसकी शिक्षा प्राप्ति भी उतनी ही अधिक फलदायक और स्थायी होगी। उदाहरणतः अङ्कगणित के प्रश्नों को ऐसे व्यवहारिक रूप में होना चाहिये जो शिशु के दैनिक जीवन में उसके समक्ष आते रहेंगे। इतिहास का सम्बन्ध वर्तमान समस्यायों से जोड़ना चाहिये। शिक्षा प्राप्ति की सम्पूर्ण परिस्थिति को शून्य में लटकता नहीं रखना चाहिये वरन् उसे यथा सम्भव एक सजीव परिस्थिति होना चाहिये।

: ५ :

शिक्षा-प्राप्ति की व्यवहार विधियाँ

जब हम शिक्षा-प्राप्ति की क्रिया तथा शिशुओं और प्रौढ़ों की शिक्षा-प्राप्ति के ढंगों का अध्ययन करते हैं तो हमें कुछ सिद्धान्त या व्यवहार विधियाँ दिखाई देती हैं जिनका मनुष्यों की शिक्षा-प्राप्ति के समय साधारणतः पालन किया जाता है। हम यह दावा नहीं कर सकते कि जिस समय भी कोई शिशु कोई शिक्षा प्राप्त करता है तो इन व्यवहार विधियों, या सभी व्यवहार विधियों का पालन होता है। परन्तु इन व्यवहार विधियों के द्वारा हमें यह आभास होता है कि सामान्य रूप से क्या क्रिया होती है। और यह कहना सत्य होगा कि इन सिद्धान्तों की अवहेलना करने से जिस प्रकार की शिक्षा-प्राप्ति होगी उसकी अपेक्षा उनका पालन करने से शिक्षा-प्राप्ति अधिक सन्तोषजनक होगी और परिणाम अधिक उत्तम होंगे। इन व्यवहार विधियों का ज्ञान होने से हमें अपने पाठों को योजना बद्ध करने और शिशुओं को अपने कार्य में अच्छी प्रगति के हेतु सहायता देने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उनका पालन करने से पाठशाला तथा पाठशाला-कार्य हमारे शिशुओं और स्वयं हमारे लिये अधिक सुगम और चित्तरंजक बन जायेगा। इसी कारण हमारे लिये शिक्षा-प्राप्ति की व्यवहार विधियों—अर्थात् शिशुओं की शिक्षा-प्राप्ति की साधारण विधि को यथा सम्भव भली-भांति समझ लेना आवश्यक है।

१. पहली व्यवहार विधि **तत्परता सम्बन्धी व्यवहार-विधि है**। इसका निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया जा सकता है। शिक्षा-प्राप्ति सबसे उत्तम उस समय होती है जब कोई व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने के लिये तत्पर हो। जब कोई वेग-वर्धक वस्तु वर्तमान हो तो शिक्षा-प्राप्ति स्वभाविक रूप से हो जाती है। जब व्यक्ति इस विधि से कार्य करने को तत्पर हो तो कार्य करने से सन्तोष प्राप्त होता है परन्तु कार्य करने से रोक दिये जाने पर असन्तोष उत्पन्न होता है। जब कोई व्यक्ति कार्य करने को तत्पर नहीं है, उसका वेग-वर्धन नहीं हुआ तो

कार्य करने के लिये बाध्य होने से असन्तोष उत्पन्न होता है।

वास्तव में यह वही बात है जिस पर दूसरे ढंग से बारम्बार जोर दिया जा चुका है अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के मन में कार्यशीलता की प्रेरक भावना वर्तमान रहती है, और बहुत सी धारायें हैं जिनके मध्य कार्यशील होने की यह इच्छा कार्य करती है। जब यह स्वतः भाविक प्रवृत्तियां जागृत हो गई हों, अर्थात् जब उसका मनोवेगवर्धन हो गया हो, उस समय कार्य करने से सन्तोष प्राप्त होता है। ऐसे समय करने से रोक दिये जाने पर कुढ़न होती है। हम सबसे उत्तम शिक्षा-प्राप्ति तभी करते हैं जब हम कार्य करने के लिये तत्पर हों और इसका अर्थ यह है कि हम सबसे उत्तम शिक्षा-प्राप्ति तभी करते हैं जब हमारी स्वतः भाविक प्रवृत्तियाँ जागृत हो जायें और कार्यशीलता की प्रेरक भावना स्वयं अपना अनुभव कराने लगे। हमें याद रखना चाहिये कि, निस्सन्देह, जब हम शब्द 'कार्य करना' का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय मानसिक तथा शारीरिक कार्य दोनों ही से होता है। जब कोई स्वतः भावना कार्य करती है तो सम्पूर्ण शरीर कार्य करता है।

छोटे बालक सदैव खेलने को तत्पर रहते हैं। शिक्षक कक्षा को बतलाता है कि अब खेल होने जा रहा है। इस कार्य के द्वारा वह कक्षा का मनोवेगवर्धन कर देता है। वह कार्य करने के लिये तत्पर हो जाते हैं। खेल खेलने के लिये कुछ चीज़ें तैयार कराना आवश्यक होता है, जैसे, कुछ डंडे काटने होंगे या कुछ शब्दों को गत्ते के टुकड़ों पर लिखना होगा। शिशु कार्य करने के लिये तत्पर है, इस कारण जो कुछ भी किया जाना है वह उत्साह पूर्वक करेंगे, चाहे उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में कुछ न कुछ विलम्ब ही क्यों न हो जाये, किन्तु जो कुछ बनाया जाना है, वह उसे उचित ढंग से बनाने की शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं। वह इस कारण शिक्षा-प्राप्ति कर लेते हैं क्योंकि वह कार्य करने के लिये तत्पर हैं।

या फिर, शिक्षक उनकी कलह-सम्बन्धी स्वतः भावना को आकर्षित कर कार्य में प्रतियोगिता का आयोजन कर सकता है। फिर शिशुओं का मनोवेग-वर्धन होता है। वह शारीरिक अथवा मानसिक कार्य के लिये तत्पर हैं। जब उन्हें पता लगता है कि प्रतियोगिता में भाग लेने के लिये उन्हें कुछ शब्दों के हिज्जे सीखने पड़ेंगे, तो वह प्रसन्नता पूर्वक उनकी शिक्षा-प्राप्त कर लेंगे। इसी प्रकार प्रतियोगिता मे सफलता के लिये जो कुछ भी आवश्यक होगा वह

सभी की शिक्षा-प्राप्ति कर लेंगे।

किसी कक्षा से नाटक खेलने को कहा जाता है। यह बात शिशुओं की आत्म-प्रदर्शनात्मक स्वतः भावना और उनकी सृजनात्मक प्रेरक भावना को आकर्षित करती है। इस प्रकार वह तत्पर हो जाते हैं और उनका मनोवेगवर्धन होता है। परिणाम यह होता है कि वह बहुत कुछ हृदयगंम कर लेते हैं और बहुत सी वस्तुयें बनाते हैं जिससे कि नाटक सफल हो सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्परता सम्बन्धी व्यवहार विधि उसी सत्य के वर्णन का एक ढंग है जिस पर हम पाठ देने की समस्या का अध्ययन करते समय विचार कर चुके हैं। हम अपने शिशुओं द्वारा जो कार्य कराना अथवा शिक्षा-प्राप्ति कराना चाहते हों उसके लिये हमें अपने शिशुओं के मन को तैयार करना चाहिये। यदि शिशुओं को भली-भांति और स्वयं अपने सन्तोष के लिये शिक्षा-प्राप्ति करनी है तो हमें उनका मनोवेगवर्धन करना होगा। हम उनकी स्वतः भाविक प्रवृत्तियों का जितना अधिक उपयोग और उनका जितना अधिक उत्कृष्टीकरण कर लेंगे, हमारे शिशु उतनी ही उत्तम शिक्षा प्राप्त करेंगे।

इस तत्परता सम्बन्धी व्यवहार विधि पर विचार करते समय कभी-कभी एक शब्द 'मस्तिष्काकृति' प्रयुक्त होता है। मस्तिष्काकृति का अर्थ केवल किसी की किसी विशेष प्रकार की कार्यशीलता के लिये किसी मनुष्य की सामान्य तत्परता है। किसी विशेष कार्य के लिये तत्परता, जिस पर हम विचार कर रहे हैं वास्तव में एक मस्तिष्काकृति ही का फल है। मस्तिष्काकृति तत्परता की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिक सामान्य होती है।

एक बालक की मस्तिष्काकृति किसी विशेष खेल, जैसे हाकी खेलने की शिक्षा-प्राप्ति के लिये हो सकती है। यह उसके मस्तिष्क का सामान्य दृष्टिकोण है। वह इस खेल की उत्साहपूर्ण ढंग से शिक्षा-प्राप्ति करना चाहता है। उस समय उसका सामान्य उद्देश्य यही है। इसलिये वह इस खेल से सम्बन्धित सभी बातों की शिक्षा-प्राप्त करने के लिये तत्पर है। कैसे स्टिक पकड़ी जाये, कैसे उसका उपयोग हो, टोली (टीम) के भीतर अपनी स्थिति कैसे बनी रहे और गेंद कब और कैसे बढ़ाई जाये, आदि-आदि सभी की शिक्षा प्राप्त करने के लिये वह तत्पर है। यह सब छोटे-छोटे उद्देश्य हैं जिन्हें वह बड़े उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्यान्वित करने को तत्पर है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक रूप से

मस्तिष्काकृति और तत्परता के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। एक का सम्बन्ध बृहतर उद्देश्य से है और दूसरी अर्थात् तत्परता का सम्बन्ध छोटे गौण उद्देश्यों से है।

उदाहरणतः हमारी मस्तिष्काकृति एक विशेष परीक्षा में सफल होने की है। इसलिये, यदि हमें सम्पूर्ण परीक्षा में सफल होना है तो, हम विविध विषयों की जिनमें हम सफल होना चाहते हैं, शिक्षा-प्राप्ति करने के लिये तत्पर हैं।

दूसरी शिक्षा-प्राप्ति सम्बन्धी दूसरी व्यवहार विधि **परिपक्वता सम्बन्धीय व्यवहार विधि** है। शिशुओं के विकास में ऐसे काल आते हैं जब कि वह भिन्न-भिन्न विषयों तथा निपुणताओं की शिक्षा प्राप्त करने को 'तत्पर' रहते हैं। ऐसे काल में प्रशिक्षण और निर्देश के द्वारा शिक्षा-प्राप्ति में दूसरे काल की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से फल मिलता है।

यह वास्तव में तत्परता सम्बन्धी व्यवहार विधि का एक विशेष उदाहरण है। इस बात का अधिकाधिक प्रमाण मिलता है जिससे सिद्ध होता है कि अपनी परिपक्वता की कुछ निश्चित अवस्थाओं में शिशु पढ़ने, लिखने और बीजगणित की विभिन्न क्रियाओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिये तत्पर रहते हैं। हम जानते हैं कि विकास की एक विशेष अवस्था होती है जब शिशु चलने की शिक्षा-प्राप्त करेगा। इस अवस्था के आने से पहले उसे चलवाने की चेष्टा करना केवल अलाभदायक नहीं वरन् निश्चित रूप से हानिकारक होता है। यही बोलने के सम्बन्ध में होता है। जब बोलने की शिक्षा-प्राप्ति का काल आ जाता है तो शिशु थोड़े से समय ही में आश्चर्यजनक संख्या में शब्दों को सीख लेता है। उसे शब्दों के कहने मे गहरी रुचि होती है और उस समय पर निर्देश जितना प्रभावशाली होता है, उतना न उस समय से पहले होता और न, सच पूछो तो, कभी उस समय के पश्चात् होता।

डेनमार्क में यही परिणाम देखने में आया। जनपाठशालाओं में बहुत से शिष्य अतिशीघ्र उन्नति करते हैं यद्यपि उन्हें प्रारम्भिक पाठशालाओं के अतिरिक्त जिसे वह १४ वर्ष की आयु में छोड़ देते हैं, कहीं और कोई शिक्षा-प्राप्ति नहीं होती। "फिर भी अनुभव से सिद्ध होता है कि सूचना की वही मात्रा, जिसकी शिक्षा-प्राप्त करने में अर्धव्यस्कों को कक्षाओं में ऊंघते तीन से पांच वर्ष तक लग जाते हैं, ऐसे प्रौढ़ों द्वारा, जो शिक्षा-प्राप्ति के लिये उत्सुक हैं और स्वयं व्यवहारिक कार्य कर चुके हैं, तीन से पांच मास की अवधि में प्राप्त

की जा सकती है।"[१]

शीघ्र-शिक्षा-प्राप्ति के काल सामान्यतः रूप किसी क्षमता के परिपक्कता के निकट पहुँच जाने के फलस्वरूप आते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि जब हम अपने शिष्यों को कोई कार्य करने के लिये देते हैं तो उनकी परिपक्कता की मात्रा को ध्यान में रख कर देना चाहिये। विभिन्न विषयों और निपुणताओं के काल का पता लगाने के लिये इस देश में अभी बहुत अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। सम्भवतः हम अत्यन्त अल्प अवस्था ही में बीजगणित की क्रियाओं का शिक्षण करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु जहां तक ज्ञान का सम्बन्ध है, हमें परिपक्कता द्वारा प्राप्त तत्परता को ध्यान में रखना चाहिये।

३. तीसरी व्यवहारविधि **उद्देश्य सम्बन्धी व्यवहारविधि** है। किसी कार्य के करने के लिये किसी मनुष्य का उद्देश्य जितना अधिक प्रबल होगा, उस उद्देश्य की पूर्ति से सम्बन्धित विषयों की शिक्षा-प्राप्त करने के लिये उस की तत्परता भी उतनी ही अधिक होगी और जो विषय उसके उद्देश्य की पूर्ति से सम्बन्धित न होगा, उसकी शिक्षा-प्राप्त करने के लिये उसकी तत्परता का अभाव भी उतना ही अधिक होगा।

इस व्यवहार विधि के सम्बन्ध में अधिक बातें कहना आवश्यक नहीं है। अभी तक हमने जो कुछ विचार किया है, उससे हम देख चुके हैं कि उद्देश्य का हमारे जीवन और समस्त शिक्षण तथा शिक्षा-प्राप्ति में कितना महत्वपूर्ण भाग होता है। हम अभी देख चुके हैं कि किस प्रकार अपनी स्वतः भाविक प्रवृत्तियों का मनोवेगवर्धन कर हम शिक्षा-प्राप्ति के लिये तत्पर किये जाते हैं। और जब हमारी स्वतः भावनायें कार्य करती रहती हैं तो हमारे समक्ष सदैव कोई न कोई उद्देश्य सचेत या अचेत रूप से अवश्य रहता है। इसलिये यदि हमारी इच्छा है कि हमारे शिशु शिक्षा-प्राप्ति के लिये तत्परता की स्थिति में आ जायें, तो हम यह प्रयत्न करेंगे कि एक उद्देश्य सचेत रूप से उनके समक्ष अवश्य हो। यदि वह किसी ऐसे उद्देश्य को कार्यान्वित करते रहते हैं, अथवा कार्यान्वित करने की इच्छा में रखते हैं, जिसको वह वास्तव में अनुभव तथा पसन्द करते हैं, तो

---

१. एच० बेगट्रप, एच० लुन्ड, पी० मैनिशे—दि फोल्क हाई स्कूल्स ऑव डेनमार्क पृ० १३४ (ओ० यू० पी०)

वह वास्तव में कार्य करने तथा शिक्षा-प्रप्ति के लिये तत्पर रहेंगे। हम अपने शिशुओं के उद्देश्यों का जितना अधिक लाभ उठा सकते हैं, हमारा कार्य हमारे लिये तथा हमारे शिशुओं के लिये उतना ही अधिक सन्तोषजनक होगा। परियोजना पद्धति का मूलाधार यही है।

४. शिक्षा-प्राप्ति की चोथी व्यवहारविधि **अभ्यास सम्बन्धी व्यवहारविधि** है। हम वही सीखते हैं जिसका हम अभ्यास करते हैं। जिसका अभ्यास हम नहीं करते, उसकी शिक्षा हम प्राप्त नहीं करते। जब हम कार्य अथवा चिन्तन करते हैं, तो हमारे स्नायु मण्डल के भीतर कार्यशीलता होती है। हमारी कुछ स्नायु व्यवस्थाओं में परिवर्तन होता है इसका परिणाम यह होता है कि हमारे लिये उस विधि से कार्य अथवा चिन्तन करना दूसरी बार सुगमतर हो जाता है। मनोवेगवर्धक तत्व और प्रतिवादन के मध्य सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। जितनी बार हम उसी ढंग से कार्य करेंगे, मनोवेगवर्धक तत्व और प्रतिवादन का सम्बन्ध उतना ही अधिक पुष्ट होगा जिसका परिणाम यह होगा कि हमें वह विशेष कार्य सहज लगेगा। यह क्रिया उस समय तक चलती रहती है जब तक हम यह नहीं कह देते कि अमुक कार्य अथवा विचार भाव आदत-रूपी बन गया और हम बिना ध्यान दिये ही कार्य अथवा चिन्तन करने लगे।

अब, यह एक ऐसी बात है जिसको सभी भली-भांति जानते हैं। परन्तु यह एक ऐसी बात है जिस पर हम सदैव पर्याप्त ध्यान नहीं देते। यदि हम चाहते हैं कि हमारे शिशु उचित ढंग से शिक्षा प्राप्ति करें, तो हमें उनको अभ्यास करने अर्थात मनोवेगवर्धन तत्व और प्रतिवादन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर उपलब्ध करना चाहिये। जब शिशु प्रथम बार सीखता है कि तीन चोके बारह होते हैं, फिर जब उससे फिर पूछा जाता है कि तीन चौके कितने हुये तो उसे सोचना और याद करने का प्रयत्न करना पड़ता है। यदि हम शिशु को इस चिन्तन-दिशा की पुनरावृत्ति और इस प्रतिवादन के करने का पर्याप्त अवसर प्रदान करते रहते हैं तो धीरे-धीरे उसका उत्तर अपने आप आने लगता है और तब हम कहते हैं कि उसे पहाड़ा याद हो गया। ऐसा ही कार्यों के लिये होता है, हम पुनरावृत्ति के द्वारा ही अपने वातावरण को नियंत्रित करने की शिक्षा प्राप्त करते हैं।

पुनरावृत्ति निरन्तर होनी चाहिये, परन्तु किसी एक समय पर अधिक लम्बी न हो। छोटे घन्टों में बहुधा उसकी पुनरावृत्ति होनी चाहिये। यही कारण है

कि पाठशाला में सभी विषयों के घन्टे हर सप्ताह में होते हैं और किसी एक विषय में बहुत अधिक कार्य करके एक टर्म (३ मास) या वर्ष के लिये छोड़ नहीं दिया जाता। हम उस पर प्रतिदिन या प्रति सप्ताह थोड़ा बहुत कार्य निरन्तर करते रहते हैं और इस प्रकार बारम्बार पुनरावृत्ति होती रहती है और जो कुछ सीखा जाता है उसका लगातार ग्रहण होना निश्चित हो जाता है।

५. सन्तुष्टि सम्बन्धी व्यवहार विधि—हम ऐसी बातें और ऐसी कार्य करने की शिक्षा प्राप्ति करते हैं जिनसे हमें सन्तुष्टि प्राप्त हो और हम ऐसे कार्य न करने की शिक्षा प्राप्ति करते हैं जिनसे हमें कुढ़न होती हो।

इस तथ्य को हम दूसरे ढंग से कह सकते हैं कि जब हमे प्रतिवादनों द्वारा सन्तुष्टि प्राप्ति होती है तो मनोवर्धक तत्व और प्रतिवादनों का सम्बन्ध सुदृढ़ होता है और जब हमें प्रतिवादनों से कुढ़न प्राप्त होती है तो यह सम्बन्ध कमजोर रहते हैं अथवा स्थापित ही नहीं होते।

यदि केवल अभ्यास सम्बंधी व्यवहार विधि होती तो हम कार्य करने के अशुद्ध विधियों की निरन्तर शिक्षा प्राप्त करते रहते। जब हम पढ़ने की शिक्षा-प्राप्ति आरम्भ करते हैं तो हम शब्दों को शुद्ध की अपेक्षा अशुद्ध कहीं अधिक पढ़ते हैं, किन्तु फिर भी धीरे-धीरे हम उन्हें शुद्ध पढ़ने की शिक्षा-प्राप्ति कर लेते हैं यद्यपि अधिक अभ्यास तो अशुद्ध विधि ही में होता है। इसी प्रकार जब हम कोई खेल सीखते हैं तो आरम्भ में हम गेंद को ठीक की अपेक्षा गलत अधिक फेंकते हैं, अर्थात् हमें कार्य करने की शुद्ध विधि की अपेक्षा अशुद्ध विधि का अभ्यास अधिक प्राप्त होता है। तो फिर हम धीरे-धीरे शुद्ध ढंग से कार्य करने की शिक्षा कैसे प्राप्त कर लेते हैं ?

इसका कारण हमें इस पाँचवीं व्यवहार विधि में मिलता है—अर्थात् हम उन बातों की शिक्षा-प्राप्ति नहीं करते जिनसे हमें संतुष्टि प्राप्त न होती हो। जब हम कार्य अशुद्ध ढंग से करते हैं, जब हम कोई शब्द गलत पढ़ते हैं, या जब हम गेंद गलत ढंग से फेंकते हैं तो हमें कोई सन्तुष्टि प्राप्त नहीं होती, और इसी कारण हम विधि से कार्य करना नहीं सीखते। मनोवेगवर्धक तत्व और प्रतिवादन के बीच सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। परन्तु जब हम उसे ठीक ढंग से करते हैं तो संतुष्टि प्राप्त होती है और मनोवेगवर्धक तत्त्व और प्रतिवादन का सम्बन्ध अथवा कड़ी सुदृढ़ हो जाती है और जिसका अर्थ यह है कि जब दूसरी बार मनोवेगवर्धन होता है तो हमारे लिये उसी विधि से कार्य करने

की संभावना होती है।

इससे यह परिणाम निकलता है कि शिक्षण करते समय हमें भली भाँति ध्यान रखना चाहिये कि जब शिशु कोई कार्य ठीक विधि से करे तो उसे प्रसन्नता और संतुष्टि अवश्य प्राप्त होनी चाहिये। यदि हम ऐसा करते हैं तो उसे शिक्षा प्राप्ति में सहायता पहुँचाते हैं। निस्संदेह यह भी सत्य है कि हम इसका भी प्रयत्न करें कि जब कोई कार्य त्रुटिपूर्ण ढंग से किया जाये तो शिशु को असंतोष का आभास अवश्य हो। यह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होगी, यदि शिशु किसी उद्देश्य को कार्यान्वित करने की चेष्टा में संलग्न होगा और उसे यह पता लगेगा कि त्रुटिपूर्ण ढंग से कार्य करने से उसकी उद्देश्य प्राप्ति में बाधा पड़ती है। कोई खेल खेलने की शिक्षा प्राप्त करते समय हमें असंतोष की भावना उत्पन्न कराने के लिये किसी बाह्य परिणाम की साधारण रीति से आवश्यकता नहीं पड़ती। शिशु को स्वयं आभास हो जाता है कि जिस विधि से वह कार्य कर रहा है, उसके द्वारा खेल खेलने में उसे सहायता नहीं मिलेगी। परन्तु पाठशाला में निश्चित करने के लिये कि त्रुटिपूर्ण ढंग से किये गये कार्य के संग असंतोष की भावना अवश्य उत्पन्न हो, बहुधा दूसरे तत्त्वों को भी समक्ष लाना होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं, इस कार्य के करने की सबसे उत्तम विधि यही है कि असंतोष मौलिक हो और उद्देश्य की पूर्ति में असफलता होने के परिणाम स्वरूप प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होता हो। परन्तु कभी-कभी हमें दण्ड के विविध रूपों का प्रयोग करना पड़ता है जो परिस्थितियों के अनुसार थोड़े बहुत कड़े होते हैं, ताकि ऐसी कार्य-क्रिया के संग जो त्रुटिपूर्ण हैं और जिसे हम शिशुओं की आदत नहीं बनने देना चाहते, अरुचिकर परिणाम जुड़ जाये। बहुधा शिक्षक की निराशा (या अस्वीकृति) अथवा यह आभास ही कि वह कक्षा के स्तर से नीचे गिर गया है, शिशु को असंतोष अनुभव कराने के लिये पर्याप्त होगा। शिक्षक को अपने शिशुओं के स्वभाव तथा परिस्थितियों के अनुसार कार्यवाही करनी पड़ेगी। परन्तु उसे सदैव याद रखना चाहिये कि ठीक विधि से किये गये कार्य द्वारा संतोष अवश्य उत्पन्न हो (चाहे वह मौलिक हो अथवा अनुलग्न) और त्रुटिपूर्ण ढंग से किये गये कार्य द्वारा असंतोष की भावना अवश्य उत्पन्न होनी चाहिये। केवल इस विधि से शिक्षा-प्राप्त ठीक दिशा में हो सकती है। यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्रारम्भिक पाठशाला की अवस्था में इसका कितना अधिक महत्त्व होता है जहाँ अनेकों

आदतों का निर्माण होता रहता है क्योंकि शिशु के भावी जीवन का बहुत कुछ अंश एक उत्तम प्रारम्भ पर ही निर्भर करता है।

इस व्यवहारविधि का यह अर्थ नहीं है कि शिशु केवल ऐसे ही कार्य करने की आदत डालें जिनसे उन्हें प्रसन्नता प्राप्त होती है और उनसे कभी भी ऐसे कार्य की आशा नहीं की जायेगी जिससे उन्हें कष्ट, पीड़ा अथवा कठिनाई के सम्मुख होना पड़ता हो। किसी दूर निमित्त-विन्दु की ओर मन्द प्रगति तथा किसी बड़े उद्देश्य की मन्द पूर्ति के कारण भी असन्तोष की भावना उत्पन्न हो सकती है। इस निमित्त-विन्दु तक पहुँचने और उस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये, शिशु पीड़ा और कष्ट सहन करने और थका देने वाला तथा ठस कार्य भी, जिसमें उसे कोई प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती, करने को तत्पर रहेगा। परन्तु जब उसे यह अभ्यास हो जाता है प्रत्येक पद उसे अपने निमित्त-विन्दु के सन्निकट पहुँचा देता है तो उसे सन्तुष्टि प्राप्त होती है। छोटे शिशुओं के लिये आवश्यक है कि सन्तुष्टि तत्क्षण हो। परन्तु जैसे-जैसे शिशु बड़े होते जाते हैं, इस तत्क्षणता की आवश्यकता लुप्त होती जाती है और अधिक दूर के निमित्त-विन्दु स्वीकार होने लगते हैं। एक बालक परीक्षा की ओर दृष्टि लगाये रखेगा और पूरा धीरे-धीरे जब देखेगा कि परीक्षा के लिये तैयार किये जाने वाले विषयों को वह कर रहा है और समझता जा रहा है तो उसे सन्तुष्टि प्राप्त होती जायेगी। सन्तुष्टि तथा असन्तोष और तथा कथित प्रसन्ना-कष्ट सिद्धांत पूर्ण रूप से एक ही नहीं है।

६. चयन सम्बन्धी व्यवहार-विधि—शिक्षा-प्राप्ति करते समय हम वही प्रतिवादन चुनते हैं जो उस समय के हमारे उद्देश्य की सबसे उत्तम पूर्ति करता प्रतीत होता है। यह सन्तुष्टि सम्बन्धी व्यवहारविधि का परिणाम-मात्र है। जब हमारा मनोवेगवर्धन होता है तो हम अनेकों प्रतिवादन कर सकते हैं। यह उन बातों में से एक है जिसमें हम पशुओं से भिन्न होते हैं। जिस समय हमारी स्वतः भाविक शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं, तो हम मनोवेगवर्धक तत्व के प्रति विविध ढंगों से प्रतिवादन कर सकते हैं। तब हम इन ढंगों से एक को चुन लेते हैं जिसे हम, स्वीकार करने वाले होते हैं, अर्थात वह ऐसा ढग होता है जिसे हम समझते हैं कि हमारे उद्देश्य की सबसे उत्तम पूर्ति करेगा और इसी कारण जिसकी हम शिक्षा-प्राप्ति करेंगे। यह चयन पिछली व्यवहार विधि, सन्तुष्टि सम्बन्धी व्यवहारविधि द्वारा निर्धारित होता है। जब शिशु के समक्ष बहुत से

प्रतिवादन आ जाते हैं, तो वह उसी को चुनेगा जिसके द्वारा उसे सन्तुष्टि प्राप्त हो सके, अर्थात वह कार्य-क्रिया ऐसी चुनेगा जो, उसकी समझ में, उस समय के उसके उद्देश्य की पूर्ति में सबसे अधिक सहायक होगा।

एक बालक है जो तिपाई बनाने की शिक्षा प्राप्त कर रहा है। पाये के लिये उसके पास एक लकड़ी का टुकड़ा और आरी है। तो उसके लिये लकड़ी के उस टुकड़े और आरी के साथ कई भिन्न-भिन्न कार्य करना सम्भव है। वह लकड़ी के दो टुकड़े काट सकता है और इस प्रकार इसे अपने लिये व्यर्थ बना सकता है। वह उसे बीच के नीचे से काट सकता है और इतना पतला कर सकता है कि उसके उपयोग की न रह जाये। इसलिये वह आरी और लकड़ी द्वारा उसी मनोवेगवर्धन को चुनेगा, जो उसकी समझ में, तिपाई का पाया बनाने में उसे सबसे अधिक सहायता देगा। पाये को पूरा करने से उसे सन्तुष्टि प्राप्त होती है और इसलिये वह इसी विशेष प्रतिवादन को चुनता है।

परन्तु कोई दूसरा बालक है जिसका भाव बिगड़ा है और वह शिक्षक को कुढ़ाना चाहता है। इस समय उसका उद्देश्य यही है। इसलिये वह वही प्रतिवादन चुनता है जो उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के योग्य बना दे। वह लकड़ी के टुकड़े को दो छोटे-छोटे भागों में काट देता है। ऐसा करने से वह निस्सन्देह, अपने शिक्षक को कुढ़ा देगा और अपने उद्देश्य की पूर्ति द्वारा, कम से कम उस समय तक जब तक कि शिक्षक कार्यवाही न करे, सन्तुष्टि अनुभव करता रहेगा। यदि शिक्षक की प्रतिक्रिया बालक के लिये अधिक अप्रिय न हुई तो जब कभी दूसरी बार भी वह अपने शिक्षक को कुढ़ाना चाहेगा, वह प्रतिवादनों के इसी चयन की पुनरावृत्ति करेगा।

जैसा कि देखा जा सकता है, बहुधा शिशु, जो शिक्षा-प्राप्ति कर रहा है, अपूर्ण ज्ञान के कारण एक ऐसे प्रतिवादन को चुनेगा जो उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायता नहीं देगा। यहाँ हमारी पाँचवीं व्यवहार विधि कार्य करती है और चूँकि उसे इस प्रतिवादन द्वारा कोई सन्तुष्टि प्राप्त नहीं होती इस कारण उसे फिर चुनने की प्रवृत्ति सम्भवतः नहीं के बराबर होगी। इसी के साथ-साथ यह शिक्षक का कार्य है कि अपने शिशुओं को ठीक प्रतिवादन चुनने में सहायता करे जिससे कि परीक्षण और त्रुटि की निरन्तर क्रिया की अपेक्षा शीघ्रता से शिक्षा-प्राप्ति हो सके। शिशु को अपना प्रतिवादन चुनने में अपनी बुद्धि का प्रयोग करने की शिक्षा-प्राप्त करनी चाहिये और शिक्षक उसे इस

कार्य में सहायता देगा।

७. साहचर्य्य सम्बन्धी व्यवहार विधि—जब हम शिक्षा प्राप्त करते रहते हैं, नये-नये विचारों का मस्तिष्क में पहले से उपस्थित विचारों के संग साहचर्य्य स्थापित होता है। विचारों के मध्य स्थापित इस सम्बन्ध का परिणाम यह होता है कि जब कोई विचार शिशु के मस्तिष्क में आता है तो वह दूसरे विचारों को 'समझ ले आता है' जिनसे पहले विचार का साहचर्य्य अथवा सम्बन्ध स्थापित हो चुका है।

हम देख चुके हैं कि शिक्षण करते समय नये ज्ञान को शिशु के पूर्व-प्राप्त ज्ञान से सम्बद्ध करना कितना महत्त्वपूर्ण है। यदि हम शिशु को विचारों के बीच साहचर्य्य स्थापित करने अर्थात अपने ज्ञान को संगठित करने में सहायता दे सकते हैं तो हम उसे शिक्षा-प्राप्त करने और स्मरण करने के योग्य बनने में सहायता दे रहे होंगे।

"मस्तिष्क की कोई विशेषता प्रमुख नहीं है, जितनी कि उसकी सम्मिश्रित कार्यशीलता होती है। हमारे मस्तिष्क निरन्तर संवेदनों में योग स्थापित करने में व्यस्त रहते हैं। उदाहरणतः हम देखने, छूने, चखने और सूँघने के कुछ संवेदनों में योग स्थापित करते हैं और सेब का बोध करते हैं। हम सेब के सम्बन्ध में किसी निश्चित मानसिक प्रतिबिम्ब का स्मरण किये बिना भी एक सामान्य धारणा अथवा प्रत्यय बना सकते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क केवल उन्हीं वस्तुओं के बीच जो ज्ञानेन्द्रियों के लिये उपस्थित रहते हैं, साहचर्य्य स्थापित करने ही में नहीं वरन् मानसिक प्रतिबिम्बों को मिलाने और पुनः व्यवस्थित करने में भी व्यस्त रहता है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि हमारे विचार साहचर्य्य की क्रिया के द्वारा आगे बढ़ते हैं। एक विचार किसी साझे के तत्व के कारण किसी दूसरे विचार की ओर संकेत करता है। एक बालक किसी क्रिकेट मैच का विचार करता है, और इससे एक खिलाड़ी की ओर संकेत हो जाता है जो किसी दूसरी पाठशाला में पढ़ता है। तुरन्त ही बालक को यह चिन्ता होने लगती है कि यदि मैं उस पाठशाला का शिष्य हो जाऊँ तो कैसा हो। यह स्पष्ट है कि साहचर्य्य के सिद्धान्त का उपयोग और पथ-प्रदर्शन शिक्षण (तथा शिक्षा-प्राप्ति) का एक मौलिक तत्व है"[१]

१. पी० आर० कोल—दि मेथड ऐण्ड टेक्नीक ऑव टीचिंग पृ० ४० (ओ० यू० पी०)

साहचर्य्य विविध ढंगों से उत्पन्न होता है—

(क) **सामीप्य-साहचर्य्य**—जो विचार एक साथ अर्थात एक ही समय में एक के बाद एक उत्पन्न होते हैं, उनके भीतर परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति होती है। मैं किसी पुस्तक का विचार करता हूँ, तुरन्त उसके पश्चात् ही ग्रंथकार पर विचार करने लगता हूँ। विचारों में साहचर्य्य इस कारण भी स्थापित होता है कि रुचि उन्हें एकत्रित कर देती है। मैं किसी चित्र का विचार करता हूँ, और तब मैं उसकी उस वस्तु पर विचार करने लगता हूँ जिसमें मेरी विशेष रुचि है। यद्यपि सम्भव है कि समय-क्रम के अनुसार मेरे मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाला यह विचार न हो।

(ख) **तुल्यता-साहचर्य्य**—जब वस्तुएँ किसी भी रूप में समान होती हैं तो हमारे भीतर उनके सम्बन्ध में एक साथ विचार करने की प्रवृत्ति होती है। हम किसी मनुष्य को देखते हैं और कोई मनुष्य हमें याद आ जाता है जो उससे बहुत कुछ मिलता जुलता है।

(ग) **विरोध-साहचर्य्य**—जो वस्तुएँ एक दूसरे की विरोधी होती हैं, उन पर एक साथ विचार करने की हमारी प्रवृत्ति होती है।

(घ) **कारण और परिणाम द्वारा साहचर्य्य**—जब हम किसी कारण पर विचार करते हैं तो हम परिणाम को भी विचारते हैं और सम्भवतः परिणाम पर विचार करते समय कारण का भी विचार आ जाता है।

इसके अतिरिक्त दूसरे भी ढंग हैं जिनके द्वारा साहचर्य्य कार्य करता है, परन्तु उपरोक्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हम देख सकते हैं कि इन साहचर्य्य-आत्मक प्रवृत्तियों तथा मस्तिष्क की कार्य-विधि का शिक्षा-प्राप्ति में उपयोग किया जाता है। हम उन बातों की शिक्षा एक साथ प्राप्त करते हैं जो समय रुचि के अनुसार एक साथ आती हैं। जब हम किसी कारण की शिक्षा-प्राप्त करते हैं तो हम परिणाम को भी सीख लेते हैं। हम एक साथ उन वस्तुओं की शिक्षा प्राप्त करते हैं जो समान होती हैं, या पूर्ण रूप से विरुद्ध अथवा एक दूसरे की उल्टी होती हैं। इस प्रकार साहचर्य्य सम्बन्धी व्यवहार विधि का उपयोग हम शिशुओं को शिक्षा-प्राप्ति करते समय सहायता देने के लिये अपने सभी कार्यों में कर सकते हैं।

एक प्रसिद्ध अनुसंधान है जो एक कुत्ते पर किया गया था। कुत्ते को जब भी मास दिया जाता था तो घन्टी बजाई जाती थी। जब कुत्ते को मांस दिया

जाता था तो उसके लार टपकने लगती थी। कुछ समय के पश्चात घन्टे के बजने से साहचर्य्य इतना दृढ़ होगया कि जब भी घन्टी बजे, चाहे मांस न भी हो कुत्ते के मुंह में पानी भर आता था।

इसी प्रकार का एक और अनुसंधान एक शिशु और खरगोश के संग किया गया। एक शिशु को एक खरगोश दिखलाया गया और उसने तुरन्त ही अपना हाथ खेलने के लिये बढ़ा दिया। ठीक उसी क्षण एक जोर का हल्ला किया गया जिसने शिशु को भयभीत कर दिया। शिशु ने तुरन्त ही अपना हाथ खींच लिया। यह क्रिया कई बार की गई यहाँ तक कि शिशु खरगोश को देखकर ही भयभीत होने लगा यद्यपि कोई हल्ला नहीं किया जाता था।

पाठशाला में दण्ड का प्रयोग भी हम इसी प्रकार करते हैं। दण्ड और आज्ञा के मध्य इस ढंग से साहचर्य्य स्थापित हो जाता है कि कुछ समय के पश्चात् केवल आज्ञा ही की आवश्यकता रह जाती है। यह विशिष्ट साहचर्य्य सम्भवतः केवल छोटे शिशुओं में कार्य करता है।

८. सद्यस्कता सम्बन्धी व्यवहारविधि—दो अनुभवों में से जो प्रायः समान हों, सम्भवतः हम उसी को स्मरण करेंगे जो अधिक सद्यस्क हो।

यह उसी तथ्य के कहने का दूसरा ढंग है जिसे कभी-कभी अनुपयोग की व्यवहारविधि कहा जाता है जिसका अभिप्राय केवल यह है कि हमने जिस विषय की शिक्षा प्राप्त की है, यदि उसका उपयोग न करें तो सम्भवतः उसे भूल जायेंगे।

यदि कोई बालक सीखता है कि तीन-चौके बारह होते हैं और उसके पश्चात् इस तथ्य का उपयोग और अभ्यास नहीं किया जाता तो वह शीघ्र ही इसे विस्मृत कर देगा। वह वही तथ्य स्मरण रखता है जो उसके अनुभव में सद्यस्क होती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब तक ज्ञान आदत-रूपी न बन जायें हमें उसको दुहराने तथा सद्यस्क बनाने के लिये नियमित रूप से अवसर सुलभ करने होंगे। यह भी एक कारण है कि पाठशाला में किसी एक विषय पर कुछ समय कार्य कर उसे एक वर्ष खण्ड या अधिक समय के लिये छोड़ नहीं देते, वरन् प्रत्येक विषय में प्रतिदिन या कम से कम प्रति सप्ताह कुछ न कुछ करते रहने की चेष्टा करते हैं। सद्यस्कता सम्बन्धी व्यवहारविधि मांग करती है कि हम अपने अनुभव को यथा सम्भव तब तक बनाये रखें जब तक कि ज्ञान इस प्रकार ग्रहण न हों कि वह आदत-रूपी भी स्वयं-स्फूर्त

बन जाये। इसी कारण हमारे शिक्षण कार्य में बारम्बार दुहराना अत्यन्त आवश्यक है।

६. क्षणिकता सम्बन्धी व्यवहारविधि—कुछ समय ऐसा भी आता है जब कुछ विशेष रुचियों का प्राधान्य रहता है, या यह भी कह सकते हैं कि कुछ विशिष्ट स्वतः भावी प्रवृत्तियां दूसरे समय की अपेक्षा अधिक प्रबल रूप में प्रकट होती हैं। यदि हम ऐसे समय का लाभ न उठायें तो रुचि के लुप्त हो जाने का भय रहता है।

बहुत से मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि विविध स्वतः भावी चाव विविध आयु में प्रकट होते हैं और शिक्षा-प्राप्ति तथा पाठशाला कार्य को इन परिवर्तनों के अनुकूल व्यवस्थित करना चाहिये। हम जानते हैं कि युवावस्था में निश्चित परिवर्तन होते हैं और नवयुवक की रुचियां नौ-दस वर्षीय शिशु की रुचियों से पूर्णत्या भिन्न होती हैं। उदाहरणतः, हम जानते हैं कि युवावस्था वह युग है जिसमें आदर्श प्रस्तुत किये जाते हैं और यही धार्मिक भाव प्रस्तुत करने का भी काल है। यदि यह समय चूक गया तो बहुधा आदर्श और धर्म के प्रति रुचि लुप्त हो जाती और कभी पुनरजीवित नहीं हो सकती।

इसी प्रकार आठ-नौ वर्ष से लेकर लगभग बारह वर्ष की अवस्था में झुण्ड भावना अत्यन्त प्रबल होती हैं और इस अवस्था को हम 'मण्डली काल' कहते हैं। इस आयु का बालक बड़ा उत्साही 'शेर बच्चा' (वुल्फ कब) होता है या अवसर मिलने पर हो सकता है। और यह इसका उदाहरण है स्वतः भाविक प्रेरक भावना की उतपत्ति का किस प्रकार शिक्षा-प्राप्ति के हित में उपयोग किया जा सकता है। यदि अवसर चूक गया तो शिशु बहुत कुछ खो देगा। आगे चल कर खेल मण्डली वाले खेलों के द्वारा सहयोग की प्रवृत्ति का उपयोग किया जा सकता है।

इस व्यवहार विधि का अर्थ यह है कि हमें उस समय की खोज में रहना चाहिये जबकि प्रेरक भावनायें तथा इच्छायें उत्पन्न होती हैं और अपने कार्य में उनका उपयोग करने के लिये तैयार रहना चाहिये। यदि हम उनका उपयोग करते हैं तो शिक्षा-प्राप्ति अधिक सुगम और अधिक सन्तोषजनक हो जाती हैं क्योंकि वह प्राकृतिक रूप से कार्यान्वित होती है।

१०. बहुअंगी शिक्षा-प्राप्ति की व्यवहारविधि—हम कभी भी एक समय में केवल एक बात की शिक्षा-प्राप्त नहीं करते। हम सदैव कई बातें

एक साथ ही सीखते हैं। इसे कभी-कभी सहभाविक शिक्षा-प्राप्ति की व्यवहार-विधि भी कहते हैं ?

पाठशाला के घन्टों में शिशु केवल उन्हीं तथ्यों की शिक्षा नहीं प्राप्त करता रहता जो पाठ में उपस्थित होते हैं। वह शिक्षक के चरित्र, कार्य तथा शिशुओं के प्रति उसके व्यवहार, उसके शब्दों, और उसके कार्यों से शिक्षा-प्राप्त करता रहता है सम्भवतः वह ऐसे तथ्यों की शिक्षा-प्राप्त करता है जिसका शिक्षक को आभास हो जाये तो स्वयं बड़ा आश्चर्य्य होगा।

जब शिक्षक अपनी कक्षा में पठन-पाठ लेता है तो उसके शिष्य अपने पठन-पाठ के विषय के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों की शिक्षा प्राप्त कर रहे होंगे। वह पठन और साहित्य को, भिन्न-भिन्न मात्रा में, पसन्द अथवा नापसन्द करना भी सीख रहे होंगे। उनमें अपने शिक्षक के प्रति कोई न कोई प्रवृत्ति विकसित हो रही होगी और इसकी उनके सम्पूर्ण भावी जीवन पर छाप पड़ती है। उनमें पाठशाला और सामान्य रूप से शिक्षा के प्रति किसी न किसी प्रवृत्ति का भी विकास हो रहा होगा और इस से भी उन के पूरे भविष्य पर छाप पड़ेगी। साथ ही वह सत्य हृदय अथवा असत्यहृदय बनने की शिक्षा भी प्राप्त कर रहे होंगे। वह यह भी सीख रहे होंगे कि विचाराधीन विषय के सम्बन्ध में अपने विचारों को ठीक-ठीक व्यक्त करें अथवा अपने विचारों और धारणाओं को अपने मन ही में रखें और वही कहें, जो उनके विचार में, शिक्षक चाहता है, अथवा जिसके द्वारा, उनके विचार में, उन्हें अच्छे अङ्क मिल जायेंगे। वह धोखा देने अथवा ईमानदारी पूर्वक कार्य करने की शिक्षा भी प्राप्त कर रहें होंगे। वह अपने विचार व्यक्त करना और सृजनात्मक कार्य के लिये चाव बढ़ाना सीख रहे होंगे अथवा अकर्मण्य बनने और समस्त पहलकारिता का दमन करने की शिक्षा प्राप्त कर रहे होंगे। वह स्वयं अपने पर निर्भर करना और अपने आप चिन्तन करना या कठिनाई पड़ने पर किसी दूसरे की ओर देखना और आत्म-निर्भरता न रखना सीख रहे होंगे। वह दण्ड के भय से ठीक कार्य करने की शिक्षा प्राप्त कर रहे होंगे अथवा सीख रहे होंगे कि ठीक कार्य इस कारण किया जाये क्योंकि वह उसे स्वयं अपने और दूसरों (जिनके संग वह रहते हैं) दोनों के लिये कार्य करने का ठीक और अधिक उत्तम ढंग है। वह शिष्टाचार अथवा दुराचार, स्वार्थपरता, अथवा स्वार्थ हीनता की शिक्षा प्राप्त कर रहे होंगे। इन सभी बातों की शिक्षा प्राप्त हो रही है, और सभी की शिक्षा एक साथ प्राप्त हो रही है।

जैसा कि हम सहज ही देख सकते हैं इनमें से अनेकों सहभाविक शिक्षा-प्राप्तियां विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान की प्राप्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। फिर भी हम उन्हें सहज ही भुला देते हैं और उन पर कोई ध्यान नहीं देते क्योंकि हमारा पूरा ध्यान बौद्धिक ज्ञान पर केन्द्रित होता है। हमारे कार्य में वास्तविक सफलता और अपने शिष्यों के भविष्य के लिये यह सब से बढ़कर आवश्यक है कि हम इस व्यवहारविधि को सदैव ध्यान में रखें और पूरा प्रयत्न करें कि हमारे शिशुओं की सहभाविक शिक्षा-प्राप्तियां इस प्रकार की हों जिनसे उन्हें उत्तम तथा सुस्कृंत नागरिक के रूप में विकास करने की सहायता मिले।

"परिलग्न शिक्षा-प्राप्तियों का दूसरी शिक्षा-प्राप्तियों की भाँति ही सन्तुष्टि पर अभ्यास द्वारा स्नायु मण्डल में निर्माण होता है। शिक्षकों के लिये आवश्यक है कि अपने शिष्यों को सफलता के साथ उत्तम परिलग्न शिक्षा-प्राप्तियों का अभ्यास करने के लिये विस्तृत अवसर प्रदान करें। उन्हें यह भी चाहिये कि अपने शिष्यों को हानिकारक परिलग्न शिक्षा-प्राप्तियों के अभ्यास का अवसर न दें, यदि दें भी तो सन्तुष्टि की सीमा तक कभी भी अभ्यास करने का अवसर न दें। ठीक कार्य पर सफलता और सन्तुष्टि उत्पन्न होनी चाहिये और अशुद्ध कार्य पर असफलता और कुढ़न उत्पन्न होनी चाहिये। इसमें भी शिक्षा-प्राप्ति के दूसरे रूपों की भांति, शिक्षक की शक्ति सीमित होती है। वह शिक्षा-प्राप्ति को बाध्य नहीं कर सकते केवल उसको प्रोत्साहित और पथ-प्रदर्शित कर सकते हैं।"[१]

---

१. डब्ल्यू० एच० किलपैट्रिक—हाउ वी लर्न, पृ० ३२ (वाई० एम० सी० ए० पब्लिशिंग हाउस)

: ६ :

शिक्षा-प्राप्ति की पद्धतियाँ

स्मरण-कार्य

स्मरण-कार्य के सम्बन्ध में एक मौलिक तथ्य जो सभी शिक्षकों को निरन्तर अपने ध्यान में रखना चाहिये वह यह है कि शिशु की स्वाभाविक धारण-शक्ति में परिवर्तन नहीं हो सकता, न उसमें अच्छाई उत्पन्न की जा सकती और न बुराई। दूसरे शब्दों में, हम बातों को स्मरण रखने की अपनी स्वाभाविक शक्ति को अभ्यास और अपनो स्मरण शक्ति के उपयोग के द्वारा सुधार नहीं सकते। धारणशीलता की स्वाभाविक शक्ति वही रहती है। धारणशीलता की यह शक्ति मनो-पदार्थ के एक विशेष गुण पर निर्भर करती है। कुछ लोगों के मस्तिष्क में यह गुण अधिक मात्रा में होता है। कुछ में अत्यन्त कम होता है और अधिकांश मस्तिष्क बीच के विविध स्तरों पर होते हैं। परन्तु जैसा कि प्रोफेसर जेम्स ने बारम्बार कहा है चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाये परन्तु मनुष्य की सामान्य धारणशीलता में संशोधन होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। स्मृति की सामान्य अथवा तात्विक मनोशक्ति में कोई सुधार नहीं किया जा सकता। कभी-कभी यह समझ लिया जाता है कि जो व्यक्ति बहुत अधिक याद करते रहते हैं वह स्मृति में तथ्यों को धारण करने की अपनी शक्ति को पुष्ट कर लेते हैं। परन्तु इस विषय में जब अभिभावकों से पूछा गया तो उन्होंने बताया कि अपने पात्र-नियोग (पार्ट) को याद करने का निरन्तर अभ्यास करने पर भी उनकी स्मरण शक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

फिर भी, हम देखते हैं कि तथ्यों को अधिक सुगमता और शीघ्रता से याद करने के लिये स्वयं अपने को प्रशिक्षित करना सम्भव होता है। साथ ही हम अपनी याद की हुई बातों को पहले की अपेक्षा अधिक समय तक धारण किये रखने की प्रशिक्षा भी स्वयं अपने को दे सकते हैं। इसका कारण यह है कि हम अपनी शिक्षा-प्राप्ति की **पद्धतियों**, याद किये जाने वाली विषय-सामग्री से

निपटने की अपनी पद्धतियों को सुधार सकते हैं। हम अपने कार्य को संगठित करने तथा याद करने के कार्य को पूरा करने की उत्तमतर पद्धतियों की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। याद करने की शक्ति में जो सुधार प्रतीत होता है उसका कारण हमें केवल अपनी **कार्य पद्धतियों** के सुधार ही में मिलता है। एक शिशु, जो किसी कविता का अर्थ नहीं समझता, उसे उस कविता के याद करने में बहुत अधिक समय लग सकता है। उसे तो वह निरर्थक तुकान्त ही प्रतीत होगी। तब उसका शिक्षक उसे दिखलाता है कि वह जो कुछ याद करने की चेष्टा कर रहा है, यदि उसका अर्थ समझ ले तो उसका कार्य अधिक सहज हो जायेगा। जब शिशु इस योजना के अनुसार कार्य करता है तो उसे पता लगता है कि वह कवितायें अधिक शीघ्रता से याद कर सकता है। उसकी धारणशीलता की शक्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन हो गया हो, ऐसी बात नहीं है, केवल उसकी पद्धति में परिवर्तन हुआ है। अब वह अपनी विषय सामग्री के संग अधिक उत्तम विधि से व्यवहार कर रहा है, इसी कारण उसे अधिक शीघ्रता से याद कर सकता है।

जहाँ तक अभिभावकों द्वारा तथ्यों के याद करने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में प्रोफेसर जेम्स कहते हैं :—

"उससे उन्हें केवल यह लाभ हुआ है कि उनकी किसी पात्र नियोग (पार्ट) का नियमित **अध्ययन करने** की शक्ति में सुधार हो गया है। उनके मस्तिष्क अब शब्दों के चढ़ाव-उतार, जोर, हावभाव के ढंग के पूर्व उदाहरणों से भर गये हैं, नये शब्द निश्चित संकेत तथा निर्णय उत्पन्न कर देते हैं, वास्तव में वह अब व्यापारी के सूचीपत्र अथवा पहलवान के दांव-भण्डार की भांति पूर्व स्थित जाल में फंस जाते और अधिक सुगमता से स्मरण हो आते हैं, यद्यपि स्वयं स्वाभाविक टिकाऊपन में किञ्चित मात्र भी सुधार नहीं होता, वरन् अवस्था के साथ इस टिकाऊपन को उलटे धक्का लग जाता है।

यह उत्तमतर चिन्तन द्वारा उत्तमतर स्मरण की समस्या है। इसी प्रकार जब पाठशाला के विद्यार्थी हृदयंगम करने की क्षमता में सुधार होता है तो, मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह सुधार उस **विशेष परिच्छेद के अध्ययन की विधि** में सदैव निहित मिलेगा (सम्भव है रुचि अधिक बढ़ गई हो, संकेत-शक्ति में वृद्धि हुई हो, दूसरे परिच्छेदों के संग उसकी जाति समानता हो, उसका ध्यान अधिक स्थिर हो, आदि-आदि)। इसका कारण उसकी प्राकृतिक

धारण-शक्ति में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं है।"[१]

इस प्रकार अपने शिशुओं को याद करने में सहायता देने की चेष्टा में हमें प्रयोग की जाने वाली पद्धतियों पर ध्यान देना होगा। केवल इसी स्थिति में सुधार हो सकता है और सहायता प्रभावशाली बन सकती है।

याद करने की इस समस्या से निवृत्त होने में हमें कई सिद्धान्तों को ध्यान में रखना होगा।

१. सर्वप्रथम, याद करना शिक्षा-प्राप्ति की एक ऐसी विधि है जिसका उपयोग बड़ी सावधानी के साथ करना होता है। उसमें एक खटका छिपा है। वह खटका यह है—यदि शिशुओं को बहुत अधिक याद करने के लिये प्रोत्साहित किया गया और उन्हें यह आभास करा दिया गया कि शिक्षा-प्राप्ति और शिक्षा का अर्थ तथ्यों को हृदयंगम करना ही है तो वह चिन्तन करने की कभी शिक्षा-प्राप्त नहीं कर सकते और उनकी शिक्षा केवल ऊपरी रहेगी। बहुत से व्यक्तियों को याद करना अत्यन्त सहज चिन्तन करने और समस्याओं के समाधान की अपेक्षा अधिक सुगम लगता है। महान् विचारक और कार्यकर्ता, उतने से अधिक याद नहीं करते जितने के लिये वह बाध्य होते हैं। उनके मस्तिष्क तथा समय का उत्तमतर उपयोग किया जा सकता है। उनके लिये महत्त्वपूर्ण बात यह पता लगाना है कि सूचना प्राप्त की जा सकती है ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह उसे पा सकें।

"जब तक ऐसा करने के लिये कोई विशेष कारण न हो, कभी भी नरटो, वरन् यह जान लो कि सभी विषयों के सम्बन्ध में ज्ञान कहाँ प्राप्त हो सकता है।"[२]

निस्सन्देह, इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि पाठशाला में याद करने का कोई कार्य ही न होना चाहिये। अनेकों बातें ऐसी हैं जिन्हें याद करना ही होगा तभी शिशु किसी प्रकार की उन्नति कर सकते हैं। जैसे गणित में पहाड़ा याद करना अवश्य चाहिये। प्रत्येक बार पहाड़ा देखने पर तो बड़ा समय नष्ट होगा। मुख्य बात यह है कि याद करना स्वयं कोई निमित्त-बिन्दु नहीं है। उसका प्रयोग उसी समय करना चाहिये, जब उससे कोई लाभ उठाना हो।

---

१. डब्ल्यू० जेम्स—साइकालॉजी—ग्रन्थ १ पृ० ६६४—(मैकमिलन)

२. पी० हापकिन्स—एड्स टु सकसेसफुल स्टडी पृ० ४३—
(एलेन ऐण्ड अन्विन)

खटका यह है कि शिक्षक और शिष्य उसको कार्य करने, और सम्भवतः परीक्षा में सफल होने की सबसे सहज पद्धति समझ कर, आवश्यकता से कहीं अधिक उपयोग करते हैं। याद करने को चिन्तन का स्थान ले लेने दिया जाता है, जो समस्त यथार्थ शिक्षा के लिये घातक है। दुर्भाग्यवश पाठशालाओं की बहुत बड़ी संख्या में यही होता है। शिक्षक नोट लिखवा देते हैं और शिष्य उन्हें रट लेते हैं। दोनों इस भ्रम में पड़े रहते हैं कि शिशुओं को शिक्षा मिल रही है। याद करने में यही बड़ा खटका होता है, और हमें सदैव सावधान रहना चाहिये कि याद करना कभी भी हमारे पाठशाला कार्य मे चिन्तन का स्थान न लेने पाये।

तब प्रश्न उठता है कि हम पाठशाला मे याद करने के कार्य की श्रेष्ठता को किस प्रकार कम करें। हमारे शिक्षा-कार्य मे परिक्षाओ का जितना बड़ा स्थान है, उसे देखते यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। हम यह तो कर ही सकते हैं कि अपने समस्त प्रभाव का उपयोग कर परिक्षाओं में इस प्रकार के प्रश्न रखवायें जिनसे परीक्षा की तैयारी करने वाले शिशुओं को रटन के उपयोग के लिये प्रोत्साहन प्राप्त न हो। कठिनाई परिक्षाओं की उतनी नहीं है जितनी कि पूछे जाने वाले प्रश्नों के ढंग की। प्रारम्भिक पाठशालाओं में भी ऐसे प्रश्न पूछना सम्भव है जिनका उत्तर शिशु तभी दे सकते हैं जब वह स्वयं चिन्तन करें। वास्तव में, कोई कारण नहीं कि कुछ विषयों में शिष्यों को अपनी पुस्तकें परीक्षा के कमरे में ले जाने की आज्ञा न दी जाये। परीक्षा इस तथ्य का परीक्षण करेगी कि वह उन पुस्तकों का उपयोग किस प्रकार कर सकते हैं। यह क्षमता उत्कट भाषा को रटने की योग्यता की अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार अचिन्तन रटन को हतोत्साहित करने के हेतु हम पहला कार्य यह कर सकते हैं कि कक्षा कार्य तथा परिक्षाओं में ऐसे प्रश्न पूछें, जिसके द्वारा शिष्यों को अपने मस्तिष्क का उपयोग करने और मुख्यतः स्मृति पर निर्भर न करने के लिये प्रोत्साहन मिले। जिस प्रकार का प्रश्न हम पूछते हैं, उसका हमारे शिष्यों के कार्य के प्रकार पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

दूसरे हमें मानसिक चौकसी की आदत डालनी है। कुछ लोग कहते हैं कि शिशु, और दूसरे लोग भी, मानसिक आलस्य के कारण याद करना चाहते हैं यह भी सत्य हो सकता है कि बड़े होते-होते और हाई स्कूल या कालेज तक पहुँचते-पहुँचते तो उनमें मानसिक आलस्य के चिन्ह दिखाई पड़ने लगते हैं।

यदि ऐसा हो तो वह उन बुरी आदतों का फल है जो उन्होंने डाल ली हैं। मानसिक आलस्य किसी भी साधारण, स्वस्थ शिशु में नहीं होता। हमारा कार्य मानसिक आलस्य के निराकरण का इतना नहीं है जितना कि यह ध्यान रखने का कि मानसिक आलस्य हमारे अशुद्ध शिक्षण और अशुद्ध पद्धतियों के फलस्वरूप उत्पन्न होने ही न पाये। लोगों को यदि पाठशाला में प्रारम्भ करने के समय ही से उचित ढंग की शिक्षा दी जाये तो वह मानसिक-आलसी नहीं हो सकते। हमारा कार्य सकारात्मक है कि उन्हें मानसिक रूप से कार्यशील होने के लिये प्रोत्साहित करें। यदि हम ऐसा करते हैं तो वह रटन का सहारा नहीं लेंगे बल्कि अपनी बुद्धि का उपयोग और चिन्तन करने के लिये उत्सुक रहेंगे। हमें इस विधि से शिक्षण करना चाहिये कि हमारे शिशुओं के मन मे अपनी स्मरण शक्ति को अत्यधिक प्रयोग करने की कभी लालसा उत्पन्न हो तो उन्हें उसका प्रतिरोध करने में सहायता मिले। हम उन्हें क्या और किस ढंग से शिक्षा देते हैं, उसी के द्वारा वह यह बुरी आदत सीखते हैं। यदि याद करने के दुष्परिणामों से बचना है तो हमें अपने शिष्यों को मानसिक कार्य की ठीक आदतें डालने में सहायता देनी पड़ेगी।

अत्यधिक रटन के दुष्परिणामों को समझ चुकने के पश्चात् अब हम उन सिद्धान्तों पर, जिन्हें उचित स्मरण कार्य के समय ध्यान में रखना है, विचारार्थ लेते हैं—

२. जब शिष्यों को कोई भी बात याद करनी हो, तो उन्हें अर्थ भलीभाँति समझ लेना चाहिये। असम्बद्ध शब्दों की पूरी सूची, जिसका कोई अर्थ न हो याद करना जितना कठिन है, संख्या मे उतने ही शब्द जिनसे मिलकर एक अर्थपूर्ण वाक्य बन जाये, याद करना उतना कठिन नहीं है। इस प्रकार हम जो कुछ याद करने की चेष्टा कर रहे हैं यदि उसमें हमें कोई अर्थ दिखाई पड़ जाये तो हम उसे अधिक सुगमता से याद कर सकेंगे। यदि कोई कविता हृदयगंम करनी है तो उसे याद करना प्रारम्भ करने के पूर्व शिशुओं को उसका अर्थ कम-से-कम उतना अवश्य समझ लेना चाहिये जितना कि वह समझ सकते हैं। ऐसा न करने पर हम अनायास ही कार्य बढ़ाते जायेंगे। कविता बारम्बार पढ़ी जाये, उसपर वार्तालाप हो, उसकी व्याख्या की जाय और उसका आनन्द लिया जाये और तब इस क्रिया के अन्तिम पद के रूप में उसे हृदयगंम कर लिया जाये। किसी चीज का अर्थ जितना अधिक समझ लिया

जाये, उतना ही अधिक उसके विचारों का आपस में या हमारे पूर्वज्ञात विचारों से साहचर्य्य स्थापित करना सहज हो जाता है। विचारों का साहचर्य्य एक ऐसी चीज है जो हृदयगंम करने के कार्य को अत्यन्त सहज बना देती है। हम जो कुछ याद करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसका अपने पूर्व प्राप्त ज्ञान से जितना कम साहचर्य्य स्थापित करेंगे, हमारा याद करने का कार्य भी उतना ही कठिन होगा। उदाहरणतः जब किसी लम्बी कविता को कई खण्डों में विभक्त करना पड़े तो हमें विशेष ध्यान रखना चाहिये कि खण्ड अर्थ स्वयं एक सम्पूर्ण इकाई हो। विभाजन कुछ निश्चित पंक्तियों अथवा छन्दों के आधार पर कृत्रिम नहीं होना चाहिये। उसे अर्थ के खण्डों के अनुसार होना चाहिये।

३. स्मरण कार्य को यदि वास्तव में सफल बनाना है तो उसे उत्प्रेरित करना होगा। यदि शिष्यों के समक्ष कोई उद्देश्य उपस्थित है और वह इस तथ्य को समझ लेते हैं कि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये किसी विषय सामग्री को थोड़ा बहुत याद करना परमावश्यक है, तो स्मरण कार्य अधिक शीघ्रता, अधिक सुगमता से होता है और उससे अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इसका ज्वलंत उदाहरण यह है कि शिशु जिस नाटक का अभिनय करने का निश्चय करते हैं उसे याद करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। उनका उद्देश्य उन्हें प्रसन्नता तथा सफलतापूर्वक ऐसे कार्य को जो अन्यथा अरोचक होता, पूरा करने में सहायता देता है।

एक और विधि जिसके द्वारा स्मरण-कार्य को उत्प्रेरित किया जा सकता है, खेल-रूपी पद्धति का उपयोग है। जब स्मरण-कार्य को किसी खेल अथवा कक्षा की दो या उससे अधिक पक्षों के बीच प्रतियोगिता से सम्बद्ध कर दिया जाता है तो हमें एक प्रबल उद्देश्य प्राप्त रहता है जो स्मरण कार्य को भली-भांति तथा शीघ्रता पूर्ण पूर्ति निश्चित कर देता है। कभी-कभी कटु-अभ्यास कार्य को भी इसी विधि से रोचक बनाया जा सकता है।

कभी-कभी शिष्यों में स्वयं अपने पूर्व-कार्य से आगे बढ़ जाने की प्रतियोगिता आयोजित कर कटु-अभ्यास स्मरण कार्य में भी रुचि उत्पन्न की जा सकती है। उन्होंने विविध बातों के याद करने में जितना समय लिया था उसका खाता तैयार कर सकते हैं और उस समय को घटाने का प्रयास कर सकते हैं। किसी सामग्री को कितनी बार दुहराना पड़ता है, वह इसका भी खाता रख सकते हैं और उनकी संख्या कम करने की चेष्टा कर सकते हैं। कितने समय

तक किसी सामग्री को स्मृति में रखा जा सकता है, वह उसका भी खाता रख कर उसकी तुलना कर सकते हैं।

जैसा कि देखा जा सकता है स्मरण कार्य को सुगम बनाने में रुचि का बहुत बड़ा भाग होता है। यदि शिशु को याद की जाने वाली सामग्री में अथवा उसकी उपयोगिता के कारण रुचि होती है तो याद करना अधिक सहज हो जाता है।

४. जब स्मरण कार्य करना हो तो शिक्षक को ध्यान केन्द्रित करवाने के लिये जो भी कार्यवाही सम्भव हो अवश्य करना चाहिये। रुचि के द्वारा ही, चाहे वह मौलिक हो अथवा उत्पन्न यह बात निश्चित हो जायेगी। परन्तु साधारण रीति से शिक्षक को एक समय निश्चित कर देना चाहिये जिसमें सामग्री सफलता पूर्वक रट ली जाये। इस विधि को ध्यान दिलवाने का कार्य निश्चित बनाने में सहायता मिलेगी। निस्सन्देह, शिक्षक जब तक अनुभव प्राप्त न कर ले, उसे उदारता पूर्वक समय नियुक्त करना होगा। उसे व्यक्तिगत असमानताओं को भी दृष्टिगत रखना होगा। कुछ शिशु दूसरों की अपेक्षा अत्यधिक शीघ्रता से सामग्री को याद कर सकते हैं। परन्तु जैसे-जैसे वह अपने शिशुओं को जानता जायेगा और यह अनुभव करता जायेगा कि सामग्री को हृदयंगम करने में औसत (मध्यम) समय कितना लगता है, वह अवधि भी काफी सफलता के साथ निश्चित करने के योग्य हो जायेगा।

जहाँ तक ध्यान का सम्बन्ध है, शिक्षक को यह प्रबन्ध करना चाहिये कि स्मरण कार्य के लिये लम्बे-लम्बे घन्टे लम्बे समय के पश्चात् आने की अपेक्षा छोटे-छोटे घन्टे जल्दी-जल्दी आयें। सप्ताह में एक बार एक लम्बा घन्टा रखने की अपेक्षा, इस कार्य के लिये प्रति दिन कुछ मिनट देना कहीं अधिक लाभदायक होगा। ऐसा करने पर शिशु अपना कटु-अभ्यास तथा समस्त प्रकार का स्मरण कार्य बड़ी सफलता से कर सकेंगे। उनके ध्यान पर अनावश्यक बोझ नहीं पड़ता और उन्हें थकन नहीं होती।

५. एक अन्य सिद्धान्त, जिसे सदैव याद रखना चाहिये, वह है शिक्षक का प्रभाव। जैसा कि हम शिक्षा-प्राप्ति की व्यवहार विधियों पर विचार करते समय देख चुके हैं, शिशु पाठ चलते समय बहुत सी बातों की शिक्षा प्राप्त करता जाता है। इन सहभाविक शिक्षा-प्राणियों में से एक, इस इच्छा का विकास भी है कि जो परिच्छेद अथवा सामग्री आकर्षक लगे उसे हृदयंगम कर

लिया जाये। जब शिशु को सचमुच कविता अथवा उत्तम गद्य में रुचि होगी और शिक्षक सामग्री को भलीभाँति प्रस्तुत करेगा तो आकर्षक परिच्छेदों को याद कर लेने की इच्छा शिष्यों में अचेत रूप से स्वयं उत्पन्न हो जायेगी। शिक्षक अपने पाठ को पूर्ण रूप में जिस प्रकार लेगा उसी के अनुसार इस उत्पत्ति में सहायता मिलेगी अथवा अड़चन पड़ जायेगी। यदि वह स्वयं कुछ परिच्छेद उद्धरित कर सकेगा तो उसके उदाहरण द्वारा भी इस कार्य में सहायता मिलेगी।

६. स्मरण कार्य और भी अधिक शीघ्रता तथा सन्तोषजनक विधि से हो सकता है यदि हम खण्ड-खण्ड याद करने की अपेक्षा सम्पूर्ण को याद करें। इसका अर्थ यह है कि किसी कविता को याद करना है तो चाहिये कि शिशु एक पंक्ति पहले और दूसरी पंक्ति या एक छन्द पहले फिर दूसरा छन्द याद करने की अपेक्षा सम्पूर्ण कविता याद करें। सम्पूर्ण को लेकर याद करने की पद्धति यह है कि जिस कविता को याद करना है, उसी पूर्ण रूप से पढ़ा जाता है और तब यथा सम्भव उसे स्मरण करने की चेष्टा की जाती है। तब फिर पूरी कविता का दूसरी बार पाठ किया जाता है और उसी ढंग से स्मरण करने की चेष्टा की जाती है। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। हममें से अधिकांश को देखने में प्रथम बार यह पद्धति नहीं जँचती और यह निश्चित है कि यदि शिशुओं पर ही बात छोड़ दी जाये तो वह इसका प्रयोग नहीं करेंगे। फिर भी अनेकों अनुसंधान हुये हैं जो काफ़ी स्पष्टता से सिद्ध करते हैं कि सम्पूर्ण को याद करना खण्ड-खण्ड को याद करने की अपेक्षा १० से ३० प्रतिशत अधिक लाभदायक है। अर्थात् किसी कविता के याद करने में १० से ३० प्रतिशत समय कम लगता है। और पंक्ति-पंक्ति अथवा छन्द-छन्द याद करने की अपेक्षा अधिक समय तक धारण रहती है इसलिये हमें अपने शिशुओं को प्रोत्साहित करना चाहिये कि सम्पूर्ण को लेकर याद करने का प्रयास करें और साधारण रीति अर्थात् खण्डों में याद न करें।

यह पद्धति किसी कविता अथवा गद्यांश को हृदयंगम करने आदि जैसे कार्यों ही के लिये उपयोगी है। इसका उपयोग, उदाहरणतः पहाड़े याद करने में नहीं करना चाहिये। यहां लक्ष्य यह होता है कि पहाड़े का प्रत्येक भाग दूसरे भागों से पृथक ज्ञात रहे। हम नहीं चाहते कि किसी एक भाग को निकालने के लिये शिशु को पूरा-पूरा पहाड़ा पढ़ना पड़े। किसी शिशु को नौ-अट्ठे

ा मूल्य बताने के लिये नौ का पूरा पहाड़ा पढ़ने की आवश्यकता नहीं होनी ाहिये। परन्तु कविता ऐसी चीज में, जो सम्पूर्ण होती है और जिसे हम सम्पूर्ण प से ही जानने की इच्छा करते हैं, यह पद्धति उपयोगी होती है।

खण्ड के बाद खण्ड पर ध्यान केन्द्रित करने की अपेक्षा, पूरी कविता पढ़-र याद करना अधिक सहज होने का एक और कारण यह भी है कि हम पूरी कविता के बीच का साहचर्य्य सा स्थापित कर लेते हैं। यदि हम एक बार में केवल एक ही छन्द याद करें, तो हमें कई भिन्न-भिन्न अस्तित्व मिले पायेंगे, जिनके बीच बहुधा उचित साहचर्य्य स्थापित नहीं होगा। इसका उदाहरण हम उस समय देखते हैं जब शिशु कविता के बीच में अटक जाता है और जब तक अगले छन्द की पहली कड़ी न बतायी जाये, उसकी गाड़ी आगे नहीं बढ़ती। उसके छन्दों का अपने अपने भीतर साहचर्य्य तो होता है, परन्तु एक दूसरे के संग नहीं होता। जब पूरी कविता सम्पूर्ण रूप से याद की जाती है तो प्रत्येक छन्द का अपने अगले छन्द से साहचर्य्य होता है।

सम्पूर्ण को लेकर याद करने में कविता के प्रत्येक खण्ड को दुहराने का समय अधिक समान रूप से दिया जाता है, और भलीभाँति याद छन्दों को दुहराने में समय नष्ट नहीं होता। जब एक समय में एक ही छन्द याद किया जाता है तो साधारणतः पहला छन्द दूसरे छन्दों की अपेक्षा अधिक बार दुहराया जाता है। शिशु जब कभी भी कविता को लेता है तो वह जितने भाग को याद कर चुका है, उतने को अवश्य दुहराता है। ऐसा करना नहीं चाहिये, परन्तु साधारणतः यही होता है। जब सम्पूर्ण कविता को लेकर याद करने की पद्धति का प्रयोग होता है तो दुहराने के समय की अत्यधिक समानता के साथ व्यवस्था हो जाती है।

एक समय में एक या दो पंक्तियों पर ध्यान केन्द्रित करने की अपेक्षा पूरी कविता को लेना अधिक रोचक भी होता है। कविता में अर्थ निहित होता है और यदि हम पूरी कविता को एक साथ ही पढ़ डालें तो उसके अर्थ का अधिक सुगमता से मूल्यांकन कर सकते हैं। इस प्रकार जब 'सम्पूर्ण' पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो रुचि और उसके फलस्वरूप ध्यान में भी वृद्धि होती है। इस तथ्य पर सदैव ध्यान देना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि जो कुछ याद किया जाये उसका अर्थ समझ में आजाये। सम्पूर्ण को लेकर याद करने

सम्पूर्ण को लेकर याद करने में कुछ असुविधायें भी होती हैं जिनको हमें ध्यान में रखना होगा :—

१. किसी बड़ी लम्बी कविता के लिये हम इस पद्धति का उपयोग कर लाभ नहीं उठा सकते। यदि किसी लम्बी कविता को याद करना है तो हमें चाहिये कि उसे अर्थ-इकाइयों, अर्थात् ऐसे खण्डों में विभक्त करलें जिनका अर्थ सम्पूर्ण हो और याद करने के लिये प्रत्येक खण्ड को सम्पूर्ण के रूप में लें।

२. सम्पूर्ण को लेकर याद करने की पद्धति द्वारा उतनी शीघ्रता से फल नहीं निकलता जितना कि दूसरी पद्धति से निकलता है। जब कोई एक समय में एक ही छन्द याद करता रहता है तो उसके लिये अपने प्रगति का अनुमान लगाना सहज होता है। इसके द्वारा उसे प्रोत्साहन मिलता है। वह देखता है कि धीरे-धीरे वह अपने निमित्त-विन्दु की ओर पहुँच रहा है। परन्तु जब वह पूरी कविता को कई बार पढ़ता है, तो उसकी समझ में किसी प्रकार की प्रगति होती नहीं दिखाई देती। यदि वह दृढ़ता-पूर्वक कार्य करता जाता है तो मानो अकस्मात उसे पता चलता है कि उसने कविता की सम्पूर्ण-प्राप्ति कर ली। परन्तु उसे अपना उद्देश्य लगभग अकस्मात रूप से ही प्राप्त होता है, कार्य तो उस एक लम्बे समय तक, बिना यह जाने हुये कि वह किस ओर पहुँच रहा है, करना ही पड़ता है। दूसरी पद्धति उसे अपनी प्रगति को, चाहे वह मन्द ही क्यों न हो, जान लेने के योग्य बना देता है इस प्रकार सम्पूर्ण को लेकर याद करने में उसके हतोत्साहित होने का भय रहता है। यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि जहाँ वह हतोत्साहित हुआ, उसकी रुचि लुप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में शिक्षक को चाहिये कि सावधानी पूर्वक अपनी पद्धति तथा उस विधि की व्याख्या करे जिसके द्वारा शिशु अपनी प्रगति का अनुमान लगाये बिना भी समझ लेंगे कि वह कविता को जानने लगे।

यदि वह समझता है कि उसके लिये ऐसा करना सम्भव है तो वह एक सरल अनुसंधान के द्वारा कक्षा के समक्ष प्रदर्शन कर सकता है कि कौन सी पद्धति कम समय लेती है। वह कुछ चुने हुये शिष्यों द्वारा लगभग समान कठिनाई की कवितायें दोनों पद्धतियों से याद करवा सकता है और वह जितना समय लेते हैं उसे नोट कर सकता है। यह माप वैज्ञानिक रूप से पूर्णत्या शुद्ध न होगा क्योंकि अनुसंधान की शुद्धता को प्रभावित करने वाले दूसरे तत्व भी

होते हैं। परन्तु वह सामान्य वास्तविकता को तो पा ही जायेगा और जो कुछ वह अपने शिशुओं को बतलाता रहा है, उसकी सत्यता उनके समक्ष सामान्य रूप से प्रदर्शित करने के योग्य हो जायेगा।

३. जहाँ किसी कविता के कुछ खण्ड दूसरों की अपेक्षा अधिक कठिन हों तो, उन खण्डों की ओर विशेष ध्यान देना होगा। और यहाँ दोनों पद्धतियों के सम्मिश्रण का उपयोग करना होगा। ऐसा न करने पर सहज तथा कठिन खण्डों, दोनों को एक ही समय दिया जायेगा। स्वभाविक है कि कठिन खण्डों को पर्याप्त समय प्राप्त नहीं होगा।

४. कभी कभी ऐसा भी कहा जाता है कि शिष्यों को याद करने के हेतु पर्याप्त सुविधा प्रदान नहीं की जाती। इसके विपरीत, कविता को प्रत्येक बार पढ़ने के पश्चात् यदि याद करने की चेष्टा की जाये तो यह स्थिति उत्पन्न नहीं होगी।

५. शिक्षक को समय का ध्यान रखना चाहिये। यदि स्मरण कार्य में थोड़ा ही समय दिया जाता है तो 'सम्पूर्ण' पद्धति को धक्का पहुँचेगा। उदाहरणतः खण्ड-पद्धति के द्वारा पन्द्रह मिनट में सम्भवतः तीन छन्द याद हो जायेंगे, और जो लोग इस पद्धति का प्रयोग कर चुके हैं, उन्हें इसके पक्ष में अवसर प्राप्त हो जायेगा। परन्तु जो लोग सम्पूर्ण पद्धति का उपभोग कर रहे हैं, उनके पास दिखलाने को कुछ भी न होगा। उन्हें यदि दस ही मिनट और मिल जायें तो वह दूसरों के आगे दिखाई पड़ेंगे परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में, सम्पूर्ण कविता उनके मस्तिष्क में आना प्रारम्भ होने से पूर्व, वह पीछे दिखाई देंगे। इसलिये पर्याप्त समय उपलब्ध करना होगा। 'सम्पूर्ण पद्धति' के उपयोग में अन्तिम क्षण ही महत्त्वपूर्ण होते है।

६. कभी-कभी यह भी विचार होता है कि खण्डों द्वारा याद करने की अपेक्षा 'सम्पूर्ण' पद्धति अधिक थका देने वाली पद्धति है। परन्तु साधारण रीति से यह सत्य नहीं है, क्योंकि जिसको हम थकन समझने लगते हैं, वास्तव में वह हतोत्साहन तथा रुचि का लोप है क्योंकि कोई फल निकलता प्रतीत नहीं होता। फिर यह प्रोत्साहन ही का प्रश्न बन जाता है। वास्तव में हम कह सकते हैं कि जब तक शिशु का इस पद्धति में विश्वास बना रहे और जब तक इसमें प्रगति की भावना को संभाला जा सकता हो, सम्पूर्ण को लेकर याद करने की पद्धति को प्राथमिकता देनी चाहिये। केवल समय तथा परिश्रम की बचत की दृष्टि से भी, जब तक सम्पूर्ण अत्यन्त बड़े न हो, सम्पूर्ण

को लेकर याद करना अधिक लाभदायक होता है।

स्मरण कार्य के सहायक

१. शिशुओं को यह शिक्षा देनी चाहिये कि सामग्री को याद करके स्वयं उसे पूरा पढ़ें। इसका अर्थ यह है कि सामग्री को एक-दो बार पढ़ लेने के पश्चात उन्हें पता लगाना चाहिये कि वह उसको दुहरा सकते हैं अथवा नहीं। बड़े लोगों के लिये तो यह बात स्पष्ट है, परन्तु बहुधा छोटे शिशुओं को ऐसा करने का ढंग दिखलाना पड़ेगा। वह बहुधा ऐसी साधारण बातों का ज्ञान न रखने के कारण बहुत अधिक समय नष्ट कर देते हैं। यदि दुहराने अथवा कविता पाठ में अधिक से अधिक समय लगा दिया गया तो शिक्षा-प्राप्ति के लिये आवश्यक समय बहुत घट जायेगा और याद की जाने वाली सामग्री अधिक सुगमता से अधिक समय तक याद रह सकेगी।

'कविता पाठ का लाभ तो यह है कि वह ध्यान को केन्द्रित कर देता है और रुचि को बनाये रखता है क्योंकि वह एक अधिक क्रियाशील क्रिया है। चूंकि मनुष्य शीघ्र ही अपनी क्षमताओं का परीक्षण करने लगता है, उसका मनोवेग-वर्धन हो जाता है कि इस क्रिया के सहायकों को ढूँढ़ निकाले और अपनी इच्छित निमित्त को प्राप्त करने के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न करें। यह उस प्राचीन कहावत का कि "हम कार्य द्वारा शिक्षा प्राप्त करते हैं, व्यवहारिक उपयोग है।"[1]

बहुधा भारतीय पाठशालाओं में हम देखते हैं कि शिशु सामग्री को केवल बारम्बार पढ़ने और जोर-जोर से पढ़कर हृदयंगम कर लेते हैं। शिक्षकों को अपने शिशुओं को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चहिये कि वह स्वयं अपने को कविता सुनाने पर भी कम से कम उतना ही समय लगायें जितना याद की जाने वाली सामग्री के पढ़ने में लगाते हैं।

२. कार्य के वितरण पर सदैव ध्यान देना चाहिये। हम देख चुके हैं कि स्मरण कार्य के लिये छोटे-छोटे घन्टों का होना और इन घन्टों का बारम्बार आना अधिक लाभदायक होता है। परन्तु हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि हमारे शिशु इस तथ्य को समझते रहें। साधारणतया वह इसको नहीं समझते। तैयारी करते समय वह एक ही कार्य में तब तक जुटे रहते हैं जब तक कि वह

---

१. ए० एस० वुडबर्न—ह्यूमन नेचर ऐण्ड एजुकेशन। पृ० १३६ (ओ० यू० पी०)

पूरा नहीं हो जाता, परन्तु वह दूसरे प्रकार के कार्य के बीच-बीच में यदि हृदयंगम करने का समय भी निकालते रहें तो वह बहुत अधिक समय बचा लेंगे। एक बार इस विषय पर एक अनुसन्धान किया गया। देखा गया कि यदि कोई व्यक्ति किसी विषय पर लगातार जुटा रहे और उस समय तक न छोड़े जब तक उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो जाये, तो पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये ग्यारह बार दुहराना पड़ता है। परन्तु जब दस-दस मिनट के अवकाश दिये गये तो देखा गया कि पांच बार ही दुहराना पर्याप्त होता है। एक दूसरे अनुसन्धान में एक सामग्री तीन दिन तक आठ बार प्रतिदिन पढ़ा गया, फिर छः बार प्रतिदिन चार दिन तक और दो बार प्रतिदिन बारह दिन तक पढ़ा गया। अन्तिम दशा में सबसे अच्छा परिणाम निकला। इसलिये शिशुओं को यह शिक्षा देनी चाहिये कि स्मरण कार्य पूरी चीज को एक बैठक ही में याद करने की चेष्टा करने की अपेक्षा परिच्छेद को कई दिन तक लगातार दो तीन बार प्रतिदिन पढ़ने (और प्रत्येक बार उसे स्वयं अपने को सुनाने का प्रयास करने) में अधिक बचत होती है। शिक्षकों को किये जाने वाला कार्य निर्धारित करते समय यह बात याद रखनी चाहिये।

३. शिशुओं को तथ्यों में परस्पर साहचर्य्य स्थापित करने की शिक्षा देनी चाहिये। तथ्यों में साहचर्य्य स्थापित करने के ज्ञान और इस कार्य को करने की योग्यता ही के आधार पर बहुधा स्मरण-कार्य में सुधार होता है। हम देख चुके हैं कि खण्डों में याद करने की अपेक्षा सम्पूर्ण को ले कर याद करने की अधिक उपयोगी होने का एक कारण यह भी है कि साहचर्य्यात्मक कड़ियां टूटने नहीं पातीं। इसी प्रकार सभी स्मरण कार्य में हम अपनी सहायता के लिये साहचर्य्य की शक्ति का सचेत रूप से उपयोग कर सकते हैं। परन्तु यह तथ्य शिशुओं को भली भांति बतलाना होगा। उनके समक्ष प्रदर्शन करना होगा कि चीजों पर एक साथ विचार करने से उन्हें एक साथ याद रखने में किस प्रकार सहायता मिलती है और किस प्रकार साहचर्य्यों की एक श्रंखला हमें बहुत से ऐसे तथ्यों को याद रखने में सहायता देती है जिन्हें यदि पृथक-पृथक याद किया जाता तो बड़ी कठिनाई से याद आया करते। प्रोफेसर जेम्स ने एक व्यक्ति का उदाहरण दिया है जो सदैव अपना छाता भूल जाया करता था यहां तक कि अन्त में उसने छाते के विचार का द्वार के विचार से साहचर्य्य स्थापित करने का अभ्यास कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जब कभी वह द्वार के पास

पहुँचता उसे अपने छात्रों का ध्यान आ जाता था और वह कभी उसे नहीं भूलता था। शिक्षक यदि उन्हें विचारों में साहचर्य्य स्थापित करने में सहायता दे सकते हैं तो वह अपने शिष्यों को तथ्यों के याद रखने में बड़ी सहायता दे सकते हैं।

४. सामग्री को तार्किक क्रम के अनुसार प्रस्तुत करने से बहुधा याद करने में सहायता मिलती है। कुछ तथ्यों की अपेक्षा, जिनका कोई क्रम न हो, ऐसे पाठ का याद करना, जिसमें तथ्य तार्किक रूप से एक के बाद एक आते हों, अधिक सहज होता है। यह साहचर्य्य के कार्य का एक उदाहरण है। जब तथ्य एक नियमित और तार्किक ढंग से व्यवस्थित होते हैं तो हम साहचर्य्य सुगमता से स्थापित कर सकते हैं।

५. कल्पना-चित्र, विशेष कर दृष्टि-सम्बन्धी कल्पना-चित्र स्मरण कार्य में सहायक हो सकते हैं। इस कार्य के लिये चित्र बहुत उपयोगी होते हैं। इसी कारण शिशुओं की पुस्तकों में चित्र अधिक संख्या में होने चाहियें। यदि किसी कहानी का चित्रों से साहचर्य्य हो तो हम उसे अधिक सुगमता से याद रख सकते हैं। कहानी याद करते समय प्रत्येक पद-क्रम के संग एक चित्र की कल्पना करने से बड़ी सहायता मिलती है। पढ़ना सीखने में चित्रों के संग साहचर्य्य स्थापित किया जा सकता है और इस प्रकार शब्दों के याद करने में सहायता मिल सकती है। डाक्टर लौबाख ने प्रौढ़ों को शीघ्रता पूर्वक पढ़ना सिखाने की अपनी कुछ योजनाओं में इस पद्धति का अत्यन्त सफलतापूर्वक उपयोग किया है।

६. साधारणतः अनुप्रास द्वारा शिशुओं को याद करने में सहायता मिलती है। यह प्रत्येक अवस्था में सत्य नहीं है, परन्तु साधारणतः होता यही है। हम देखते हैं कि साधारण गद्य की अपेक्षा अनुप्रासों को धारण करना अधिक सहज होता है। इसी कारण कभी-कभी तथ्यों को कविता रूप में रख दिया जाता है, ताकि शिशुओं को उसे याद करने में सहायता मिले। यह एक कृत्रिम पद्धति है, परन्तु इसमें लाभ निहित होते हैं।

७. कभी-कभी इस कार्य के लिये विशेष उपायों का प्रयोग किया जाता है जिसे स्मृति-सहायक कहा जाता है। उदाहरणतः बहुत से याद किये जाने वाले शब्दों के पहले अक्षरों को मिला कर एक शब्द बना दिया जाता है, और उस शब्द को याद कर लेते हैं, इसी प्रकार सभी शब्द याद हो जाते

हैं। फिर भी तथ्यों के याद की यह बड़ी सन्तोषजनक विधि नहीं है और उसका उपयोग करने के लिये प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये। स्मृति-सहायक साहचर्य्य का एक कृत्रिम साधन है और उपयोगी भी हो सकता है, परन्तु उसका उपयोग तभी करना चाहिये जब दूसरे साधन सभी असफल हो चुके हों। विदेशियों को कभी यह याद रखने में कठिनाई पड़ती है कि उर्दू के शब्द 'बायें' और 'दायें' में से कौन शब्द 'राइट' के लिये है और कौन 'लेफ्ट' के लिये। ठीक अर्थ याद करने का एक उपाय यह है कि हम ध्यान में रखें कि अंग्रेजी वर्णमाला में 'एल' 'आर' के पहले और 'बी', 'डी' के पूर्व आता है इसलिये 'लेफ्ट' और 'बायें' का साथ है और 'राइट' और 'दायें' का साथ है। इस प्रकार के स्मृति-सहायक यदाकदा लाभदायक हो सकते हैं, परन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूं, उसका उपयोग बहुत कम होना चाहिये।

८. विषय-सामग्री को उप-विषयों में विभक्त करने से बहुधा स्मरण-कार्य में सहायता मिलती है, विशेषकर जब भिन्न-भिन्न उप-विषयों के बीच एक मजबूत साहचर्य्यात्मक शृंखला स्थापित कर दी गई हो। इसका अर्थ केवल विषय-सामग्री को व्यवस्थित करना है, और जैसा कि हम देख चुके हैं, तार्किक क्रम में व्यवस्थित सामग्री अधिक सुगमता से याद हो जाती है।

९. अन्त में मैं सामग्री को याद करने की कोई चेष्टा करने से पहले उसका अर्थ समझ लेने की आवश्यकता पर जोर देना चाहता हूँ। इस बात पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया जा सकता, विशेषकर भारत में जहाँ यह खटका लगा रहता है कि शिशु आगे बढ़ते जायें और अपने स्थान पर समझते रहें कि उनका कार्य सामग्री को केवल रट लेना है, चाहे उसका अर्थ समझ में आये अथवा न आये। अर्थ समझ लेने के फलस्वरूप स्मरण कार्य अधिक सहज हो जाता है, शिष्य समय बचा सकता है और परिणाम यह होता है कि जो कुछ उसने याद किया उसका शिष्य के लिये कुछ उपयोग भी है।

अनुसंधान

शिक्षकों के अपने शिष्यों के संग कुछ सरल अनुसंधान यह पता लगाने के लिये करने चाहियें कि उनके शिष्यों की धारण-शक्ति कितनी है और वह इस शक्ति का उपयोग किस प्रकार कर सकते हैं। सभी शिष्य इन दोनों बातों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। शिक्षक के लिये यह पता लगाना सहज है कि

उसके शिष्यों में किन-किन की धारण-शक्ति सबसे अधिक है। वह जाँच कर सकता है कि उन्हें ठीक-ठीक मौखिक पाठ करने से पहले परिच्छेद को कितनी बार पढ़ना पड़ता है। इसके द्वारा वह शिष्यों की परस्पर तुलना कर सकता है। वह उस समय-अवधि को भी परख कर सकता है, जब तक कि कोई परिच्छेद स्मृति में धारण रहती है। इसके द्वारा उसे एक अन्य तुलना-माप प्राप्त हो जाता है। अपने शिशुओं की शक्तियों के अन्तर का ज्ञान होने से फलस्वरूप, उनके प्रति उसके व्यवहार तथा पद्धति में बड़ा सुधार होगा।

चीजों को हृदयंगम करने की इच्छा भी भिन्न-भिन्न शिशुओं में भिन्न होती है। निस्सन्देह बहुत से ऐसे तथ्य हैं जिन्हें प्रत्येक मनुष्य को हृदयंगम करना पड़ता है। कटु अभ्यास कार्य भी है, जिसे करना पड़ेगा और जिन लोगों को स्मरण-कार्य कठिन लगता है, उनके लिये शिक्षक को ऐसी पद्धतियों का उपयोग और प्रदर्शन करना पड़ेगा, जिनसे उन्हें सहायता मिल सके। परन्तु जब केवल विनोद के लिये याद करवाना हो अथवा ऐसी सामग्री को हृदयंगम करवाना हो, जो साधारण कार्य की पूर्त्ति के लिये आवश्यक नहीं है, तो शिशुओं को रटने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिये। किसी भी शिशु को रटने के लिये बाध्य करने से (जब तक कि वह किसी दूसरे कार्य के लिये आवश्यक न हो, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ) कोई लाभ न होगा, उसके विपरीत विचाराधीन सामग्री के प्रति उनके मूल्यांकन पर बुरा प्रभाव पड़ जायगा। हमें भली-भाँति स्वीकार करना चाहिये कि शिशुओं में मौलिक अन्तर होता है, और जिन लोगों को रटने में कठिनाई होती है, उन्हें स्वयं अपने ढंग से याद कर लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। वह न रटेंगे तो कोई हानि न होगी, परन्तु उन्हें इस कार्य के लिये बाध्य करने से बहुत बड़ी क्षति हो सकती है। शिक्षक को यथा सम्भव निश्चित कर लेना चाहिये कि धारण-शक्ति वास्तव में थोड़ी है। ऐसा करना कठिन नहीं है। तब उसे ज्ञान हो जायेगा कि सम्बन्धित शिष्यों के संग किस ढंग का व्यवहार करना चाहिये।

एक दूसरा तथ्य जो स्मरण-कार्य के सम्बंध में शिक्षक को सदैव दृष्टिगत रखना होगा वह यह है कि शिशुओं की स्मरण-शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। कुछ की स्मृति दृष्टात्मक होती है, कुछ की श्रवणात्मक, कुछ की स्पर्शात्मक और कुछ की स्मृत्ति लालित्यज्ञानात्मक होती है। इसका अर्थ यह है कि साधारण रीति से हम एक ही प्रकार की स्मृति का उपयोग करते हैं और

दूसरे लोग दूसरे प्रकार की। हम सब सभी ढंगों से याद कर सकते हैं परन्तु हम में से प्रत्येक व्यक्ति किसी एक विषय विधि का उपयोग करता है। शिशुओं को सभी विधियों का उपयोग करने की शिक्षा देनी चाहिये। परन्तु इसी के साथ-साथ यदि शिक्षक को पता रहता है कि उसके शिष्यों में से प्रत्येक की प्रिय पद्धति कौन सी है, तो वह अपनी पद्धतियों में इसके अनुसार संशोधन करता रहेगा।

अध्ययन कैसे किया जाये

एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो हम पाठशाला में कर सकते हैं वह है अपने शिष्यों को अध्ययन करने का ढंग सीखने में सहायता देना। जिस समय वह पाठशाला छोड़ेंगे और बाहरी संसार में प्रविष्ट होगे तो अध्ययन की ठीक पद्धतियों का ज्ञान उनके लिये अत्यन्त बहुमूल्य होगा, वास्तव में उसका मूल्य पाठशाला में प्राप्त सभी तथ्यों से बढ़कर होगा। इस कार्य को पूरा करने की चेष्टा में हमें कुछ सिद्धान्तों को दृष्टिगत रखना पड़ेगा।

१. जब शिशु स्वयं अध्ययन करने के कार्य में लगें, चाहे यह अध्ययन पाठशाला में, अवेक्षण के अन्तर्गत हो, अथवा घर पर, तो वह स्पष्ट रूप से समझ लें कि वह क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं। यदि मनुष्य को स्पष्ट अनुमान रहे कि उसका लक्ष्य क्या है और वह विशेष कार्य क्यों करता है, तो उसके कार्य में बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है। शिशुओं में अपने अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न होने की आशा तभी की जा सकती है जब वह स्पष्ट ढंग से समझ लें कि उन्हें क्या करना है। शिक्षक को ध्यान रखना चाहिये कि जब वह कार्य निर्धारित करें तो उसको शिशु स्पष्ट रूप से समझ लें कि वह ठीक-ठीक क्या चाहता है। यदि वह आवश्यक समझे तो उसे विश्लेषण भी करना चाहिये कि अमुक कार्य क्यों किया जाये। शिशुओं को जब कोई समस्या हल करने को दी जाये तो शिक्षक को निश्चित कर लेना चाहिये कि वह सारे प्रयुक्त परिभाषिक शब्दों का अर्थ समझते हैं, जो कुछ पूछा गया है वह भी स्पष्ट है और उन्हें इस समस्या के समाधान के लिये आवश्यक नियमों और क्रियाओं से परिचित होने का अवसर मिल चुका है। दूसरे शब्दों में शिक्षक को ध्यान रखना होगा कि जो कार्य दिया गया है, शिष्यों द्वारा उसकी सफल पूर्त्ति की अच्छी सम्भावना है।

२. शिक्षक को अपने शिष्यों के अध्ययन-कार्य का भी पथ-प्रदर्शन करना चाहिये। यह कार्य कक्षा में मौखिक रूप से हो सकता है जब शिक्षक उन कार्य-दिशाओं की ओर संकेत कर सकता है जिन पर शिशुओं को कार्य करना है। वह अध्ययन की पद्धति की भी उनके समक्ष व्याख्या कर सकता है। परन्तु यह कार्य, कम से कम कुछ विषयों में, सुगमतर ढंग से किया जा सकता है यदि नियुक्त-कार्य के रूप का प्रयोग किया जाये। यह नियुक्त कार्य शिशुओं को दे दिया जाता है। उससे सम्बंधित परिच्छेद अथवा पाठ के अध्ययन में उन्हें जो कठिनाइयाँ पड़ने वाली हैं, उनकी व्याख्या कर दी जायेगी। ऐसे प्रश्न पूछे जायेंगे जो शिशुओं का अध्ययन करते समय पथ-प्रदर्शन करें और लाभप्रद चिन्तन दिशाओं की ओर संकेत करें। जिस विषय सामग्री का अध्ययन करनाहै, उससे उत्पन्न समस्याओं को नोट कर लिया जायेगा और उनके सम्बन्ध में संकेत किये जायेंगे। विषय-सामग्री पर शिशुओं के सामान्य चिन्तन को पथ-प्रदर्शित करने के लिये भी संकेत किये जायेंगे। ऐसे प्रश्न भी पूछे जायेंगे जिनके फल-स्वरूप शिशु स्वयं अपने लिये चिन्तन करने लगेंगे, और उन्हें ऐसे कार्य करने को दिये जायेंगे जिनसे उन्हें क्रियाशील होने का अवसर प्राप्त हो। पथ-प्रदर्शनात्मक नियुक्त कार्य निर्धारित करने से यह पद्धति अत्यन्त बहुमूल्य है और उसका प्रयोग प्रारम्भिक पाठशाला में भी किया जा सकता है। निम्न कक्षाओं में यह पद्धति अधिकतर खेलरूपी अभ्यासों के रूप में प्रयुक्त होगी। ऐसे नियुक्त-कार्यों का उपयोग, पाठशाला अथवा अवेक्षित अध्ययन या घर पर किया जा सकता है। इस प्रकार के अध्ययन-सहायकों के प्रयोग से धीरे-धीरे शिष्य बुद्धिपूर्ण तथा सफल ढंग से स्वयं अध्ययन करने के योग्य बन जायेंगे, क्योंकि इन नियुक्त कार्यों के प्रयोग का सम्पूर्ण प्रभाव केवल यही है कि शिष्यों में बढ़ने के साथ-साथ आत्म-विश्वास और स्वतंत्रता का विकास होता जाये।

३. समस्त अध्ययन का एक उद्देश्य होना चाहिये, और शिशु इस उद्देश्य को स्पष्ट रूप से समझते और उसका गुण ग्रहण करते हों। यदि उद्देश्य शिष्यों का स्वयं अपना है, अर्थात वह इसलिये अध्ययन कर रहे हैं कि स्वयं अपने किसी उद्देश्य की पूर्त्ति करें, तो यह और भी अच्छा है। परन्तु अध्ययन चाहे स्वयं प्रेरित हो, अथवा न हो, शिष्य जो कुछ कर रहे हों, उसका उद्देश्य उन्हें सदैव ज्ञात रहना चाहिये, और यह भी शिक्षक का एक कर्तव्य है कि प्रभावशाली अध्ययन में सहायता देने के लिये सदैव यह ध्यान रखें कि जो कार्य वह

करते हैं उसका उद्देश्य भी समझने हों। यह उद्देश्य स्वभावतः कार्य के स्वरूप पर निर्भर करेगा। अध्ययन को एक उपमानिक दिशा अपनानी पड़ेगी जिसके द्वारा किसी नियम अथवा किसी प्रकार का सामान्य सिद्धान्त प्राप्त हो सके, या फिर उसे कोई अनुमानिक रूप धारण करना होगा जहाँ किसी नियम का प्रयोग और परीक्षण किया जायेगा। अध्ययन कभी-कभी किसी बात की तैयारी जैसे भाषण, या निबंध लिखना, या कहानी कहने का रूप भी ले सकता है। परन्तु उसके भीतर सदैव कोई उद्देश्य निहित होना चाहिये। जब लोग बड़े हो जाते हैं तो वह बिना उद्देश्य के अध्ययन नहीं करते, तो हम शिशुओं से भी ऐसा करने की आशा नहीं कर सकते। जब अध्ययन किसी विशिष्ट उद्देश्य की ओर पथ-प्रदर्शित होता है, तो वह अधिक निश्चित और सजीव बन जाता है।

विशिष्ट उद्देश्य होने से चयन का आधार उपलब्ध हो जाता है। शिशुओं को यह चयन करने की शिक्षा प्राप्त करनी होगी कि उन्हें किस विषय की शिक्षा-प्राप्ति करनी है। यह उन बातों में से एक है जिसके लिये शिक्षकों को उन्हें प्रशिक्षित करना होगा। जब उनके अध्ययन में कोई विशिष्ट उद्देश्य होगा, तो वह उन्हें बातों की शिक्षा प्राप्त करेंगे जिनके द्वारा उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायता मिलती हो, इसके अतिरिक्त वह शेष की चिन्ता नहीं करेंगे। वह सभी चीजें नहीं कर सकते। इसलिये उद्देश्य चयन के आधार का कार्य करता है। बहुधा शिशुओं को किसी पुस्तक में केवल कुछ पन्ने 'करने' को दे दिये जाते हैं। परन्तु उनका कार्य रुचि पूर्ण हो जाये यदि उन्हें कोई ऐसा कार्य दिया जाये जिसकी पूर्ति के लिये उस पुस्तक के उन्हीं पन्नों को अध्ययन करना पड़ता हो। उनके समक्ष कोई उद्देश्य तथा कार्य का निश्चित लक्ष्य प्रस्तुत कर देने के फलस्वरूप किये गये कार्य के प्रमाण में बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है। दिये गये पन्नों की विषय-सामग्री से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर खोजने का कार्य हो सकता है। उन पन्नों में प्राप्त ज्ञान का दूसरे कार्य के लिये उपयोग करने की बात भी हो सकती है। परन्तु शिक्षक को किसी न किसी विधि से यह निश्चित कर लेना चाहिये कि शिष्यों को जो कार्य करना है उसमें कोई निश्चित उद्देश्य निहित रहे और यह न हो कि कार्य दे दिया गया है अथवा परीक्षा में सफल होने के लिये आवश्यक है इसीलिये उसको करना ही है।

अध्ययन में उद्देश्य निहित होने से यह भी निश्चित हो जाता है कि शिशु जो कुछ कर रहा है उसका कुछ उपयोग भी है। वह जो कुछ कर रहा है,

उसका व्यवहारिक परिणाम होगा। वह जो कुछ शिक्षा प्राप्त करेगा उससे लाभ होगा। यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक लघु शिशु को, विशेष रूप से, यह अनुभव करने में प्रसन्नता होती है कि वह जो कुछ कर रहा है उसके द्वारा कोई व्यवहारिक परिणाम निकलने वाला है। यदि उसके कार्य में कोई उद्देश्य है तो वह देख सकता है कि उस कार्य की पूर्ति के द्वारा वह अपने उद्देश्य को किस प्रकार व्यवहारिक रूप में कार्यान्वित करने के योग्य बन जायेगा। तभी शिक्षा-प्राप्ति यथार्थ बनती है और उसका उसकी दृष्टि में कुछ अर्थ होता है। वह उसके व्यवहारिक जीवन से सम्बद्ध हो जाती है।

४. शिक्षक को अध्ययन में परिपूर्णता पर जोर देना चाहिये। कोई चिन्ता की बात नहीं है कि शिशु कितना कार्य करता है, परन्तु जो कुछ वह करता है उसे परिपूर्णता पूर्वक करता है अथवा नहीं, यह अवश्य चिन्ता की बात है। शिशु परिपूर्णता की यह परमावश्यक आदत तभी सीखेगा जब शिक्षक परिपूर्णता पूर्वक कार्य करने पर जोर देता रहे। शिक्षक जिस कार्य-स्तर की आशा करता है शिशु उसी के अनुसार कार्य करेगा। यदि वह देखता है कि अर्ध-ज्ञात तथ्य ही से काम चल जायेगा तो वह उसको परिपूर्णता पूर्वक सीखने का कष्ट नहीं उठायेगा। यदि वह देखता है कि शिक्षक ऐसे कार्य को नहीं स्वीकार कर सकता तो वह धीरे-धीरे अपने कार्य को परिपूर्णता पूर्वक करने और जिस चीज को सीखना है उसे परिपूर्णता पूर्वक सीखने की आदत डालेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि शिक्षक को प्रत्येक बात में पूर्णत्व पर जोर देना है। पूर्णत्व की आशा पहाड़े जैसी कुछ चीजों में की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, जहाँ अधिक स्वतंत्र कार्य किया जाता है, पूर्णत्व शिशु की योग्यता तथा प्राप्त अवसरों से आपेक्षिक सम्बन्ध रखता है। परन्तु शिक्षक को उस समय तक सन्तुष्ट न बैठ जाना चाहिये जब तक उसे यह विश्वास न हो जाये कि उसने अपना कार्य परिपूर्णता पूर्वक करने के लिये यथा शक्ति पूरा प्रयत्न किया है।

५. अध्ययन को, जहाँ कहीं भी सम्भव हो, कार्यशीलता पूर्ण होना चाहिये। हम देख चुके हैं कि यदि परिच्छेदों को अथवा कार्यशीलता पूर्वक पढ़ने अथवा पाठ करने में समय लगा दिया जाय, और पूरे समय उसे केवल पढ़ा न जाये तो स्मरण कार्य को भी कार्यशीलता पूर्ण बनाया जा सकता है। दूसरी विधियों से भी अध्ययन को कार्यशीलता पूर्ण होना चाहिये। जैसा कि हम देख चुके हैं, एक निश्चित उद्देश्य इस कार्य में बहुत बड़ी सहायता देगा।

परन्तु शिक्षक को ध्यान रखना चाहिये कि उसके शिष्यों को अध्ययन करने में कार्यशील तथा अकर्मण्य दोनों रहना है। अध्ययन केवल पढ़ना न रहे। उसे कार्यशीलता-पूर्ण ग्रहण, कार्यशीलता पूर्ण चिन्तन, कार्यशीलता-पूर्ण अभिव्यक्ति कार्य होना चाहिये। इसी कारण 'अध्ययन के पथ-प्रदर्शक' प्रश्नों की आवश्यकता होती है, जिनके द्वारा शिष्य कार्यशीलता-पूर्वक उस चीज पर विचार करने लगता है, जिसको वह पढ़ रहा है। अध्ययन के लिये कार्यशीलता-पूर्ण होना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि सामान्य रूप से पाठशाला कार्य को कार्यशीलतापूर्ण होना।

एक और ढंग जिसके द्वारा किसी पाठ्य पुस्तक के पन्नों का अध्ययन कार्यशीलता-पूर्ण बनाया जा सकता है, यह है कि शिशुओं को परिच्छेदों के मुख्य विषयों को खोजने और जो कुछ पढ़ा जाये उसका सार तत्त्व निकालने की प्रशिक्षा दी जाये। निस्सन्देह, लघु शिशुओ मे यह कार्य बहुत अधिक नहीं हो सकता यद्यपि वह भी बता सकते है कि कहानी अथवा परिच्छेद किसके सम्बन्ध मे है, विशेषकर यदि उसमें कोई महत्त्वपूर्ण घटना अथवा व्यक्ति का वर्णन किया गया हो। परन्तु बड़े शिष्यों मे इस ढंग के कार्य का विस्तृत रूप से प्रयोग किया जा सकता है और जैसे-जैसे वह बड़े होते जायें, धीरे-धीरे कार्य का पेचीलापन भी बढ़ाया जा सकता है। अध्ययन की ऐसी पद्धत्ति शिष्यों को तथ्यों और विचारों के आपेक्षिक मूल्यों में अन्तर करने की प्रशिक्षा देती है और उनसे तथ्यों के चयन तथा वर्गीकरण का अभ्यास भी करवाती है।

जब शिशु बड़े होते हैं तो यह आवश्यक है कि वह अध्ययन करते समय साराश निकालने तथा ढांचा तैयार करने की शिक्षा भी प्राप्त करें। यदि उनके अध्ययन को प्रभावपूर्ण होना है तो उन्हे यह सीखना होगा कि किसी परिच्छेद के मूल विचार को कैसे ज्ञात किया जाये और उन्होंने जो कुछ पढ़ा है उसका संक्षिप्त ढाचा कैसे तैयार किया जाये। यह कार्य प्रारम्भिक पाठशाला की उच्च कक्षाओं में आरम्भ किया जा सकता है। स्वाभाविक है कि जब तक वह स्वयं अध्ययन करते समय यह कार्य नहीं कर सकते, उन्हें कक्षा ही में इस कार्य के करने की शिक्षा देनी पड़ेगी। परन्तु धीरे-धीरे वह अपनी कक्षा में सारांश निकालने तथा चयन करने की आदत डलवा सकता है और इस प्रकार उन्हें अपने अध्ययन में सहायता दे सकता है।

इस ढंग का कार्य इतिहास जैसे विषय में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ शिष्यों को मुख्य तथ्यों और विचारों के चुनने की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। उन्हें यह भी सीखना पड़ता है कि उप-विषयों को किस प्रकार लिया जाये। उन्हें इसके लिये भी प्रशिक्षित करना चाहिये कि उप-विषय को तैयार करें और जो कुछ करना चाहते हैं उसके लिये तथ्यों और विचारों को छांटें। यह ऐसी निपुणता है जो मुख्यतः अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है, परन्तु यह एक अति आवश्यक निपुणता है और कोई शिक्षक यदि अपने शिष्यों को इस अध्ययन-पद्धति की प्रशिक्षा दे देता है तो इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कोई दूसरी सहायता वह नहीं दे सकता। प्रारम्भ में सरल उप-विषय दिये जा सकते हैं, जिनके सम्बन्ध में आवश्यक सूचनायें शिष्यों को अपनी पाठ्य-पुस्तकों अथवा पुस्तकालय की पुस्तकों में प्राप्त हो जायेंगी। धीरे-धीरे उप-विषयों की जटिलता बढ़ाई जा सकती है।

यदि इस अध्ययन-पद्धति का उपयोग किया गया तो शिष्य पुस्तकों का उपयोग करने में भी प्रशिक्षित हो जायेंगे। प्रारम्भिक पाठशाला की उच्चतर कक्षाओं में इस कार्य का आरम्भ किया जा सकता है। शिष्य किसी भाषण या निबन्ध लिखने के अथवा किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की संक्षिप्त सरल जीवनी तैयार करने के लिये सामग्री जुटाने की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। शिक्षक उनके समक्ष प्रदर्शन कर सकता है कि इस उद्देश्य के लिये पुस्तकालय की पुस्तकों का कैसे उपयोग किया जाये, सरल रीति से किस प्रकार नोट लिये जायें और इस प्रकार वह कैसे अपनी सामग्री जुटायें।

आगे चल कर घटनाओं के भिन्न-भिन्न वर्णनों की तुलना करने और अन्तर निकालने, वर्णनों का मूल्यांकन करने और जो कुछ पढ़ा जाये, उसकी आलोचना करने की प्रशिक्षा दी जा सकती है।

६. इसी के साथ-साथ हमें अपने शिष्यों को स्वतन्त्र निर्णय की मनोशक्ति का विकास करने में सहायता देनी होगी। इस कार्य के लिये सबसे अच्छी विधि अध्ययन के पथप्रदर्शक नियुक्त कार्यों का उपयोग, परन्तु शिक्षक नियुक्त कार्यों के बिना भी, जब शिशु पढ़ चुकें तो उनका मत-निर्धारित करने के लिये सांकेतिक प्रश्नों के द्वारा भी इस दिशा में बहुत कुछ कर सकता है। तब उन्हें कक्षा में अपने उत्तरों का कारण बताने के लिये तैयार होकर आना चाहिये। यह कार्य इतिहास, भूगोल और मातृभाषा में हो सकता है।

अध्यापन की विधि–कला

१. जिस समय शिशु अध्ययन आरम्भ करते हैं, तो शिक्षक को ध्यान रखना चाहिये कि वह कार्यशीलता पूर्वक तुरन्त कार्य में लग जायें। पुस्तकें निकालने, पेन्सिल या क़लम और रोशनाई और काग़ज तैयार रखने आदि-आदि में कम से कम समय नष्ट होना चाहिये। शिष्यों को सीधे-सीधे कार्य में लग जाने की प्रशिक्षा देनी चाहिये। हम सब जानते हैं कि कोई ऐसा कार्य जिसमें हमें अधिक उत्साह न हो, उस पर झींकने के बदले करने के लिये दूसरे कार्य कैसे निकाल लिये जाते हैं। शिक्षक का एक कार्य यह भी है कि अपने शिष्यों में तुरन्त कार्य आरम्भ करने की आदत का विकास कराये।

२. शिशुओं को कठिनतर कार्य पहले प्रारम्भ करने की प्रशिक्षा देनी चाहिये। सरलतर कार्य को आगे चलकर लेना चाहिये।

३. शिशुओं को अपने अध्ययन की योजना स्वयं बनाने के लिये प्रशिक्षित करना चाहिये। छोटे शिशुओं के लिये ऐसा करना अति आवश्यक संभवतः न होगा परन्तु उन्हें जो भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, उनपर व्यय किये जाने वाले समय की योजना तैय्यार करने की धीरे-धीरे आदत डालनी चाहिये। शिक्षक यह संकेत करके सहायता दे सकते है कि अध्ययन कार्य के विभिन्न खण्डों पर कितना-कितना समय लगाना चाहिये और विषयों का क्रम क्या हो। नये कार्य पर जो समय लगे और दुहराने के कार्य के समय में संतुलन होना चाहिये। शिक्षक को यहाँ भी सहायता देने के योग्य होना चाहिये।

४. शिशुओं को शीघ्रातिशीघ्र कार्य करने के लिये प्रशिक्षित करना चाहिये। यदि पढ़ने का कार्य करना है, तो जितनी शीघ्रता से यह कार्य समाप्त होगा, उतनी ही बार उसे दुहराया जा सकेगा या उसके सम्बन्ध में चिन्तन करने और प्रश्नों का उत्तर देने के लिये उतना ही अधिक समय उपलब्ध हो सकते। शीघ्रता-पूर्वक पढ़ने तथा कार्य करने से कार्य के गुण पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ेगा। पाठशाला में शिष्यों के घड़ी से होड़ करते हुये कार्य करने और इस प्रकार शीघ्र कार्य करने की आदत का निर्माण करने की प्रशिक्षा दी जा सकती है। शीघ्र कार्य ध्यान को भटकने से रोकने में भी सहायता देता है।

५. शिष्यों को प्रशिक्षित करना चाहिये कि अध्ययन करते और प्रश्नों का

उत्तर खोजते समय केवल सम्बन्धित बातों ही को लें, अर्थात सुसंगत रहें। विश्वविद्यालयों के ग्रेजुएटों तक को देख कर आश्चर्य और निराशा होती है कि उनकी कितनी भारी संख्या परीक्षाओं में प्रश्नों का उत्तर देते समय विस्तृत सूचनाओं की भरमार कर देती है जिसका उत्तर दिये जाने वाले प्रश्न के उप-विषय से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। स्पष्ट है कि शिष्यों को प्रारम्भिक पाठ-शालाओं अथवा विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों में बहुत कम प्रशिक्षा दी जाती है कि किस प्रकार प्रश्नों का विश्लेषण करना चाहिये, प्रश्न में ठीक-ठीक क्या पूछा गया है, उसे समझा जाये, और ठीक वही सूचना दी जाये अथवा ठीक वही कार्य किया जाये, जिसकी मांग प्रश्न में की गई है। निश्चित तथा सुसंगत होने की योग्यता परीक्षा तथा जीवन दोनों ही में अत्यन्त उपयोगी होती है और हमें अपने शिष्यों को इस कला का विकास करने में सहायता देनी चाहिये। किसी भी साधारण शिष्य को आवश्यक प्रशिक्षा दी जाये तो सुसंगत बन जाना उसकी शक्ति के बाहर नहीं होता। यह प्रशिक्षण पाठशाला के पाठ्यक्रम के प्रारम्भ ही में आरम्भ हो जाना और पूरे पाठ्यक्रम में चलते रहना चाहिये। हमें इस कार्य में सदैव समय लगाना चाहिये कि हमारे शिष्यों को जिन प्रश्नों का उत्तर देना है उन्हें वह समझ सकें और अपने मन में स्पष्ट कर लें कि प्रश्न का वास्तव में क्या अर्थ है और उत्तर में क्या मांगा गया है। तभी कुछ आशा की जा सकती है कि वह केवल ऐसी सामग्री देंगे जो सुसंगत होगी।

६. प्राकृतिक परिस्थितियों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय शिष्यों में अधिकतर के लिये अपने घरों में आदर्श परिस्थितियाँ उपलब्ध होना सम्भव नहीं है। परन्तु शिक्षक को शिष्यों के माता-पिता पर यह जोर डालने का प्रयत्न करना चाहिये कि वह अपने शिशुओं को ऐसी प्राकृतिक परिस्थितियां उपलब्ध कर सहायता करें जिनके द्वारा उन्हें अपने अध्ययन में सहायता प्राप्त हो सके। उनके लिये प्रकाश का उचित प्रबन्ध होना चाहिये, ध्यान बंटने का कोई खटका न रहे, बैठने और लिखने की ऐसी व्यवस्था हो जिसमें काफी आराम भी रहे और बोझ भी न पड़े, वायु के आवागमन की उत्तम व्यवस्था हो और यथा सम्भव अधिकतम शान्ति रहे। यह सारी चीजें कदाचित ही सम्भव होती है, परन्तु उनके लिये प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। निवास पाठशालाओं में अध्ययन के घन्टों के लिये इस प्रकार की सन्तोषजनक व्यवस्था करना सम्भव है जिसके द्वारा इन प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है।

सह-अध्ययन

यह एक टेढ़ा प्रश्न है। कभी-कभी शिक्षकों का विचार होता है कि साथ कार्य करने से शिष्यों को परस्पर सहयोग का पाठ मिलता है और वह एक दूसरे को बहुमूल्य सहायता प्रदान कर एक दूसरे का समय बचा सकते हैं। इसके विपरीत तथा कथित सहकार्य में सदैव बड़ा खटका लगा रहता है कि शीघ्रता पूर्वक कार्य करने वाले के लिये यह बात तो बिल्कुल ठीक है परन्तु उसके लिये बुरी है जो स्वयं अपने लिये कुछ नहीं करता। इससे यह परिणाम निकलता है कि यदि दो या उससे अधिक शिष्यों को एक साथ कार्य करना है तो उन्हें बुद्धि तथा प्राप्ति में लगभग समान स्तर का होना चाहिये। इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि कोई चतुर शिष्य यदाकदा किसी मन्द शिष्य को सहायता देता रहे, परन्तु यह सहायता यदा-कदा ही होनी चाहिये। शिक्षक ही वह व्यक्ति है जो ऐसी स्थिति में सहायता दे सकता है क्योंकि वह जानता है कि शिशु को किस प्रकार सहायता देनी चाहिये कि शिशु बिना स्वयं कुछ किये न रह सके।

फिर भी, जब शिशु लगभग एक ही स्तर के हों तो सहयोगात्मक कार्य अत्यन्त बहुमूल्य हो सकता है, विशेषकर जिस समय किसी परियोजना को कार्यान्वित किया जा रहा हो। परन्तु इसी के साथ-साथ हमें सदैव इस खतरे से सावधान रहना चाहिये कि एक-दो तो सारा का सारा कार्य कर डालेंगे और दूसरे अकर्मण्य बैठे रहेंगे। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अधिकतम कार्य का होना परमावश्यक है। दूसरों के संग सहयोग में कार्य करते समय उपयोगी आलोचना प्राप्त हो सकती है, कठिनाईयों के दूर करने में समय बचाया जा सकता है और कार्य के प्रति रुचि में वृद्धि की जा सकती है। परन्तु हमें याद रखना चाहिये कि अन्तिम रूप से शिष्य को शिक्षा-प्राप्ति स्वयं करनी है और उसे स्वयं अपने मस्तिष्क और अपनी बुद्धि पर निर्भर करना है। सहयोगात्मक कार्य के द्वारा इनका प्रयोग करने में उसे सहायता अवश्य मिल सकती है, परन्तु उनका प्रयोग स्वयं उसी को करना है और यह तथ्य सदैव ध्यान में रखना चाहिये। शिक्षकों को साधारण देखने में यही आयेगा कि जब अध्ययन करते समय शिष्यों को साथ कार्य करने में बहुत अधिक स्वतंत्रता दे दी जाये और निपुणतापूर्ण अवेक्षण की कोई व्यवस्था न हो, तो नकल करने का बहुत बड़ा खटका लगा रहेगा।

मौन-पठन

हम देख चुके हैं कि शीघ्रता पूर्वक कार्य करना लाभदायक होता है। यह तथ्य हमें पठन में विशेष रूप से मिलता है। जितनी अधिक शीघ्रता से हम पठन करते हैं, उतनी ही अधिक हमारी प्राप्ति होती है। और यह बात सिद्ध हो चुकी है शीघ्र-पठन के द्वारा प्राप्ति मन्द-पठन की अपेक्षा कम नहीं होती। वास्तव में शीघ्र-पाठक साधारणतः मन्द पढ़ने वाले की अपेक्षा कुछ अधिक ही प्राप्ति कर लेता है। फिर हम मौन पठन के द्वारा अधिक शीघ्रतापूर्वक पढ़ सकते हैं। इसलिये शिक्षकों को चाहिये कि अपने शिष्यों को मौन पठन की प्रशिक्षा देने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहें। इस आदत का निर्माण करना भारतीय शिष्यों के लिये अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। प्रत्येक पाठशाला में शिष्य उच्चस्वर से पढ़ते या शब्दों का लगभग मौन उच्चारण करते हुये मिलते हैं। कभी-कभी उच्चस्वर से पढ़ना लाभदायक भी हो सकता है (जैसे किसी विदेशी भाषा के सीखने में)। परन्तु पाठशाला के शिशु के लिये साधारण अध्ययन तथा कार्य में उच्चस्वर से पढ़ना किसी प्रकार की विशेष सहायता नहीं देता वरन् सचमुच अड़चन बन जाता है। शिशुओं को यह शिक्षा देनी चाहिये कि पढ़ते समय वह शब्दों को नहीं वरन् वाक्य खण्डों तथा वाक्यों को देखने का प्रयत्न करें। यदि पठन उच्चस्वर में हो तो ऐसा करना सम्भव नहीं होता। समस्त प्रकार की भनभनाहट तथा ओठों का हिलना बन्द कर शिशुओं को मौन पठन की प्रशिक्षा देनी चाहिये। ऐसा करने पर उनकी प्रगति अत्यन्त बढ़ जायेगी।

कार्य द्वारा शिक्षा-प्राप्ति

हमें किसी वस्तु का तब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता जब तक कि हम उसका उपयोग न कर लें। हम सैद्धान्तिक अथवा अप्रयोगिक ज्ञान भले ही प्राप्त कर लें परन्तु जब तक स्वयं उसका उपयोग न करें, सत्यता हमारा अंग नहीं बनती और वास्तव में वह हमारी अपनी नहीं होती। ज्ञान का उपयोग करने पर ही वह सचमुच ग्रहण होता है और हमारे व्यक्तित्व का वास्तविक अंग बन जाता है। उदाहरणतः मैं किसी पुस्तक को पढ़कर उर्दू शब्द

'लगना' के अर्थ जान सकता हूँ, परन्तु जब तक मैं उसका प्रयोग वाक्यों और बोल-चाल अथवा लिखने में न करलूं, यह नहीं कहा जा सकता कि मैं सचमुच उस शब्द को जानता हूं। और हम जानते हैं कि इस विशेष उदाहरण में विचाराधीन शब्द के समस्त मुहावरेपूर्ण प्रयोगों को जानने में सचमुच बहुत अधिक समय लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शिक्षा-प्राप्ति की क्रिया पुस्तक से अथवा शिक्षक से उसकी बातें सुनकर, सैद्धान्तिक कार्य द्वारा आरम्भ कर सकते हैं। परन्तु जब तक हम इस शब्द का कार्यशीलतापूर्ण उपयोग उसके विभिन्न रूपों में न कर लेंगे शिक्षा-प्राप्ति की क्रिया कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती है। यह सिद्धान्त समस्त प्रकार की शिक्षा-प्राप्ति के लिये सत्य है।

शिशु प्रसन्नतापूर्वक उस समय शिक्षा-प्राप्ति करते हैं जब वह कार्यशील, विशेषकर सृजान्तमक रूप से कार्यशील होते हैं। कार्यशीलता ऐसी होनी चाहिये जो उनके लिये आकर्षक अर्थात उनकी योग्यता और स्वभाव तथा उनकी स्वतः भाविक प्रवृत्तियों की प्रबलता के अनुकूल हो। किन्तु ऐसी कार्यशीलता के फलस्वरूप सदैव बौद्धिक विकास होगा।

'मैं श्रवण द्वारा शिक्षा-प्राप्ति की अपेक्षा कार्य द्वारा शिक्षा-प्राप्ति की श्रेष्ठता का एक उदाहरण दूंगा। लगभग एक वर्ष पूर्व भिन्न सिखाने का एक सुन्दर यंत्र मेरी दृष्टि में आया और मुझे यह अधिकार दिया गया कि लन्दन की एक प्रारम्भिक पाठशाला में अनुसंधान कर उसकी उपयोगिता का परीक्षण करूं। एक बड़ी सम्मिलित पाठशाला चुनी गई जहां के मुख्य शिक्षक को गणित-सम्बन्धी शिक्षा में अत्यधिक रुचि थी। इस पाठशाला की वह कक्षायें, जिनमें भिन्नों को छुआ भी नहीं गया था, निम्नतम दो कक्षायें थीं, जिसमें लगभग आठ वर्ष के बालक और बालिकायें पढ़ते थे। जो शिशु तेज थे, उन सब को कक्षा 'ए' में रख दिया और जो बचे उनकी 'बी' कक्षा बना दी गई। छः मास तक दोनों कक्षायें भिन्नों की एक ही योजना पर एक समय तक प्रति सप्ताह कार्य करती रहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अध्ययन की परिस्थितियां यथा सम्भव समान थीं केवल अन्तर यह था कि कक्षा 'ए' (तेज कक्षा) को यंत्र के द्वारा शिक्षा दी जाती थी, जिसका उपयोग और विश्लेषण शिक्षक करता था, परन्तु कक्षा 'बी' (मन्दतर कक्षा) को आज्ञा थी कि भिन्नों को नापें, कागज़ के टुकड़े काटें, एक दूसरे पर रख कर उनकी

तुलना करें आदि-आदि। यह समझ लेना चाहिये कि प्रयुक्त यंत्र वास्तव में भिन्नों तथा सरल क्रियाओं को पूर्णत्या स्पष्ट करने वाला अति सुन्दर साधन था जिससे बढ़कर उपयोगी यंत्र की कल्पना नहीं की जा सकती। और फिर जब दोनों कक्षाओं का मैंने छः मास बाद परीक्षण किया तो कक्षा 'बी' कक्षा 'ए' से श्रेष्ठतर निकली। (एक में ५४ शिशु थे और दूसरे में ५२)। दस प्रश्न दिये गये थे उनमें से तीन में दोनों कक्षाओं ने समान अंक प्राप्त किये। दो में कक्षा 'ए' को अधिक अंक मिले और 'बी' कक्षा को पांच में अधिक अंक प्राप्त हुये। यद्यपि उच्चतर स्वाभाविक बुद्धि की श्रेष्ठता अत्यधिक थी परन्तु इस प्रतियोगिता में कार्य द्वारा शिक्षा-प्राप्ति की श्रेष्ठता के विरुद्ध पराजित हो गई।"[१]

कार्य द्वारा शिक्षा-प्राप्ति का यह सिद्धान्त शिशु के चिन्तन पर भी लागू होता है। जहां तक सम्भव हो हमें शिशु के स्थान पर चिन्तन करने से बचना चाहिये। अत्यधिक सहायता शिशु को अपने मस्तिष्क का क्रियाशीलतापूर्ण उपयोग करने से रोक देती है। वह धीरे-धीरे शिक्षक से अपने लिये चिन्तन करने की आदत में फंस जायेगा। शिक्षक बोलता जायेगा और वह बैठा रहेगा, क्योंकि वह जानता है कि आगे चल कर नोट लिखा दिये जायेंगे और उसका कार्य केवल यह है कि सारे नोट लिख ले। बाद में वह उन्हें 'याद' कर सकता है। यह वास्तविक शिक्षा-प्राप्ति नहीं है। शिशु केवल तभी शिक्षा-प्राप्ति कर सकता है जब उसका मस्तिष्क कार्यशील हो। जो भी पथ-प्रदर्शन हम करते हैं उसके द्वारा उसका मनो-वेगवर्धन होना चाहिये, लोप नहीं होना चाहिये।

हम जानते हैं कि यह तथ्य कितना सत्य है, कि यदि हमारे पास कोई शक्ति हो और हम उसका उपयोग न करें तो वह शक्ति लुप्त हो जाती है। हम जो शिक्षा प्राप्ति करते हैं, उसके लिये भी यह बात उतनी ही सत्य है। सैद्धांतिक रूप से हमने जो कुछ सीखा है, यदि हम उसका उपयोग न करें तो हम शीघ्र ही उसे भूल जाते हैं। इसका कारण यह है कि शिक्षा-प्राप्ति की क्रिया पूर्ण नहीं हुई। जो ज्ञान हम सीखते हैं, यदि उसे सचमुच स्वयं अपना

---

१. पी० बी० बैलर्ड—हैन्ड वर्क इज़ ऐन एजुकेशनल मीडियम—पृ० १०३-४ (एलेन ऐन्ड अन्विन)

बनाना है तो उपयोग तथा कार्य आवश्यक है। इस प्रकार कार्य द्वारा शिक्षा-प्राप्त का यह सिद्धान्त समस्त शिक्षा-प्राप्ति के लिये परमावश्यक है। यह एक उपाय मात्र नहीं, जिसके, हम जब मन चाहे केवल नवीनता के लिये उपयोग करे जा सकते हैं। वास्तव में यह शिक्षा-प्राप्ति क्रिया का एक अभिन्न अंग है जिसके बिना शिक्षा प्राप्ति पूर्ण नहीं होती।

तो, कार्यशीलता अथवा कार्य का अर्थ केवल शारीरिक कार्यशीलता नहीं है, यद्यपि सर्वप्रथम यही आती है। वरन् इसका अर्थ है (जैसा कि हम देख चुके हैं) बुद्धि तथा मनोभाव और अभिलाषा की कार्यशीलता। यदि शिष्य को अपने व्यक्तित्व के सभी अंगों का विकास करना है तो उसके लिये समस्त विधियों से कार्यशील होना और अपनी समस्त शक्तियों का उपयोग करना आवश्यक है।

शिक्षकों के लिये यह पूर्णत्या निश्चित कर लेना आवश्यक है कि उनके शिशु पाठशाला में जो कार्य करें उसमें उन्हें कोई न कोई उपयोग अवश्य दिखाई दे। शिशु को स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि अपनी शक्तियों का उपयोग करें तथा कार्यशील रहें। वह जो भी प्राप्त करते हैं, उसका उपयोग करना चाहते हैं। हम देख चुके हैं कि सभी में कार्यशीलता की एक सामान्य प्रेरक भावना, और किसी न किसी रूप में कार्यशील होने की आन्तरिक इच्छा वर्तमान रहती है। शिशु निरन्तर उन विधियों की खोज करते रहते हैं जिनके द्वारा वह अपनी शक्तियों का उपयोग कर सकें और अपनी कार्यशीलता सम्बन्धी विभिन्न जन्म जात स्वतः भाविक प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त कर सकें। ऐसी स्थिति में हमारा कार्य कठिन नहीं है। हमें प्रकृति के साथ चलना और कार्य शीलता सम्बन्धी स्वाभाविक इच्छा को कार्य करने के अवसर प्रदान करना है।

फिर भी, कार्यशीलता कभी भी उद्देश्य रहित नहीं होती। संभव है कि शिशु अपनी कार्यशीलता में निहित उद्देश्य का सदैव आभास न कर सके परन्तु उद्देश्य उसके पीछे भी है। जब वह बड़ा होता है तो आभास करता है कि उसके उद्देश्य हैं। वह उन उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहता है। वह जो कुछ करता है उसका उपयोग समझना चाहता है। यदि उसे उसका कोई उपयोग नहीं दिखाई पड़ता तो उसकी रुचि लुप्त हो जाती है, और उसे उस कार्य करने के लिये डांटना-डपटना या बाध्य करना पड़ता है। इस रूप से बड़े

और शिशु दोनों समान हैं क्योंकि वह जो कुछ कार्य करते हैं, चाहते हैं, उसका कोई उपयोग दिखाई दे।

'कुछ वर्ष पूर्व एक व्यक्ति ने अनुसंधान करने के लिये कुछ पुरुषों को अच्छे वेतन पर लगाया कि एक घेरे के एक कोने में चट्टानों का ढेर लगाते जायें, फिर इसको बिगाड़ कर चट्टानें किसी दूसरे स्थान पर ढेर कर दें, उसके पश्चात फिर पहले ढेर को तैय्यार करें और फिर दूसरे को आदि आदि...। थोड़े ही समय में सबने नोटिस दे दिया। अनुपयोगिता की जो छाप कार्य के संग लगी हुई थी, वेतन द्वारा भी उसकी क्षति पूर्ति नहीं हो सकी।

व्यर्थता की यह भावना संभवतः सभी ऐसे अध्ययन के संग अवश्य रहेगी जिसमें नव प्राप्त ज्ञान का कोई उपयोग प्रतीत न होगा। हमारी सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था में एक दोष यह है कि कठिनाई से प्राप्त सूचना को किसी व्यवहारिक उद्देश्य में कार्यान्वित करने के अवसर शिष्यों से कोसों दूर रहते हैं। इस दोष को मिटाने के लिये हमें ऐसे...अवसरों की खोज करनी चाहिये जब कि हम नये ज्ञान का उपयोग कर सकें।[1]

अभी तक हमें दो सिद्धान्त प्राप्त हुये हैं। प्रथम यह कि कोई भी शिक्षा-प्राप्ति कार्यशीलता पूर्वक प्रयुक्त हुये बिना पूर्ण नहीं होती। दूसरे यह कि यदि उसका सफलतापूर्वक उपयोग किया जाता है तो हमारे कार्य का कोई उद्देश्य होना चाहिये, और वह उद्देश्य ऐसा हो कि हमें उसका ज्ञान रहे।

हम विषय पर शिक्षा-प्राप्ति की व्यवहार विधियों पर विचार करते समय दूसरे दृष्टिकोण से विचार कर चुके हैं। हमने देखा था कि शिक्षा-प्राप्ति के लिये तत्परता होनी चाहिये, यह उद्देश्य है। हमने देखा था कि एक उपयोग सम्बन्धी व्यवहार विधि है और उसकी उल्टी अनुपयोग सम्बन्धी व्यवहार विधि है, जिनसे हमको यह पता चलता है कि यदि यथार्थ शिक्षा-प्राप्ति होनी है तो कार्यशीलता अवश्य उत्पन्न होनी चाहिये।

शिक्षक की मुख्य समस्या सदैव यही होती है कि रुचि किस प्रकार उत्पन्न करे। शिक्षक सदैव ऐसी पद्धतियों की खोज में रहते हैं जो उनके कार्य को रुचिपूर्ण बनाने में सहायता दे सकें। फिर, रुचि इच्छा पर निर्भर करती है और

---

१. प्रिन्ज हॉपकिन्स—एड्स टु सक्सेसफुल स्टडी, पृ० १५३
(एलेन ऐन्ड अन्विन)

इच्छा स्वयं उद्देश्य पर निर्भर करती है। वास्तव में इच्छा और उद्देश्य एक ही मनोवैज्ञानिक स्थिति को देखने के दो भिन्न ढंग हैं। जब हम किसी वस्तु की इच्छा करते हैं तो उसे प्राप्त करना हमारा उद्देश्य होता है। जब हम इच्छा करते हैं तो प्राप्ति की योजना तैयार करते हैं। किसी उद्देश्य को कार्यान्वित करना किसी इच्छा की पूर्ति है। इस प्रकार यदि हम शिशुओं की इच्छाओं तथा उद्देश्यों का उपयोग कर सकते हैं तो हमारी रुचि की समस्या का समाधान हो जाता है। इस प्रकार समस्त यथार्थ शिक्षा-प्राप्ति, अर्थात कार्य द्वारा शिक्षा-प्राप्ति में शिशुओं के उद्देश्य का बहुत बड़ा भाग होगा और होना चाहिये। यदि हम शिशुओं की इच्छाओं तथा उनके उद्देश्यों से आरम्भ कर सकते हैं तो जहाँ तक शिक्षा-प्राप्ति का सम्बन्ध है, परिस्थितियाँ हमारे अनुकूल रहेंगी।

इस तथ्य-विन्दु पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह बात तो सभी के लिये स्पष्ट है कि हमें उस चीज के सीखने में बड़ा उत्साह होता है जिनसे हमें किसी उद्देश्य की पूर्ति में सहायता मिलती हो। इस सम्बन्ध में शिशु और बड़े एक समान हैं। इसलिये हमारी पद्धति शिशुओं के उद्देश्यों पर आधारित होनी चाहिये। यदि शिशु स्वयं अपने उद्देश्य को कार्यान्वित कर रहे हों, तो उनके द्वारा कार्यशीलता तथा परिश्रम का होना निश्चित हो जाता है। यदि वह कोई कार्य केवल इसलिये कर रहे हों कि उन्हें शिक्षक के किसी उद्देश्य को कार्यान्वित करना है जिसमें स्वयं उनकी कोई रुचि नहीं है, तो कार्यशीलता भी अत्यन्त कम होगी और अत्यन्त कम वास्तविक शिक्षा-प्राप्ति होगी। शिष्यों के उद्देश्यों के उपयोग का अर्थ है, शिष्य की कार्यशीलता। उनकी अवहेलना का अर्थ है, शिष्यों द्वारा अकर्मण्यता तथा शिक्षा-प्राप्ति का अभाव, जैसा कि बहुधा ही देखने में आता है।

"बहुत से पाठ उस पथप्रदर्शक के समान होते हैं जो किसी यात्रा के इच्छुक को किसी यात्रा का वर्णन करता जाता है और यात्री बैठा सुनता रहता है परन्तु यात्रा आरम्भ करने के लिये नहीं उठता। कुछ पाठ ऐसे होते हैं जिनमें पथप्रदर्शक स्वयं कठिन परिश्रम कर बारम्बार यात्रा करता है परन्तु जिसे यात्री बनना चाहिये वह निश्चल बैठा रहता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि किसी पाठ की चाहे कितनी ही सुन्दर योजना क्यों न हो, परन्तु जब तक शिष्य अपने लिये निर्मित मार्ग पर स्वयं अपने परिश्रम द्वारा न चलें, तो

कोई भी यथार्थ नियमित शिक्षण नहीं हो सकता। और हम यह भी कह सकते हैं कि शिक्षा प्राप्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है, यथार्थ शिक्षण किसी दूसरे की शिक्षा-प्राप्ति सम्बन्धी कार्यशीलता को जागृत तथा पथ-प्रदर्शित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"[1]

जैसा कि हम कह चुके हैं, यह कार्यशीलता शारीरिक कार्यशीलता ही तक सीमित नहीं है। जब हम कार्य द्वारा शिक्षा-प्राप्ति करते हैं, तो एक ही शक्ति नहीं, वरन् अपनी सभी शक्तियों का उपयोग करते हैं। उदाहरणतः हम चित्रों का मूल्यांकन करना स्वयं रेखांकन की चेष्टा कर सीखते हैं, हम अनुभव करने की शिक्षा स्वयं अनुभव कर, उदाहरणतः किसी नाटक में अभिनय करते समय, प्राप्त करते हैं। हम उत्तम कविता का गुणग्रहण करना स्वयं कविता रचने का प्रयास कर सीखते हैं। उत्तम गद्य का गुणग्रहण भी हम इसी प्रकार करते हैं। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्तम गद्य लिखना हम, केवल पढ़कर नहीं, वरन् स्वयं लिखकर सीखते हैं। हम रेखाकन करने की शिक्षा चित्रों को देखने से नहीं वरन् स्वयं रेखाकन कर प्राप्त करते हैं। इसके अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं कि हम अपने साधारण दैनिक जीवन में किस प्रकार कार्य द्वारा शिक्षा-प्राप्ति करते हैं। शिक्षा-प्राप्ति एक कार्यशीलतापूर्ण क्रिया है, जिसमें हम ज्ञान को लेते हैं, उसे समझते हैं, व्यवस्थित करते हैं और उसका उपयोग करते हैं। यथार्थ शिक्षा-प्राप्ति में किसी प्रकार की अकर्मण्यता नहीं होती। हम जो कुछ ग्रहण करते हैं, उसकी जितनी अधिक अभिव्यक्ति करेंगे, उतना ही अधिक सम्पूर्ण शिक्षा-प्राप्ति की क्रिया का मनोवेगवर्धन होता है।

"एक सम्बन्धित तथ्य यह भी है कि हमारी स्मृति अंशतः मासपेशिक होती है। मनोवैज्ञानिक अनुसंधानालय में एक अनुसंधान किया जाता है जिसमें किसी व्यक्ति की आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती है, और उसके शरीर के अंग भिन्न-भिन्न स्थितियों में रखे जाते हैं। फिर यह देखा जाता है कि वह कहाँ तक उन स्थितियों की पुनरावृत्ति कर सकता है। देखा गया है कि यदि अनुसंधानाधीन व्यक्ति पूर्णत्या अकर्मण्य है और अंगों के रखने में कोई भाग नहीं लेता तो उसे प्रत्येक अंग की स्थिति के सम्बन्ध में अनिश्चित सा ही अनुमान होता

---

१. जे० वेल्टन, प्रिन्सिपुल्ज ऐण्ड मेथड्ज ऑव टीचिंग पृ० ५२-३ (यू० टी० पी०)

है और वह उस स्थिति की ठीक-ठीक पुनरावृत्ति नहीं कर सकता। फिर भी, यदि वह अंगों के रखने में प्रतिरोध अथवा सहायता करता है तो उसे पता रहता है कि क्या-क्या हुआ है और वह उसकी पुनरावृत्ति कर सकता है। यही कारण है कि जब हम नोट लिखकर, शिक्षा प्राप्ति की क्रिया में अपनी मांस-पेशियों को भी सम्मिलित कराते हैं, अथवा उससे भी बढ़कर जब हम अनु-संधानालय में अनुसंधान करते हैं, तो अपनी पुस्तकों तथा भाषणों द्वारा प्राप्त हमारे विचार और गहरे हो जाते हैं। वास्तव में स्मृतियाँ गतिशील होती हैं। जैसा कि डा० मेस ने कहा है 'अनेकों कारणों से हमें यह कहने का प्रलोभन मिलता है कि स्मृति का आसन मस्तिष्क में नहीं वरन् मांसपेशिक संस्थान में है। कम से कम, वह हमारे स्वभाव के प्राप्ति-सम्बन्धी अंग में इतनी अधिक आसन्न नहीं है जितनी कि उसके प्रतिवादनात्मक अंग में। हम कार्य द्वारा शिक्षा-प्राप्ति करते हैं'।"[1]

हम देख चुके हैं कि उद्देश्य किस प्रकार शिशुओं को उनके शिक्षा-प्राप्ति में सहायता देता है। अब हम कुछ और गम्भीर परीक्षण द्वारा पता लगायेंगे कि कार्यशीलतापूर्ण शिक्षा-प्राप्ति तथा रुचि के मनोवेगवर्धन में, जिसके फल-स्वरूप कार्यशीलता निश्चित हो जाये, उद्देश्य का भाग क्या रहता है।

किसी भी उद्देश्यपूर्ण कार्य में पाँच उपक्रम होते हैं। सर्वप्रथम शिशु अपने उद्देश्य का निर्माण करता है। वह किसी वस्तु की इच्छा करता है और उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये उद्देश्य का निर्माण करता है। बालक एक पंतग चाहता है। तब वह निर्णय करता है कि उस चीज को बनायेगा, और फिर उस वस्तु को प्राप्त करने के उद्देश्य का निर्माण करता है। अब उद्देश्य ही उसकी कार्यशीलता को निर्धारित करेगा।

दूसरे, शिशु योजना बनाता है। वह जानता है कि वह क्या करना चाहता है परन्तु उसको प्राप्त करने के लिये अपनी योजनायें बनाता है। वह पतंग प्राप्त करने जा रहा है। उसे आवश्यक सामग्री प्राप्त करने और उस सामग्री को जोड़ने की विधि खोजने के लिये अपनी योजनायें तैयार करनी होंगी।

तीसरे, वह अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करता है। पतंग की सामग्री

---

१. प्रिन्ज हापकिन्स, एड्स टु सकसेसफुल स्टडी, पृ० १५४ (एलेन ऐण्ड अन्विन)

प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसे उसको जोड़ना होगा।

चौथे, वह निर्णय करता है कि उसके प्रयास सफल हुये अथवा नहीं। वह उस कार्य का व्यवहारिक परीक्षण करता है और पता लगाता है कि उसने जो कुछ किया है, उसके उद्देश्य के अनुसार ठीक है अथवा नहीं। हो सकता है कि पतंग बिल्कुल ही न उड़े। हो सकता है आधी-पधी उड़े। हो सकता है खूब उड़े। परन्तु अपनी पतंग के साथ वह जो कुछ भी कर सकता है, उसी के आधार पर अपने कार्य का मूल्य-निर्णय करता है।

पांचवें, वह पता लगाता है कि उसने त्रुटियां कहां की हैं और फिर उन्हें शुद्ध करने की चेष्टा करता है। हो सकता है उसे यह आभास हो कि उसे कुछ परामर्श और सहायता की आवश्यकता है और वह उसे प्राप्त करने के लिये उठ खड़ा होता है, और इस प्रकार यह पता लगाने लगता है कि उससे त्रुटि कहाँ हुई। हो सकता है वह स्वयं देख ले कि उससे त्रुटि कहाँ हुई और स्वयं उसे शुद्ध कर सके। अर्थ यह कि वह किसी न किसी प्रकार अपनी त्रुटि खोज कर उसे शुद्ध कर लेता है।

इस पूरी क्रिया में बालक सक्रिय मानसिक तथा शारीरिक कार्य करता रहा है। उसकी शिक्षा-प्राप्ति यथार्थ रही और वास्तविकता से सम्बद्ध रही है क्योंकि उसका कोई ऐसा निकालना था जो व्यवहार मे आ सके। यह कोई सैद्धान्तिक प्रश्न नहीं था, वरन् उसका व्यवहारिक परीक्षण हो रहा था।

वह पद्धति जिसमें शिक्षा-प्राप्ति की इस क्रिया का उपयोग होता है, साधारणतः परियोजना पद्धति कहलाती है, जिस पर हम अध्याय २ खण्ड २ में विचार कर चुके हैं। वास्तव में यह कोई पद्धति नहीं है। वस्तुतः यह समस्त शिक्षा कार्य के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण के लिये एक सहअर्थी शब्द है। उसके मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं।

परियोजना पद्धति में शिक्षक शिशु द्वारा अनुभावित आवश्यकताओं का प्रयोग करता है और इस प्रकार इन आवश्यकताओं के पूरक उद्देश्यों का भी उपयोग करता है। परियोजना पद्धति किसी वास्तविक उद्देश्य द्वारा उत्पन्न प्रेरक-उद्देश्य तथा रुचि बल का लाभ उठाती है। इस प्रकार यह पद्धति शिशुओं के उद्देश्यों से लाभ उठाने का प्रयत्न करती है।

जब शिष्य कोई आवश्यकता अनुभव करते हैं और उसकी पूर्त्ति करने का निर्णय करते हैं, तो उन्हें आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहन मिलता है। तब या

तो पूरी कक्षा उस परियोजना (अर्थात् उद्देश्य को कार्यान्वित करने के कार्य) को स्वीकार कर लेती है नहीं तो कक्षा को समूहों में विभक्त किया जा सकता है, जिनमें से प्रत्येक को एक परियोजना कार्यान्वित करनी होगी।

प्रत्येक समूह तब उन पांचों उपक्रमों से होकर आगे बढ़ता है, जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। अपनी परियोजना स्वीकार कर लेने के पश्चात्, सर्वप्रथम वह अपनी योजनायें तैयार करते और निर्णय करते हैं कि वह ठीक-ठीक क्या करने जा रहे हैं। उन्हें पता चलेगा कि अपने उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिये उन्हें कुछ वस्तुओं अथवा कुछ ज्ञान की आवश्यकता होगी जो उन्हें प्राप्त नहीं है। तब उन्हें इस ज्ञान को प्राप्त करना या इन वस्तुओं को बनाना पड़ेगा। उदाहरणतः हो सकता है कि उन्हें पाठशाला की किसी सम्पत्ति का उपयोग करने के लिये आज्ञा लेनी पड़े, और मुख्य शिक्षक के नाम प्रार्थना पत्र लिखने की शिक्षा प्राप्त करनी पड़े। हो सकता है, उन्हें ऐसा हिसाब लगाना पड़े, जिसका लगाना वह नहीं जानते और इसलिये उन्हें अङ्कगणित के कुछ नियम सीखने पड़ेंगे। इस प्रकार अपने उद्देश्य को कार्यान्वित करने में वह ज्ञान प्राप्त करेंगे और बहुत से कार्य करना सीख लेंगे।

अन्त में, कार्य आरम्भ होता है, और जैसे-जैसे वह चलता जाता है अनेकों निपुणतायें बीच में आती जाती हैं और पर्याप्त मात्रा में ज्ञान ग्रहण हो जाता है। इसी के साथ केन्द्रीय कार्यशीलता समस्त कार्यों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करती है और उनको यथार्थ जीवन से सम्बद्ध भी करती है। शिशु कार्यशीलता-पूर्वक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं क्योंकि वह एक ऐसी चीज कर रहे हैं, जिसकी उन्हें सचमुच आवश्यकता है और जिसमें, इसी कारण, उन्हें उपयोगिता दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त उनकी समस्त शिक्षा-प्राप्ति कार्यशीलता पूर्ण होती है, चाहे वह ज्ञान का ग्रहण करना हो अथवा किसी कार्य में निपुणता प्राप्त करना हो। उनकी शिक्षा-प्राप्ति का भी यथार्थ द्वारा परीक्षण हो जाता है। वह स्वयं देख सकते हैं कि वह जो कुछ कर रहे हैं, सचमुच ठीक है, अथवा नहीं और उसके द्वारा उन्हें वही फल प्राप्त होगा जिसकी उन्हें इच्छा है, अथवा कुछ और होगा। वह अपनी त्रुटियों को स्वयं अथवा परामर्श द्वारा प्राप्त कर शुद्ध करसकते हैं।

इस कार्य प्रणाली में कभी-कभी रुचि का अभाव नहीं होता। रुचि चल रहे कार्य में निहित उद्देश्य के कारण मौलिक होती है। इसी कारण शिक्षा-

प्राप्ति कार्यशीलतापूर्ण, फलतः वास्तविक है।

यह दावा नहीं किया जाता कि पाठ्यक्रम के सभी विषयों की इस पद्धति द्वारा शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। परन्तु प्रारम्भिक पाठशालाओं का बहुत कुछ साधारण कार्य इस विधि से किया जा सकता है। हो सकता है इसमें पाठ्यक्रम द्वारा निर्धारित तार्किक क्रम का पालन न हो सके, वरन् जैसा कि हम देख चुके हैं, हमारा दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक होना चाहिये। तर्कशास्त्र बीच में उस समय आ सकता है, जब निर्दर्शन किया जाने वाला हो। इस पद्धति का उपयोग करते हुये शिक्षकों को निरन्तर चौकस रहना पड़ेगा कि प्रयुक्त परियोजनाएं उपयोग के कोई आवश्यक विषय अथवा किसी विषय का कोई भाग छूट न जाये और यदि ऐसा हो तो उन रिक्तियों की पूर्ति करनी पड़ेगी।

शिशुओं द्वारा अपनी ऐसी आवश्यकताओं का पता लगवाना, जिन्हें उपयोगी परियोजनाएं बनाई जा सकें, कभी-कभी कठिन होगा। विशेषकर, जो लोग इस पद्धति को कार्य प्रणाली से भली-भाति परिचित नहीं हैं, उनके लिये और भी कठिन होगा। इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि शिक्षक जो स्वयं उस समूह का सदस्य है, ऐसी स्थिति में अपने शिशुओं से विचारों की ओर संकेत कर दे और उनसे वाद-विवाद करके कोई परियोजना निकाल ले। केवल सावधानी यह रखनी चाहिये कि वह उन्हें कोई ऐसी परियोजना स्वीकार करने के लिये बाध्य न करे, जिसकी वह स्वयं आवश्यकता न समझते हों। यदि ऐसा किया गया तो पद्धति अपनी प्रेरक शक्ति से वंचित हो जाती है और चूंकि उद्देश्य को शिशु स्वयं अपना नहीं समझते, इसलिये उसमें कोई बल शेष नहीं रहता। परन्तु एक ऐसी कक्षा जिसकी कोई आवश्यकतायें प्रतीत नहीं होतीं, उसमें धीरे-धीरे यह भावना उत्पन्न कर देना कदाचित ही असम्भव होगा कि कुछ वस्तुओं की आवश्यकता है और कक्षा उन्हें करना या बनाना चाहेगी।

परियोजना में एक गुण यह भी है कि प्रारम्भिक कक्षाओं में कोई न कोई शारीरिक अथवा हस्तकला कार्य उसका केन्द्र होता है। चाहे कमरा बनाना हो चाहे तरकारियां बोना अथवा डाकघर बनाना या लिफाफे तैयार करना परन्तु केन्द्र में सदैव इसी प्रकार की कोई न कोई कार्यशीलता अवश्य रहेगी। और इस प्रकार शिक्षक को इस योग्य बना देगी कि वह अपने समस्त कार्य को इस कार्यशीलता केन्द्र से सम्बद्ध कर सके। परियोजनायें लम्बी हो सकती हैं जिन्हें

कार्यान्वित करने में पूरा वर्ष-खण्ड या पूरा वर्ष लग सकता है। परियोजनाएं छोटी भी हो सकती हैं जिनमें एक या दो सप्ताह ही लगेगा। दोनों ही समान उपयोगी हैं।

थकन

जिस समय हम शिक्षा-प्राप्ति की समस्या और उन पद्धतियों के सम्बन्ध में, जिनका उपयोग करने की हमें अपने शिष्यों को शिक्षा देनी चाहिये, विचार करते हैं तो हमारे लिये थकन की समस्या को ध्यान में रखना अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। वास्तव में यह हमारे समस्त शिक्षण कार्य के लिये आवश्यक है।

थकन पर हम दो दृष्टियों से विचार कर सकते हैं; शारीरिक थकन तथा मानसिक थकन। इसके अतिरिक्त स्नायुक थकन भी होती है जो किसी चिकित्सक (डाक्टर) अथवा मनोविज्ञानाचार्य के योग्य विषय है, और इसी कारण शिक्षक के कार्य-क्षेत्र से बाहर है, उसे केवल इस योग्य होना चाहिये कि इस थकन को पहचान सके। शारीरिक थकन वह थकन है जो शारीरिक परिश्रम से उत्पन्न होती है और मानसिक थकन मानसिक परिश्रम द्वारा उत्पन्न होती है। दूसरी थकन, वास्तव में शारीरिक थकन, रुचि के अभाव तथा उकताहट की भावना का योग है। यह शारीरिक थकन उन मासपेशियों की थकन द्वारा उत्पन्न होती है जिनका मानसिक परिश्रम के करने में उपयोग होता है जैसे आंख सिर और गर्दन की मांसपेशियाँ। इसका यह अर्थ है कि जिस चीज को हम मानसिक थकन कहते हैं बहुधा उसका कारण यह नहीं होता कि हम अपने कार्य द्वारा थक गये हैं, वरन् यह कि हम अपने कार्य से थक गये हैं।[1]

थकन मांसपेशियों में मल पदार्थों (विष) के एकत्रित हो जाने से उत्पन्न

---

१. कुछ विशेषज्ञों का मत है कि मानसिक थकन इस कारण उत्पन्न होती है कि स्नायु-अणुकोष्ठों की शक्ति व्यय होती रहती है और उनके भीतर मल पदार्थ (टाकसिन) तैयार तथा एकत्रित होते रहते हैं। इसी प्रकार कुछ विशेषज्ञों का मत है कि समस्त थकन, चाहे उसे हम शारीरिक कहें अथवा मानसिक, मल पदार्थों के मांसपेशियों तथा स्नायु दानों में एकत्रित हो जाने ही से उत्पन्न होती है। इस प्रकार उसका मौलिक स्वरूप यह है कि प्रवाह मार्गों में, जहाँ एक स्नायु दूसरे स्नायु से जुड़ती है, अर्थात् जोड़ों पर रुकावट पड़ जाती है।

होती है। विष-पदार्थों का जितने समय में निराकरण होता है, कार्य होने के कारण उससे कहीं अधिक शीघ्रता से वह तैयार हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि विष एकत्रित हो जाते हैं। इस प्रकार हमें थकन का आभास होता है और विश्राम न मिले तो हम कार्य नहीं कर सकते। इस सिद्धान्त के अनुसार कि यह विष स्नायुओं तथा मांसपेशियों में एकत्रित हो जाते हैं, उनका प्रभाव मांसपेशियों को नियंत्रित रखने वाले मनोकेन्द्रों पर पड़ता है, जिसके फलस्वरूप वह अपना कार्य ठीक से नहीं कर सकते और तब यह मनो-अणुकोष्ठ थकन की भावना उत्पन्न कर देते हैं। इस दृष्टि से समस्त थकन वास्तव में स्नायु संस्थान की थकन होती है।

फिर भी, अपने कार्य के लिये हम थकन को शारीरिक थकन तथा मानसिक थकन द्वारा उत्पन्न थकन में बाँट सकते हैं, यद्यपि सम्भव है कि थकन स्वयं एक ही प्राकृतिक स्थित हो, वह चाहे शारीरिक परिश्रम द्वारा उत्पन्न हो अथवा मानसिक परिश्रम द्वारा।

(क) थकन के शारीरिक कारण—१ मांसपेशियों तथा स्नायुओं की थकन मलपदार्थों के अधिक मात्रा में होने का फल है। इसका कारण यह होता है कि सम्बन्धित मांसपेशियों का, पर्याप्त विश्राम समय के बिना, अत्यधिक उपयोग होता है। बुरे ढंग से बैठने, लम्बे समय तक कष्टदायक स्थिति में बैठने, कष्टदायक स्थिति में पुस्तक पकड़ने, या लिखने, लम्बे समय तक खेल खेलने अथवा व्यायाम करने या किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम अत्यधिक समय तक कार्य करने के फलस्वरूप थकन उत्पन्न हो सकती है। ऐसे कारणों से उत्पन्न थकन की चिकित्सा यह है कि पाठशाला में बैठने-उठने में आराम पर ध्यान दिया जाये। पर्याप्त विश्राम के घन्टे हों और कड़े व्यायाम अथवा कार्य के घन्टों को शिशु की अवस्था तथा शक्ति के अनुसार उचित रूप से व्यवस्थित करने पर ध्यान दिया जाये।

"बहुत से लोग अपने स्थान पर यह समझ बैठे हैं कि एक स्थिति में बैठने या खड़ा होने के लिये किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। वास्तव में इसके लिये बहुत अधिक शक्ति का व्यय करना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप शीघ्रस्थानीय थकन तथा सम्बन्धित व्यक्ति के मन में तीव्र झुंझलाहट उत्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से, ऐसे शिक्षक की कार्यरीतियाँ, जिसे आदर्श अनुशासक माना जाता था पूर्णत्या अनुचित होती थीं। यह कोई अच्छी रीति नहीं है कि

शिष्यों की कक्षाओं को एक पंक्ति में खड़ा रखा जाये या तीस-तीस पैंतीस-पैंतीस मिनट के घन्टों में पीठ के पीछे हाथ करके तीर की भाँति सीधे बिठाये रखा जाये। लघु शिशुओं के लिये तो यह यातना मात्र है। जब शिशुओं को बिठाना आवश्यक हो (उदाहरणतः मौखिक पाठ के लिये) तो उन्हें पहले आराम से अपनी सुविधा के अनुसार बैठ जाने देना चाहिये और समय-समय पर उन्हें अपना आसन बदलने का उचित अवसर भी प्रदान करना चाहिये।"[१]

२. वायु के आवगमन का अनुचित प्रबन्ध—थकन का एक सामान्य कारण होता है और इसे सहज ही ठीक किया जा सकता है। वायु के आवागमन के अनुचित प्रबन्ध के फलस्वरूप डर यह रहता है कि जिस कमरे में शिशु कार्य कर रहे हैं, वहाँ वायु का आवागमन नहीं होता। बात यह नहीं है कि वायु व्यय अथवा दूषित हो जाती, केवल उसका आवागमन नहीं होता।

"थकन तथा अयोग्यता का महत्वपूर्ण कारण वायु-गतिरोध है।...इसकी सर्वत्र चिकित्सा वायु आवागमन से ही होती है। इस तथ्य के भीतर वह खोज निहित है जिसके द्वारा सिद्ध हो गया है कि वायु के आवागमन के उचित प्रबन्ध का उद्देश्य शरीर के अतिरिक्त ताप को बाहर निकालना है और गतिरुद्ध वायु से किसी रसायनिक परिवर्तन का डर नहीं रहता, केवल उसकी ठण्डा होने की शक्ति घट जाती है।"[२]

वायु के आवागमन के अनुचित प्रबन्ध को ठीक करने की विधियाँ स्पष्ट हैं। वायु के आवागमन के उचित प्रबन्ध की आवश्यकता को भी खुले मैदान की पाठशालायें खोलने या कम से कम अधिकतम कार्य खुले में करने के लिये तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विशेषकर ग्रीष्म काल में थकन कम करने के लिये खुले में वृक्षों की छाया में कार्य करना लाभदायक है, जहाँ वायु का आवागमन अधिक से अधिक होता है।

३. प्रकाश का अभाव—थकन उत्पन्न करने वाला यह दूसरा कारण है। देखा गया है कि औद्योगिक प्रतिष्ठानों में प्रकाश का अभाव उत्पादन को सीधे सीधे घटा देता है। यह रद्दी माल की मात्रा तथा कार्य का बोझ बढ़ा

---

१. ए० पिन्सेन्ट—दि प्रिन्सिपुल्ज़ ऑव् टीचिन्ग मेथड पृ० ८१ (हैरप)

२. सी० एस० मायर्स—इण्डस्ट्रियल साइकालोजी —पृ० ४५ (होम युनिवर्सिटी लाइब्रेरी)

देता है। यही बात पाठशाला के लिये भी सत्य है। प्रकाश पर्याप्त मात्रा में तथा इस प्रकार से आना चाहिये कि जो प्रकाश भीतर आये शिशु उसका पूरा-पूरा लाभ उठा सकें। यह एक ऐसी समस्या है जिस पर ध्यान देना इन स्थानों पर विशेष रूप से आवश्यक है जहाँ पाठशालाओं में संध्या समय अध्ययन की व्यवस्था की जाती है और जहाँ शिक्षक विद्यार्थियों के लिये घर पर कार्य करते समय प्रकाश की व्यवस्था में सुधार करने का सुझाव दे सकते हैं। निस्सन्देह, यह बात प्रारम्भिक पाठशाला के शिष्यों के लिये नहीं होती। प्रारम्भिक पाठशालाओं में शिक्षक को पाठशाला के कमरे में प्रकाश की व्यवस्था करनी पड़ती है।

४. **कोलाहल**—औद्योगिक प्रतिष्ठानों में किये गये अनुसन्धानों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि कोलाहल भी थकन का एक कारण है। बहुधा यह एक ऐसी समस्या होती है जिसके विषय में पाठशाला और शिक्षक कुछ नहीं कर सकते। पाठशाला के बाहर जो हल्ला होता है, विशेषकर नगर पाठशालाओं में, साधारणतः उसे रोकने के लिये कुछ नहीं किया जा सकता है। जहाँ कुछ भी करना सम्भव हो, शिक्षक को उस पर ध्यान अवश्य देना चाहिये। हम कोलाहल के आदी हो जाते हैं और उसके प्रभाव के प्रति अचेत रहते हैं। परन्तु स्वयं पाठशाला में होने वाले कोलाहल को ठीक किया जा सकता है। जब एक कक्षा उच्च स्वर में तथा हल्ला करते हुये पढ़ रही हो और उसी कमरे में अथवा उसी दीवाल के पीछे दूसरी कक्षा कार्य करने की चेष्टा करे तो, और कुछ हो अथवा न हो, थकन अवश्य होगी। कहा गया है कि विशेष प्रकार का हल्ला सुन कर सदैव ही पता चल जाता है कि प्रारम्भिक पाठशाला निकट है। इस कोलाहल की अधिकतर मात्रा पूर्णतया अनावश्यक होती है और शिक्षकों को प्रबंध करना चाहिये कि यह कोलाहल न्यूनतम रह जाये। दूसरी ओर थकन उस समय भी उत्पन्न होती है जब आवश्यक ध्वनियाँ आवश्यकता के अनुसार उच्च नहीं होतीं। शिक्षक जो कुछ कहता है, अथवा दूसरे शिशु उत्तर देते समय क्या कह रहे हैं, उसे सुनने के लिये यदि शिशुओं को जोर लगाना पड़े तो थकन अवश्य उत्पन्न होगी।

५. **शारीरिक दुर्बलता**—थकन बहुधा शारीरिक दुर्बलता अथवा व्याधि के कारण भी उत्पन्न होती है। व्याधि के आरम्भ मे यह बात विशेष रूप से देखने में आती है। भारत ऐसे देश में, जहाँ शिशु ज्वर से इतना अधिक

पीड़ित रहते हैं, व्याधि थकन का बहुत बड़ा कारण होती है। शिक्षक को यथा शक्ति ध्यान रखना चाहिये कि जो शिशु पीड़ित, अथवा व्यथित अथवा क्रमशः रोग मुक्त होते प्रतीत हों, उन्हें अपने ऊपर अधिक बोझ न लादने दिया जाये।

६. **ऋतु**—भारत में हमें सदैव ही ग्रीष्म काल को ध्यान में रखना चाहिये। सभी इस तथ्य को भली-भांति जानते हैं और उसकी ओर केवल संकेत करना ही पर्याप्त होगा। परन्तु ग्रीष्म काल में घन्टे छोटे हों और विश्राम जल्दी-जल्दी होना चाहिये। यदि कार्य बाहर नहीं किया जा सकता तो सम्भव होने पर पंखे आदि का अवश्य प्रबंध होना चाहिये जिसमें वायु का आवागमन हो सके।

(ख) थकन के मानसिक कारण—१. ऊपर हम थकन के जिन शारीरिक कारणों पर विचार कर चुके हैं, यदि उनमें से किसी कारण के द्वारा शिशु में थकन उत्पन्न होती है, तो उसका प्रभाव उसकी मनोस्थिति पर भी पड़ेगा, और मुख्यतः कल्पना स्वयं मस्तिष्क तक पहुँच सकता है। इसीलिये शारीरिक कारणों पर विचार करने का महत्व होता है।

२. जब शिशु अपनी स्वतः भाविक इच्छाओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न कर रहा हो तो बीच में विघ्न डाल देने से भी थकन उत्पन्न हो सकती है। यदि कोई शिशु किसी विशेष दिशा में कार्यशील होना चाहता है और किसी कारण कार्यशील नहीं हो सकता तो उसके फलस्वरूप एक मनोभाविक प्रभाव उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा थकन उत्पन्न होता है। पाठशालाओं में कार्यशीलता के पक्ष में यह तथ्य भी प्रस्तुत किया जाता है।

३. उकताहट तथा रुचि के अभाव द्वारा भी थकन उत्पन्न होती है। हमें जिस वस्तु में रुचि न हो, उससे हम शीघ्र ही ऊब जाते हैं। यदि अपने को कोई ऐसा कार्य करने के लिये बाध्य कर दें, जो अरोचक हो और जिसमें हमें किन्चित मात्र भी रुचि न हो तो किसी ऐसे कार्य की अपेक्षा जिसमें हमे गूढ़ रुचि हो, थकन शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि साधारणतः यह **'के द्वारा** ऊब जाने' की अपेक्षा **'से** ऊब जाने' की समस्या होती है। फिर भी प्रभाव दोनों अवस्थाओं में लगभग एक ही होता है।

इसको ठीक करने की विधि यह है कि व्यस्तता-कार्य में परिवर्तन अथवा शिक्षण या शिक्षा-प्राप्ति की पद्धतियों में अदल-बदल किया जाये। पाठ-

शाला में थकन पाठ की लम्बाई, विषय की क्रम-व्यवस्था और शारीरिक कारणों (जिन पर हम विचार कर चुके हैं) पर निर्भर करती है।

हमें इस पुराने विचार से सावधान रहना चाहिये कि कार्य मे परिवर्तन विश्राम के समान है। यह एक भ्रान्ति है। यदि कोई मनुष्य वास्तव मे थक गया है ता व्यस्तता-कार्य में परिवर्तन निश्चय ही विश्राम के समान नहीं है। यदि रुचि के अभाव अथवा उकताहट की समस्या हो तो व्यस्तता-कार्य में परिवर्तन अवश्य लाभदायक होता है। अन्यथा इस परिस्थिति में विश्राम ही एकमात्र विधि है। इस तथ्य को अपने पाठशाला कार्य में दृष्टिगत रखना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

"व्यस्तता-कार्य में परिवर्तन का पुनर्लाभात्मक मूल्य कभी भी उतना नहीं होता जितना पूर्ण विश्राम का होता है। फिर भी ध्यान पर भारी बोझ लादने वाले किसी कार्य को छोड़ कर किसी कम थकाने वाले कार्य मे लग जाने से कुछ मानसिक आराम अवश्य प्राप्त होता है। परीक्षणों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि हल्के से हल्के कार्य मे भी मस्तिष्क को संलग्न होना पड़ता है जिसके फलस्वरूप पूर्ण पुनर्लाभ, जो सम्पूर्ण विश्राम द्वारा प्राप्त होता है, प्राप्त होना रुक जाता है। हमें अध्ययन के घन्टों के बीच-बीच यथा-संभव पूर्ण विश्राम करना चाहिये क्योंकि यह व्यस्तता-कार्य मे परिवर्तन की अपेक्षा अधिक लाभदायक है।[1]

बीच-बीच में विश्राम के छोटे-छोटे घन्टे होने चाहिएं। यदि इस प्रकार की व्यवस्था हो जाये तो शिशु कदाचित ही पूर्णत्या थकेंगे। विश्राम के प्रत्येक घन्टे के पश्चात कार्य की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। लघु शिशुओं के लिये पर्याप्त निद्रा भी आवश्यक है। वास्तव में यह सभी के लिये आवश्यक है। यही कारण है कि बहुत सी पाठशालाओं में छोटे बच्चों के लिये दोपहर होते-होते पाठशाला ही में साने की व्यवस्था होती है। वास्तव में यदि पाठशाला के सभी लोग तीसरे पहर का कार्य आरम्भ होने से पूर्व थोड़ी देर सो लें तो उसका परिणाम अत्यन्त लाभप्रद होगा।

विश्राम तथा कार्य वितरण की समस्या पर इस समय जितना ध्यान दिया जाता है, उससे कहीं अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। थकन में कार्य

---

१. प्रिन्ज हापकिन्स—ऐड्स टु सक्सेसफुल स्टडी, पृ० ६० (ऐलेन ऐण्ड अन्विन)

ना अत्यन्त अनार्थिक होता है। शिशु बहुधा रात्रि समय देर तक कार्य करते ते हैं, जब कि उन्हें कार्य पूरा करने में अधिक समय लगता है। इसी कारण ाप्त होने पर वह ठीक नहीं उतरता। यदि वही कार्य भोर में किया जाये तो त थोड़े समय में अधिक उत्तम ढंग से हो जाता है। शिक्षकों को चाहिये कि ः शिशु थके हों तो उन्हें कार्य करने को कभी भी बाध्य न करें। विश्राम में समय व्यतीत होता है, उसका व्यय, उत्तम है।

पाठशालाओं में साधारणतः दिन के मध्य में अवकाश के लिये एक ा सा घन्टा मिलता है। यदि ऐसे घन्टों की संख्या बढ़ा दी जाये तो सम्भवतः शुओं और शिक्षकों तथा कार्य सभी के लिये लाभप्रद होगा। प्रत्येक घन्टे बाद नहीं, तो मध्य अवकाश के अतिरिक्त प्रातःकाल तथा तीसरे पहर के ा में विश्राम में एक एक छोटे घन्टे कम-से-कम हो ही सकते हैं। हमें याद ना चाहिये कि व्यायाम विश्राम नहीं है, यद्यपि यह परिवर्तन अवश्य है।

हमें यह तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिये कि विश्राम के पश्चात् गर्माने में ु समय लगता है। इसका अर्थ यह है कि हमें फिर पूर्णत्या गतिशील ो के लिये कुछ समय चाहिये। कदाचित ही, कोई खिलाड़ी खेल के आरम्भ से पूर्णत्या रंग में आ जाता होगा। नियमतः हम सोमवार की अपेक्षा मंगल अधिक अच्छा कार्य करते हैं। पाठशाला में सबसे उत्तम घन्टे प्रातःकाल शाला आरम्भ होने और मध्य-अवकाश के ठीक बाद वाले घन्टे नहीं होते, तब में यह प्रातः तथा तीसरे पहर के दूसरे घन्टे होते हैं। यदि विश्राम के ट घन्टे हों, तो कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़ कर, गर्माने की यह समस्या त महत्त्व नहीं रखती। जब केवल थोड़ा सा विश्राम प्राप्त हो तो उसके बात् थोड़ा गर्माने की आवश्यकता होती है यद्यपि उसका अच्छा ही प्रभाव ता है।

पाठशाला में घन्टों की लम्बाई निर्धारित करते समय 'गर्माने' तथा थकन ात होने को ध्यान में रखना होगा। घन्टे में तीन उपक्रम होते हैं (क) गर्माना) पूर्ण कार्य (ग) उतार। तीसरे उपक्रम में थकन प्रतीत होने लगती है। लिये किसी भी घन्टे में दूसरे उपक्रम, अर्थात् पूर्ण कार्य को यथा सम्भव र्वतम होना चाहिये। घन्टा न तो इतना छोटा हो कि शिशु केवल गर्माने के क्रम ही को पार कर सकें और न इतना लम्बा हो कि उतार अथवा थकन ात होने का समय भी बढ़ जाये जिससे शिशुओं को हानि पहुँचे। आदर्श

रूप में घन्टे को दूसरे उपक्रम के अन्त में समाप्त हो जाना चाहिये। ऐसी व्यवस्था कक्षा में सभी शिष्यों के लिये नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्येक शिशु दूसरी बातों की भाँति इस सम्बन्ध में भी भिन्न होता है। परन्तु औसत ढंग से बड़े शिष्यों के लिये घन्टे चालीस मिनट से अधिक नहीं होना चाहिये परन्तु बहुत छोटे शिशुओं के लिये साधारणतः बीस-पचीस मिनट के घन्टे पर्याप्त होंगे। विषय की कठिनता से भी घन्टे की लम्बाई पर प्रभाव पड़ेगा। कठिन विषयों के घन्टे छोटे होंगे।

जीवन के कुछ काल ऐसे होते हैं जब शिशु के शारीरिक विकास में शीघ्र प्रगति होती है। जैसे ३ से ७ वर्ष और ११ से १४ या १५ वर्ष तक। देखा गया है कि ऐसे गति वृद्धि शारीरिक विकास के काल में मानसिक की गति कम हो जाती है। मनुष्य का जीवन-ढाँचा सम्पूर्ण रूप से कार्य करता है और यदि शीघ्र शारीरिक विकास का क्रम चल रहा हो तो उसके साथ-साथ शीघ्र मानसिक विकास नहीं हो सकता। इसलिये हमें सावधान रहना चाहिये कि ऐसे काल में अधिक मानसिक बोझ न लदने पाये। ऐसा करना युवावस्था से पूर्व काल के लिये विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। ऐसे उपक्रम में हमें बहुधा ऐसी स्थिति देखने में आती है, जिसे हम आलस्य कहते हैं परन्तु वास्तव में शीघ्र विकसित होते नवयुवक का लम्बे समय तक मानसिक कार्य में ध्यान केन्द्रित करना कठिन प्रतीत होता है। इस उपक्रम में घर पर बहुत अधिक कार्य करने को नहीं देना चाहिये।

थकन उस समय भी प्रतीत होती है जब कि परिपक्कता की व्यवहार-विधि पर ध्यान नहीं दिया जाता। यदि हम किसी शिशु को किसी प्रकार की निपुणता अथवा मानसिक कार्य की शिक्षा देना चाहते हैं, जिसके लिये वह तत्पर नहीं है, तो वह शीघ्र ही थक जाता है। उसके उप-कार्य उचित रूप से परस्पर सम्बन्द्ध नहीं होते और प्रगति मन्द रहती है। अचेत रूप से शिष्य शिक्षा प्राप्त करना नहीं चाहता, क्योंकि अभी वह परिपक्कता की अवस्था को नहीं पहुँचा है। परिणाम यह है कि थकन शीघ्र ही प्रतीत होने लगती है। किन्तु जब परिपक्कता विन्दु प्राप्त हो जाये तो प्रगति शीघ्रतापूर्ण होती है तथा मस्तिष्क और शरीर के बीच उत्तम सम्बन्धन रहता है। और थकन अत्यन्त कम होती है।

कार्य में थकन से पूर्णत्या बचना असम्भव है। यदि हम उचित ढंग से

कार्य कर रहे हों तो निश्चय ही हम थक जायेंगे और हमारे शिष्यों के संग भी यही होता है। हमें केवल अत्यधिक थकन और आराम के अभाव से सावधान रहना चाहिये। हमें थकन और उकताहट में भी अन्तर करना होगा। दोनों के लक्षण, विशेषकर थकन के प्रारम्भिक उपक्रम में, बहुधा एकही होते हैं। रोचक कार्य, जिसमें हमें रुचि हो, अरोचक कार्य की अपेक्षा कम थकन उत्पन्न करते हैं। जब हम कार्यशीलता-पूर्वक कार्य कर रहे हों, तो हमें इतनी शीघ्रता से थकन नहीं होती जितनी कि अकर्मण्य रहने पर होती है। स्वयं अपनी रुचि अथवा उद्देश्य को कार्यान्वित करने में इतनी अधिक थकन नहीं होती जितनी कि उस समय होती है जब हम किसी दूसरे की इच्छा के अनुसार ही कार्य करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि थकन से बचने की पद्धतियाँ शिक्षा-प्राप्ति की सर्वोत्तम पद्धतियों के समान हैं।

: ७ :

पाठ्यक्रम

पाठशाला का मूलोद्देश्य

हमारी पाठशालायें क्यों स्थापित हुई हैं, इसका कारण समझ लेना आवश्यक होगा। तभी हम यह समझने की आशा कर सकते हैं कि इन पाठशालाओं को क्या-क्या शिक्षा देनी चाहिये। पाठशाला का मूलोद्देश्य उन विषयों को नियंत्रित तथा निर्धारित करेगा जो वहाँ पढ़ाये जाने वाले हैं। तो पहले हमें यह निर्णय कर लेना चाहिये कि हमारी पाठशालायें किस निमित्त स्थापित हैं, और उनके द्वारा क्या करना हमारा लक्ष्य है। इस ज्ञान के द्वारा शिक्षक न केवल इस सम्बन्ध में किसी परिणाम पर पहुँचने के योग्य हो जायेगा कि पाठशाला में क्या पढ़ाया जाये, वरन् वह जिस विषय की शिक्षा दे रहा है उसके विरुद्ध आलोचना का आवश्यक उत्तर भी दे सकेगा। यह आलोचना केवल अप्रयोगिक सैद्धान्तिक चीज नहीं होती। शिशुओं के माता-पिता द्वारा की गई आलोचना कटु-वास्तविक होती है और उससे निपटना पड़ता है, विशेष कर उस समय जब पाठ्यक्रम में परिवर्तन हो रहे हों और माता-पिता यह नहीं समझ पाते कि कुछ विषयों की शिक्षा क्यों दी जा रही है और कुछ की क्यों नहीं दी जा रही है। शिक्षक को ऐसी स्थिति में ऐसा होना चाहिये कि वह शिशुओं के माता-पिता को समझा सके कि वह क्या करने की चेष्टा कर रहा है, और उसके फलस्वरूप क्यों कुछ विशेष विषयों की शिक्षा दी जाती है और क्यों कुछ विशिष्ट पद्धतियों का उपयोग होता है। इसलिये, उसे ज्ञान होना चाहिये कि उसकी पाठशाला क्यों स्थापित है और वह ठीक-ठीक क्या करने की चेष्टा कर रही है।

इस ज्ञान के द्वारा उसे न केवल अपना पाठ्यक्रम तथा अपनी पद्धति बाहरी लोगों को समझाने में सहायता मिलती है, वरन् स्वयं अपने कार्य की जाँच-पड़ताल करने में भी सहायता मिलती है। यदि वह भली-भांति इस पर विचार

करता है कि उसकी पाठशाला का मूलोद्देश्य क्या है, तो वास्तव में उसने यह पता लगाने के लिये पहला कदम उठा लिया कि पाठशाला उन मूलोद्देश्यों को कार्यान्वित कर रही है अथवा नहीं। और यही इस बात का पता लगाने का भी पहला कदम है कि किसी परिवर्तन की आवश्यकता तो नहीं है, यदि है तो क्या-क्या ?

कभी-कभी पाठ्यक्रम की पूरी समस्या व्यवहारिक कार्य करने वाले शिक्षकों के लिये पूर्णत्या सैद्धान्तिक-अप्रयोगिक सी चीज प्रतीत होती है। उससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। उनका कार्य यह है कि जो भी पाठ्यव्यूह और विषय उन्हें दे दिया जाये, उन्हें पढ़ाते रहें। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन करने का उन्हें अवसर नहीं मिलता, और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि पाठ्यक्रम निर्धारित करने में बिल्कुल हाथ नहीं होता। उन्हें जो कुछ दे दिया गया है केवल उसी का यथाशक्ति कार्य करते रहना है। यह सत्य है, और दृष्टिकोण के अनुसार तो पाठ्यक्रम की समस्या साधारण शिक्षक के कार्य क्षेत्र से बाहर ही होती है। परन्तु दूसरी-दूसरी दृष्टियों से वह मूलोद्देश्य जिनके लिये और वह सिद्धान्त जिनके अनुसार पाठ्यक्रम निर्धारित हुआ है शिक्षक को ज्ञात होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह तो है ही कि शिक्षक का जनमत के भीतर अपना भाग होता है और शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर जनमत के निर्माण में उसका बहुत बड़ा भाग हो सकता है। ऐसी अवस्था में यदि हमको पाठ्यक्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन करवाना है, जैसे प्रारम्भिक पाठशाला के पाठ्यक्रम को हस्तकला के चारों ओर केन्द्रित करना है तो शिक्षक को अत्यन्त बहुमूल्य योगदान करना पड़ेगा। परन्तु वह इस प्रकार का योगदान उस समय तक नहीं कर सकता जब तक वह उन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ न कुछ समझता न हो, जो कि पाठशाला के पाठ्यक्रम में निहित हैं, अथवा होने चाहियें। जैसा कि पहले बताया जा चुका है साधारण कार्यलग्न शिक्षक वह है जिसे किसी भी प्रकार के परिवर्तन की, शिशुओं के माता-पिता अथवा जन-साधारण द्वारा विरोध तथा आलोचना, जो अधिकतर शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर रूढ़िवादी दृष्टिकोण ही रखते हैं, से रक्षा करनी पड़ती है। शिक्षक यह कार्य उस समय तक नहीं कर सकता जब तक उसे पूर्ण ज्ञान न हो कि क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है। इसके अतिरिक्त यदि शिक्षक समझता है कि पाठशाला के लक्ष्य क्या-क्या हैं, और उन लक्ष्यों की थोड़ी बहुत पूर्ति निश्चित

कराने के लिये किस प्रकार का पाठ्यक्रम आवश्यक है, तो उसे पता रहता है कि किन परिवर्तनों के लिये कार्य करना चाहिये। परन्तु यदि उसको यह बातें ज्ञात नहीं हैं तो वह अंधकार में कार्य कर रहा है उसके मत का कोई महत्त्व न होगा।

पाठशाला के मूलोद्देश्यों तथा उसकी पूर्ति की विधियों का ज्ञान शिक्षक को उत्साह प्रदान करेगा और उसके परिश्रम को उन्नति का मार्ग दर्शायेगा। यदि वह जानता है कि उसकी पाठशाला में किस प्रकार का पाठ्यक्रम होना चाहिये, तो एक निश्चित निमित्त-बिन्दु उसके सम्मुख उपस्थित रहेगा। वह उसे पथ-प्रदर्शित करता रहेगा। यदि वह किसी विशेष पाठ्यक्रम में निहित सिद्धान्तों को समझता है, तो उसे यह कारण भी ज्ञात होंगे कि वर्तमान पाठ्यक्रम की रक्षा क्यों की जाये अथवा उसके विरुद्ध आक्रमण क्यों किया जाये। उसे यह भी ज्ञान होगा कि सुधार के हेतु अपने परिश्रम को कहां लगाया जाये।

यह तथ्य देखने में जितना महत्व रखता है, उससे कहीं बढ़ कर महत्वपूर्ण है। बहुत से शिक्षक समझते हैं कि उनका कार्य उतना प्रभावशाली नहीं है जितना उसे होना चाहिये। उनके शिष्यों का उतना प्रभावशाली विकास नहीं हो रहा है जितना कि होना चाहिये। परन्तु वह इस बात को नहीं समझ पाते कि वास्तव में दोष कहा पर है। बहुधा यह दोष केवल इस ज्ञान के प्रकाश ही में समझा जा सकता है कि पाठ्यक्रम क्या होना चाहिये। इस प्रकार यदि शिक्षक को उन सिद्धान्तों का ज्ञान हो जिन पर पाठ्यक्रम का निर्माण होना चाहिये, तथा वह यह भी जानता हो कि उन सिद्धान्तों के फलस्वरूप कैसा पाठ्यक्रम तैयार हुआ है, तो उसका कार्य बहुत सुगम बन जायेगा और वह उचित दिशा में परिश्रम कर सकेगा। इस ज्ञान के द्वारा प्रगतिशील शिक्षक, थोड़ी सी भी स्वतंत्रता प्राप्त होने पर, उचित दिशा में अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित कर सकेगा और इस प्रकार परिस्थिति में थोड़ा बहुत सुधार करने के योग्य हो जायेगा, चाहे वह सुधार उसकी अपनी पाठशाला तक ही सीमित क्यों न हो।

मैं इस तथ्य पर जोर देना चाहता हूँ कि पाठशाला का मुख्य अथवा सब से महत्त्वपूर्ण मूलोद्देश्य, चाहे वह प्रारम्भिक पाठशाला ही क्यों न हो, साक्षरता प्राप्त करना नहीं है। निस्सन्देह, यह महत्त्वपूर्ण अवश्य है। परन्तु यह दूसरी अधिक महत्वपूर्ण बातों की अपेक्षा गौण है। यदि हम इसी को अपनी पाठ-

शालाओं का सबसे महत्त्वपूर्ण मूलोद्देश्य बना दें तो हमें इसी प्रकार की निर्जीव शिक्षा प्राप्त होगी जैसी **अब तक प्राप्त होती रही है**, जिसे शिक्षा नहीं कहा जा सकता।

"अनेकों क्षेत्रों ने हमारे ऊपर यह प्रभाव डाला है कि प्रारम्भिक शिक्षा का मुख्य लक्ष्य स्थायी साक्षरता प्राप्त करना है। हम इसे हर अवस्था में शिक्षा के उद्देश्य के प्रति एक असंतुलित दृष्टिकोण समझते हैं। और यदि हम उसे स्वीकार भी करलें तो हम कभी-कभी साक्षरता प्राप्ति का प्रयत्न करने की वर्तमान पद्धतियों को स्वीकार नहीं कर सकते। साक्षरता, प्रसन्नता की भांति, एक संकीर्ण लक्ष्य बनाकर प्रयत्न करने से प्राप्त नहीं की जा सकती। यह सन्तोषदायक कार्यशीलताओं का गौणफल है। साक्षरता का अर्थ लिखना-पढ़ना नहीं, उसका अर्थ है लिखने-पढ़ने का उपयोग, साथ ही बोलने और सुनने का उपयोग। कोई भी शिशु न इन सरल निपुणताओं को प्राप्त करेगा और न उनके उपयोग की आदत डालेगा जब तक कि उनकी आवश्यकता ऐसे उद्देश्यों के लिये न प्रतीत हो जो शिक्षक की अपेक्षा शिशु के लिये महत्व-पूर्ण हों। पुस्तकों का कण्ठस्थ करना, हृदयंगम करना, एक साथ चिल्लाकर पढ़ना, सभी का शिक्षा-प्राप्ति के अनुशासन में अपना-अपना स्थान है, परन्तु उनमें से स्वयं किसी एक को भी लघु शिशुओं की शिक्षा का सहअर्थी नहीं कहा जा सकता।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि शिशुकाल में पाठशाला की निमित्त-विन्दु के रूप में साक्षरता पर सारा ध्यान केन्द्रित कर देने का परिणाम यह होता है कि शिक्षा के उच्चतर उपक्रमों में साहित्यिक क्षमता की अंधपूजा होने लगती है। जब शिशु-पाठशाला में बीज बो दिया गया और विश्वविद्यालय में पहुँचकर जब उसका फल पक जाता है तो किसी प्रकार की शिकायत करना व्यर्थ है।"[1]

तो फिर, हमारे पास पाठशाला का कोई ऐसा उद्देश्य हो चाहिये जो केवल साक्षरता प्राप्ति कराने की अपेक्षा अधिक सम्पन्न तथा विस्तृत हो।

यह मानना पड़ेगा कि पाठशाला चाहे जिस भी प्रकार की हो परन्तु उसमें हम नींव डालते रहते हैं। वहाँ जो कुछ होता है, उसका अधिकांश भाग केवल

---

१. ए० ऐबट तथा एस० एच० वुड—रिपोर्ट ऑन वोकेशनल एजुकेशन इन इण्डिया—पृ० ११।

उन चीजों का प्रारम्भ होगा जिसको उच्चतर श्रेणी की पाठशाला में और आगे बढ़ाया जायेगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रारम्भिक पाठशाला केवल इसलिये होती है कि वह अगली उच्चतर श्रेणी की पाठशाला—अर्थात् माध्यमिक पाठशाला के लिये तैयारी का स्थान है या माध्यमिक पाठशाला हाई स्कूल की तैयारी का स्थान है। प्रारम्भिक पाठशाला में शिशुओं का स्वयं अपना जीवन होता है और पाठशाला को उन्हें इस जीवन के निर्वाह में यथाशक्ति हर प्रकार की सहायता देनी चाहिये। तो फिर हमारी पाठशालाओं के लिये यह एक सुयोग्य मूलोद्देश्य हो सकता है। एक ऐसा वातावरण सुलभ करना उनका लक्ष्य होना चाहिये जो पाठशाला में रहने के काल में अपने शिष्यों के सामाजिक तथा व्यक्तिगत विकास के लिये सबसे बढ़कर अनुकूल हो। पाठशाला उन्हें उस काल में अधिक-से-अधिक सम्पन्न जीवन निर्वाह करने में सहायता देकर इस कार्य के लिये प्रयत्न करेगी। क्योंकि एक परिपूर्ण जीवन निर्वाह कर, जिसमें शिशुओं को अपनी समस्त विविध शक्तियों के विकास तथा उन्नति के अवसर उपलब्ध हों, शिशु भविष्य के लिये सब से उत्तम तैयारी करते हैं। पाठशाला का मूलोद्देश्य यह है कि शिशुओं का उस विशेष अवस्था में जैसा जीवन होना चाहिये, उसका यथासम्भव अधिक-से-अधिक परिपूर्ण रूप से निर्वाह करने में सहायता दे। यदि ऐसा किया गया तो उसके शिष्यों का विकास तथा उनकी उन्नति निश्चित हो जाती है।

इस समस्या पर यदि हम व्यक्तिगत शिष्य के दृष्टिकोण से विचार करेंगे तो पाठशाला का मूलोद्देश्य अपने शिष्यो को परिपूर्ण तथा संतुलित व्यक्तियों के रूप में विकसित होने में सहायता देना है इसका अर्थ यह है कि पाठशाला शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा के सर्वांगी विकास को अपना लक्ष्य बनाकर प्रयत्न करती है। इसलिये उसकी कार्यशीलताओं, अर्थात् उसके पाठ्यक्रम के विषय मनुष्य के व्यक्तित्व के इन्हीं तीन खण्डों से सम्बद्ध होंगे। इस सम्बन्ध में याद रखना चाहिये कि हम व्यक्तित्व को खण्डों में विभक्त केवल समस्या पर विचार करने के लिये करते हैं। कुछ मूलोद्देश्यों का शिशु की शारीरिक कुशलता के साथ अधिक गहरा सम्बन्ध होगा। कुछ मूलोद्देश्य उसकी चिन्तन तथा निर्णय की शक्तियों का विकास करने में विशेष रूप से सहायक होंगे और उसके ज्ञान-भण्डार में वृद्धि करेंगे। इसके अतिरिक्त दूसरों का चरित्र, रुचि तथा आत्मिक शक्तियों के विकास से अधिक गहरा सम्बन्ध होगा।

एक दूसरे दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि पाठशाला का मूलोद्देश्य शिशु के लिये समस्त प्रकार के अनुभव प्राप्त करने की सुविधायें उपलब्ध करना है जो उसे अपने संगियों में रहकर विकास करने तथा अपने वातावरण के साथ अनुकूलीकरण करने के योग्य बना सके।

'अनुभव का प्रचलित मनोवैज्ञानिक विश्लेषण (क) इच्छा शक्ति का प्रयत्न अथवा कार्यशीलता पूर्ण प्रयासात्मक अनुभव (ख) ज्ञानानुभव अथवा जानकारी सम्बन्धी अनुभव तथा (ग) प्रभाव अथवा अनुभूति-सम्बन्धी अनुभव में करते हैं। यह विश्लेषण हमें एक और भी प्रारम्भ-विन्दु प्रदान करता है। उसी के आधार पर चलकर हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि पाठशाला के अध्ययन को इस बात का प्रतीक होना चाहिये कि (क) मनुष्य क्या करता, अथवा करने की चेष्टा करता है। इसमें मनुष्य की प्रमुख हस्तकलायें, विशेषकर वह जो अन्न, वस्त्र तथा श्रम की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, अवश्य सम्मिलित होनी चाहियें। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि यंत्रों का प्रयोग होने लगेगा और व्यवहारिक समस्याओं का समाधान होते-होते अनिवार्य रूप से ललित कलाओं की उत्पत्ति होगी।.....पाठ्यक्रम में वह चीज भी सम्मिलित होनी चाहिये। (ख) जो मनुष्य को ज्ञात हों। उसके चिन्तन करने के प्रमुख भावों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। इस प्रकार भाषा तथा साहित्य, विज्ञान, गणित, इतिहास तथा भूगोल—अर्थात् संक्षिप्त शब्दों में परम्परागत बौद्धिक अध्ययन अवश्य होना चाहिये। अन्त में पाठशाला को (ग) मनुष्य की अनुभूति के प्रमुख भावों तथा कला, काव्य और संगीत के रूप में उनकी अभिव्यक्ति का अनुभव उपलब्ध करने में नहीं चूकना चाहिये। यही वह साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य ने अपने मूल्यांकन-भाव को अभिव्यक्त करने की शक्ति का निर्माण किया है। इन साधनों की किसी अवस्था में भी अवहेलना नहीं होनी चाहिये। अफलातून जैसे सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-आदर्शवादी ने कहा था कि वही प्रशिक्षा जो 'तुमको सदैव उससे घृणा करवाये जिससे प्रेम करना चाहिये' उसी को वास्तव में शिक्षा कहा जाता है।"[1]

परन्तु पाठशाला का समाज के प्रति भी एक लक्ष्य होता है। यदि हम उसके कार्य को व्यक्तिगत शिष्य की दृष्टि से भी देखें तो उसमें सामाजिक अंश

---

१. जे० एस० रास—ग्राउन्ड वर्क ऑव एजुकेशनल थ्यूरी, पृ० १६६ (हैरप)

हुत छाया रहता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने संगियों के संसर्ग के बाहर वेकास नहीं कर सकता। समस्त प्रगति की सामाजिक प्रगति होती है। परन्तु ोर का अन्तर तो होता ही है कि हम इस समस्या पर मुख्यतः व्यक्ति के दृष्टि-ोण से विचार करते हैं अथवा सामूहिक रूप में समाज की दृष्टि से। ाठशाला को यह दोनों कार्य करने की चेष्टा करनी पड़ती है। समाज की ृष्टि से अपने कार्य का अवलोकन करते समय हम कह सकते हैं कि पाठशाला ा लक्ष्य अच्छे नागरिकों का निर्माण करना है। परन्तु अच्छा नागरिक वह है जो भूतकाल के प्रति अपने कर्तव्य का पालन भविष्य की ओर दृष्टि लगाये हुये करता है। दूसरे शब्दों में, अच्छा नागरिक वह है जिसका पिछला तथा अगला दो॰ों दृष्टिकोण होता है। भूतकाल से जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसको वह आगे बढ़ाने तथा सुरक्षित रखने के साथ-साथ उन्नति भी करने की चेष्टा करता है। इसके अतिरिक्त, उसके आदर्श जनवादी होंगे। तो फिर पाठशाला ा लक्ष्य ऐसे ही नागरिकों का निर्माण करना है और जो कार्य पाठशाला में किया जाये, वह इस प्रकार का होना चाहिये, जो शिष्यों को इन ढंगों से अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये तैयार होकर निकलने के योग्य बना सके।

इस कार्य के लिये पाठ्यक्रम को ऐसी निश्चित परिस्थितियां उपलब्ध करनी चाहियें जिनमें शिशुओं को समाज के भीतर एक साथ रहने का अनुभव प्राप्त हो सके। पाठशाला को साथ रहने की कला में प्रशिक्षित करना चाहिये। पाठशाला को लक्ष्यात्मक रूप से अपने शिष्यों को उन बातों की सैद्धांतिक तथा व्यवहारिक ढंग से शिक्षा प्राप्त करने में सहायता देने का प्रयत्न करना चाहिये जिनका जानना उनके लिये दूसरे के संग अर्थात् समाज में सफलतापूर्वक जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक है। उसे साथ जीवन निर्वाह करने की कला का वास्तविक अभ्यास करने के अवसर भी उपलब्ध करने चाहियें। इसलिये उसको ऐसी बातों की शिक्षा देनी चाहिये जो शिष्यों के लिये अपने सामाजिक तथा प्राकृतिक वातावरण के भीतर सफलतापूर्वक जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक हैं। पाठशाला को उन निपुणताओं की भी शिक्षा देनी चाहिये जो जीवन को सम्पन्न बनाती हैं और मनुष्यों को समाज के सामान्य जीवन में अपना उचित योगदान करने के योग्य बना देती हैं। पाठशाला को नैतिक आचरण के उन प्रमाणों का निर्माण करना चाहिये जो समाज में सफलतापूर्वक जीवन-निर्वाह तथा

जीवन से सच्ची सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं। शिष्य पाठशाला छोड़ते समय तैयार होकर जायें कि वह समाज को अधिक-से-अधिक देंगे, और वह इस कार्य के सब से अच्छे ढग जानते हैं तथा स्वयं मानव जाति की उन्नति करने में सहायता देने के लिये अपना भाग पूरा करने के लिए उत्साही हैं।

पाठशाला के लक्ष्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है, जिसके आधार पर हम कुछ ऐसे सिद्धान्तों पर विचार कर सकते हैं जिन्हें पाठ्यक्रम तैयार करते समय ध्यान में रखना चाहिये।

पाठ्यक्रम में निहित सिद्धान्त

१. अग्रदर्शी सिद्धान्त—शिशु पाठशाला में जा कुछ सीखता है उसके द्वारा उसे इस ससार का जीवन-परिस्थितियों के संग अनुकूलीकरण करने के योग्य हो जाना चाहिये तथा ज्ञान, अनुभूति तथा इच्छा का एसा आधार प्राप्त होना चाहिये जो उसे आवश्यकता पड़ने पर उन परिस्थतियों मे परिवर्तन करने के योग्य भी बना सके। आज का शिष्य कल का नागरिक है। वह पाठशाला छोड़े तो एक प्रगतिशील विचारों का व्यक्ति बन कर छोड़े। इसका अर्थ यह है कि पाठशाला में उसके कार्य द्वारा विकसित व्यक्तित्व इस प्रकार का होना चाहिये कि वह न केवल इस जनवाद की ओर अग्रसर अवस्था मे, जहा हम अब पहुँच गये हैं, सफलतापूर्वक जीवन निर्वाह कर सके वरन् समाज को जीवन के एक वास्तविक जनवादी मार्ग की ओर और भी अधिक प्रगति करने के योग्य भी बना सके। तो, फिर पाठ्यक्रम इस प्रकार का होना चाहिये कि उसके द्वारा पाठशाला प्रगतिशील नागरिक के लिये शिक्षा दे सके। इस प्रकार भविष्य के लिये शिक्षा देने मे हमे याद रखना चाहिये कि यदि भविष्य कुछ उसी प्रकार का हुआ जिसको कि हम आशा करते हैं तो इस समय स्त्री पुरुषों को जितना अवकाश मिलता है, उससे कई गुना अधिक अवकाश प्राप्त होने जा रहा है। आज भी हम कहते हैं कि हम मनुष्य की शिक्षा का अनुमान इससे करते हैं कि वह अपने अवकाश का उपयोग किस प्रकार करता है। भविष्य में यह बात आज की अपेक्षा और भी अधिक सत्य होने जा रही है। समाज मे प्रगति बहुत कुछ इस पर निर्भर करने जा रही है कि लोग अपने अवकाश का उपयोग किस प्रकार करते हैं। तो फिर, पाठ्यक्रम इस प्रकार का होना चाहिये कि उसके द्वारा शिशुओं को अपने अवकाश का उपयोग करने

की शिक्षा-प्राप्ति में सहायता मिल सके। इसलिये कला, संगीत, हस्तकला, नाटक-शास्त्र, साहित्य तथा सामान्य सृजनात्मक कार्य पर अधिक जोर दिया जायेगा।

२. रूढ़िवादी सिद्धान्त—"वास्तव में यह तथ्य अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है कि पाठ्यक्रम के विभिन्न विषय निपुणताओं के कुछ विशेष रूपों तथा ज्ञान के कुछ ऐसी विशेष शाखाओं के प्रतीक होते हैं जो पूरी जाति के अनुभव में महत्वपूर्ण सिद्ध हो चुकी हैं और जिनकी शिक्षा प्रत्येक आने वाली पीढ़ी को देना आवश्यक होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, पाठशाला का कर्तव्य है कि व्यवहार की उन परम्पराओं, ज्ञान तथा प्रमाणों की, जिन पर हमारी सभ्यता आधारित है, रक्षा करे तथा उन्हें और आगे बढ़ाये।"[1]

सम्भवतः पाठ्यक्रम निधारित करते समय यह बात अग्रदर्शी सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक ध्यान में रखी जाती है। हम भूतकाल की ओर देखते हैं और यह निर्णय करते हैं कि जो लोग भूतकाल में पाठशाला में रह चुके हैं, उनके लिये कौन-कौन सी चीजें उपयोगी सिद्ध हो चुकी हैं, और तब हम यह सिद्धान्त बनाने लगते हैं कि वही बातें उन लोगों के लिये भी उपयोगी होंगी जो आज पाठशाला में हैं। हम उन शिक्षों की आवश्यकतायें, जो आज पाठशाला में हैं, उन चीजों के आधार पर निर्धारित करते हैं जो ऐसे लोगों के लिये उपयोगी सिद्ध हो चुकी हैं, जो पहले रह चुके हैं और आज संसार मे कार्यलग्न हैं।

अब, जैसा कि तुरन्त ही देखा जा सकता है, इस प्रक्रिया में एक बड़ा खतरा है। कभी-कभी जो लोग पाठ्यक्रम निर्धारित करते हैं, उन्हें इसकी चेतना नहीं होती जब उसका अचेत रूप से पालन किया जाता है तो सम्भवतः वह और भी खतरनाक होता है। इस सिद्धान्त का तभी कुछ मूल्य हो सकता है जब उसमे चयनात्मक तत्व भी रूढ़िवादी तत्व के संग वर्तमान हो। भूतकाल मे जो कुछ किया गया है, केवल उसी को चालू रखने से हमारी सर्वोत्तम चेष्टायें भी नष्ट हो जायेंगी। उसमें दूसरे तथ्यों के अनुसार संशोधन करना चाहिये। यदि हमें एक रूढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाना ही है, तो वह चयनात्मक दृष्टिकोण भी अवश्य हो। इस कथन से मेरा अभिप्राय यह है कि जो चीजें हमें भूतकाल से प्राप्त हुई हैं, उन्हीं में से हमे चयन करना चाहिये, निपुणता-

१. हैण्डबुक ऑव् सजेशन्स फार टीचर्स—पृ० ३७ (बोर्ड ऑव् एजुकेशन, लन्दन)

पूर्वक और अपने ऊपर कड़ा प्रतिबन्ध लगाकर छांटना चाहिये कि हम अपने पाठ्यक्रम में क्या रखने जा रहे हैं।

फिर, यह तथ्य तो निस्संकोच स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कुछ विषय ऐसे हैं जिन्हें जाति के अनुभव ने प्रगति के लिये आवश्यक सिद्ध कर दिया है और जिनका जानना हर शिशु के लिये आवश्यक है। उदाहरण के लिये, शिशु तथा ज्ञान प्राप्ति के यंत्र जैसे लिखना, पढ़ना तथा गणना करना है। किसी का भी इसमें मतभेद न होगा। परन्तु जो चीज इतनी निश्चित नहीं है, वह इन विषयों का समय तथा स्थान है। रूढ़िवादी सिद्धान्त इस सम्बन्ध में हमारा कोई पथ-प्रदर्शन नहीं करता कि इन विषयों की शिक्षा कब और किस प्रसंग में दी जाये। वह हमें केवल यह बतलाता है कि यह विषय मूल्यवान हैं, और इसलिये उन्हें किसी उपक्रम में प्रत्येक शिशु के पाठशाला-क्रम का एक अंग होना चाहिये। कब और किस प्रसंग में उन्हें आना चाहिये, इसका निर्णय दूसरे सिद्धान्तों के आधार पर होगा। यही बात उनके लिये भी सत्य है जिन्हें हम सामान्य सांस्कृतिक विषय कहते हैं। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि जाति की संचित संस्कृति को आगे बढ़ाया जाये। इतना हमें रूढ़िवादी सिद्धान्त बतला देगा। परन्तु स्वभाविक रूप से, हमें चयन करना होगा कि प्रारम्भिक पाठशाला के पाठ्यक्रम में हम कौन-कौन से सांस्कृतिक विषय रखने जा रहे हैं और कौन-कौन से उच्चतर पाठशाला (हाई स्कूल) के पाठ्यक्रम में। स्पष्ट है कि शिशु सभी सांस्कृतिक विषयों की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। जहां तक कि वह हमें यह बतलाता है कि पाठ्यक्रम में सांस्कृतिक विषय होने चाहियें, हमारा रूढ़िवादी सिद्धान्त सिद्ध है। परन्तु इसका कार्य केवल इतना ही है। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि रूढ़िवादी सिद्धान्त विषयों की ओर देखता है शिष्यों की ओर नहीं। वर्तमान काल में जब यह स्वीकार कर लिया गया है कि शिक्षा तथा पाठशाला और इसी कारण पाठ्यक्रमों का केन्द्र शिशु को होना चाहिये, स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त बहुत अधिक नहीं चलता, वास्तव में यह उतना भी नहीं चलता है जितना कि पाठ्यक्रम निर्धारित करने के लिये कोई पचास वर्ष पूर्व चलता था।

३. **सृजनात्मक सिद्धान्त**—पाठ्यक्रम में वह कार्यशीलतायें सम्मिलित होनी चाहियें जिनमें भाग लेकर शिशु को विकास करने में सहायता मिले। यही हमारा मुख्य उद्देश्य है और इसलिये जब हम यह निर्धारित करें कि शिशु को

क्या शिक्षा देनी है, तो इस सिद्धान्त को हमें ध्यान में रखना होगा। पाठ्यक्रम में ऐसे विषय सम्मिलित होंगे जो शिशु को अपनी सृजनात्मक तथा रचनात्मक शक्तियों का उपयोग करने के योग्य बना देंगे जिनके द्वारा उसकी कार्यशीलता पूर्ण रुचियों की पूर्ति होगी और जो स्वतः भाविक शक्तियाँ उसमें वर्तमान हैं, उनके उत्कृष्टीकरण का उसे अवसर प्राप्त होगा। पाठशाला में वह जिन विषयों पर परिश्रम करता है, उन्हें एक ऐसी आधारशिला बन जाना चाहिये जिसके द्वारा उसकी रुचियों के विकास का अवसर प्राप्त हो सके, तथा उसे उन रुचियों को आगे बढ़ाने के लिये प्रोत्साहन मिले और जब वह पाठशाला छोड़े, चाहे प्रारम्भिक पाठशाला ही में सफल होने के पश्चात् ही क्यों न हो, तो उसे अवकाश के समय की व्यस्ततायें प्राप्त रहें। पाठशाला में अपने कार्य द्वारा, प्रत्येक शिशु की विशिष्ट क्षमताओं को खोज कर विकसित करना चाहिये। ऐसे विषय होने चाहियें जो इस कार्य के लिये अवसर प्रदान कर सकें।

"स्वतः भावना की क्षणिकता की व्यवहार विधि में, शिक्षकों के लिये एक मौलिक पाठ निहित है।[1] दूध पिलाने वाले पशुओं की दूध पिलाने की स्वतः भावना और कुछ पक्षियों तथा चोपायों की पीछे-पीछे चलने की स्वतः भावना की भांति हमारी वर्णित मानसिक रुचियों में से किसी एक के प्रति शिशु का सर्वप्रथम उत्साह, उसी समय और उसी स्थान पर अवसर प्राप्त न होने पर, लुप्त हो सकती है और व्यवहारिक रूप से उन्हें पुर्नजीवित नहीं किया जा सकता। सभी जानते हैं कि किसी प्रौढ़ व्यक्ति की अच्छा संगीतकार, प्रकृति विज्ञानाचार्य अथवा भाषा-शास्त्री बनने की चेष्टायें कितनी कठिन तथा कष्ट-दायक होती हैं, और जब तक उसकी युवावस्था में उसे सामयिक अवसरों का मनोवेगवर्धन प्राप्त होने का सौभाग्य न मिला हो तो उसे ज्ञान की किसी भी शाखा अथवा निपुणता में अपने को सचमुच प्रवीण समझना लगभग असम्भव सा होता है। यह बात किसी बहुत से विषयों में हाथ डालने वाले अथवा अभिमानी नौसिखिये की प्रशंसा में नहीं कही गई है, वरन् यह प्रस्ताव करती है इस संकीर्ण विशेषज्ञतावाद के युग में विस्तृत रुचियों का निर्माण किया जाये और शिशु की एक भी प्राकृतिक क्षमता हमारी दृष्टि से छूटने न पाये तथा इस प्रकार कार्य-शून्यता के कारण नष्ट न हो सके।"[2]

---

१. देखो पांचवाँ अध्याय।

२. टी० रेमन्ट—दि प्रिन्सिपुल्ज ऑव् एजुकेशन—पृ० १०६ (लांगमैन्स ग्रीन)

यहाँ भी यह बात देखने में आयेगी कि यद्यपि यह सिद्धान्त एक प्रकार के विषय की ओर संकेत करता है जिसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया जायेगा, तथापि वह हमें यह नहीं बतलाता कि कब और कहाँ उसे रखना है। तर्क के रूप में कहा जा सकता है कि सृजनात्मक कार्य तो किसी भी विषय में हो सकता है और सभी विषय, यदि उनकी उचित ढंग से शिक्षा दी जाये, शिशुओं की रुचि के विकास में प्रोत्साहन देंगे। यह सत्य है कि सृजनात्मक कार्य अधिकांश विषयों में किया जा सकता है। परन्तु यह काफी नहीं है। एक ऐसे पाठ्यक्रम में जो आज तथा भविष्य की आवश्यकताओं के अनुकूल है, उसका निश्चित सृजनात्मक विषयों की ओर निश्चित झुकाव होना चाहिये। यह बात विशेषकर और भी आवश्यक है कि हम स्वतः भावना की क्षणिकता के इस सिद्धान्त का लाभ उठायें और उदाहरणतः प्रारम्भिक पाठशाला में हम शिशुओं को इस कार्यशीलता सम्बन्धी प्रवृत्तियों के उपयोग का, जो उस अवस्था में सर्वश्रेष्ठ रहती हैं, अवसर उपलब्ध करें। प्रारम्भिक पाठशाला के पाठ्यक्रम को किसी हस्तकला अथवा कार्यशीलतापूर्ण विषय के केन्द्र विन्दु पर आधारित करने के पक्ष में यही एक मुख्य बात कही जाती है। प्रारम्भिक पाठशाला की अवस्था ऐसा समय है, जब कि शिशु सामग्री का उपयोग तथा वस्तुओं की रचना करने की इच्छा प्रकट करते हैं। इसलिये वह पाठ्यक्रम में हस्तकलायें सम्मिलित करने का समय होता है। ऐसा करके हम व्यक्ति के सम्पूर्ण भावी सृजनात्मक जीवन का शिलान्यास करते हैं। यदि हम इसमें चूक गये तो अवसर हाथ से निकल जाता है और एक बहुत बड़ी संख्या अपनी सृजनात्मक मनोशक्तियों का कभी भी विकास नहीं करेगी।

४. जीवन के लिये तैयारी का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त पाठ्यक्रम के निर्माण में सम्भवतः सबसे बढ़ कर सर्वप्रिय सिद्धान्त है, और पाठशाला में क्या पढ़ाया जाये, उसके सम्बन्ध में बहुत बड़ी संख्या के जो विचार हैं, उनकी जड़ में यही सिद्धान्त निहित है। तो, हम इस सिद्धान्त को बिना किसी संकोच के सिद्ध प्रमाणित कर सकते हैं। शिशु पाठशाला में जो कुछ करता और सीखता है, उसके द्वारा उसकी जीवन के लिये तैयारी होनी चाहिये। परन्तु जब हम इस विचार के भीतर सार भरने लगते हैं, अर्थात् यह निर्णय करने लगते हैं कि इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिये हमें ठीक-ठीक क्या करना होगा, तो हमें मतों में बहुत बड़ा भेद दिखलाई पड़ता है।

पूरे जोर के साथ कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक तथा माध्यमिक पाठशालायें व्यवसायिक पाठशालायें नहीं हैं। वह ऐसे स्थान नहीं हैं (अथवा उन्हें ऐसे स्थान नहीं होना चाहिये) जहाँ शिशु केवल या मुख्यतः उन्हीं बातों की शिक्षा प्राप्त करता है जो उसे रोटी को सहारा देने में सहायता करेंगी। निस्सन्देह वह जो कुछ सीखता है, उसके द्वारा उसे इस कार्य में सहायता मिलेगी। परन्तु यह निर्णय करने में कि क्या शिक्षा दी जाये, किसी नौकरी अथवा रोजी-रोटी की प्राप्ति को निर्णायक विचार नहीं बनाना चाहिये।

हम इस विचार का सहारा भी नहीं ले सकते कि पाठशाला शिशुओं को अपनी शिक्षा-प्राप्ति के दूसरे उपक्रम के लिये तैयार करने के लिये है। वैसे तो, यह पूर्णत्या सत्य है कि पाठशाला इस कार्य को करेगी। परन्तु यह वह तथ्य नहीं है जो निर्णय करती हो कि पाठ्यक्रम में कौन से विषय रहेंगे। हमें किसी विषय की केवल इसी कारण शिक्षा नहीं देनी चाहिये कि ऐसा करने से शिशु माध्यमिक पाठशाला के लिये तैयार हो जायेगा जहाँ उसे प्रारम्भिक पाठशाला में सफल होने के पश्चात् जाना है।

जब हम कहते हैं कि पाठ्यक्रम की दृष्टि शिशु को जीवन के लिये तैयार करने की ओर होनी चाहिये, तो हमारा अर्थ यह है कि यह कार्य तभी हो सकता है जब कुछ बातें ध्यान में रखी जायें।

इनमें सर्वप्रथम सिद्धान्त यह है कि शिशु अपने जीवन के अगले उपक्रम की तैयारी अपने वर्तमान उपक्रम में परिपूर्ण जीवन निर्वाह करते हुये करता है। हम शिशु को जीवन के लिये जो सबसे उत्तम तैयारी करवा सकते हैं, वह यह है कि शिशु जिस उपक्रम में हो उसमें अधिक से अधिक परिपूर्ण तथा सम्पन्न जीवन निर्वाह करने में सहायता दें। इसका अर्थ यह है कि **उस विशेष उपक्रम में,** उस उपक्रम के अनुकूल ढंगों से और उस उपक्रम के अनुकूल कार्यों द्वारा शिशु की शक्तियों के सम्पूर्ण विकास पर ध्यान केन्द्रित करके ही हम उसको अगले उपक्रम और आगे चलकर संसार में जीवन के लिये सबसे उत्तम ढंग से तैयार करते हैं। जब हम प्रारम्भिक पाठशाला में एक ऐसे पाठ्यक्रम की इच्छा करते हैं, जो शिशुओं को जीवन के लिये तैयार कर सके, तो हम पहले विषयों को नहीं देखते कि उन विषयों को जिन्हें हम समझते हैं कि इस समय तो नहीं परन्तु आगे चलकर उपयोगी होंगे चुन लें। हम पहले शिशु और उसके स्वभाव को देखते हैं और ऐसे विषय चुनते हैं जिनके द्वारा उसकी

रुचियों का विकास हो, उसकी शक्तियाँ खुल कर समक्ष आ जायें, और वह जिस उपक्रम में है, उसमें वह विषय आकर्षक प्रतीत हों और इस प्रकार उसे वर्तमान काल ही में एक परिपूर्ण जीवन निर्वाह करने के लिये प्रोत्साहन प्राप्त हो। जीवन के लिये वह इसी ढंग से तैयार किया जाता है। एक उपक्रम में एक उत्तम तथा यथार्थ जीवन निर्वाह कर वह अपने को दूसरे उपक्रम के लिये अपने आप ही तैयार कर लेता है।

दूसरा तथ्य जो हमें ध्यान में रखना है, वह यह है कि पाठ्यक्रम का केन्द्र शिशु को होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि हम शिशु के स्वभाव के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं, उसी प्रकाश में विषय चुनने चाहियें। यदि हम चाहते हैं कि शिशु किसी भी उपक्रम में परिपूर्ण जीवन निर्वाह करे तो हमें इस पर ध्यान देना चाहिये कि उस उपक्रम में किन-किन वस्तुओं में उसकी रुचि है, उस आयु में क्या विशेष झुकाव उसके हो सकते हैं, सम्भवतः कौन सी वस्तु उसे आकर्षक लगने वाली है और उस समय की सर्वश्रेष्ठ स्वतः भाविक प्रवृत्तियों का लाभ किस चीज के द्वारा उठाया जा सकता है। 'शिक्षा कार्य में शिशु को एक ऐसा व्यक्ति माना जाता है जो'''स्वयं अपनी कार्यशीलता द्वारा बढ़ता है, स्वयं अपने ही वातावरण में जीवन निर्वाह करता है और अपने को प्रौढ़ जीवन के लिये, प्रौढ़ व्यक्ति अनुकरण करके नहीं वरन् अपने शिशु काल के वातावरण में यथा सम्भव परिपूर्णतम जीवन निर्वाह कर, तैयार करता है।"[१]

५. कार्यशीलता सिद्धान्त—हम जानते हैं कि जीवन एक प्रगति की प्रक्रिया है। इस प्रगति के उपक्रम होते हैं, जो एक के बाद एक आते हैं। इनमें से प्रत्येक उपक्रम की अपनी विशेष आवश्यकतायें होती हैं। तो, जैसा कि हम देख चुके हैं प्रगति और शिक्षा-प्राप्ति वही होती है जहाँ कार्यशीलता हो। इसलिये पाठ्यक्रम को यदि प्रगति के विभिन्न उपक्रमों की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है तो वह अपना कार्य तभी पूरा कर सकता है जब उसे कार्यशीलता और अनुभव, अर्थात् प्रत्येक उपक्रम की विशेष कार्यशीलता तथा अनुभव के आधार पर बनाया जाये।

"जान डेवी के शब्दों में...वर्तमान शिक्षा सम्बन्धी परिस्थिति की कुञ्जी

---

१. एफ० स्मिथ ऐण्ड ए० एस० हैरीसन—प्रिन्सिपुल्ज ऑव क्लास टीचिंग—पृ० ३२ (मैकमिलन)

व्यवहारिक तथा दार्शनिक दोनों रूपों से यही है कि पाठशाला की सामग्री तथा पद्धतियों का क्रमिक पुनर्निर्माण किया जाये। जिसमें सामाजिक धन्धों के प्रतिरूप विभिन्न ढंग के व्यवसायों का उपयोग किया जा सके और उनका बौद्धिक तथा नैतिक सार समझ लाया जा सके। जीवन से पृथक, पाठ प्राप्त करने के स्थान के बदले हमें एक सूक्ष्म रूप में सामाजिक समूह प्राप्त है जिसमें अध्ययन तथा प्रगति वर्तमान साझे वाले अनुभव के वृत्तान्त हैं। खेल के मैदान, दुकान, कार्य के कमरे और अनुसंधानालय केवल युवकों की स्वाभाविक कार्यशीलता पूर्ण-प्रवृत्तियों का पथ-प्रदर्शन ही नहीं करते, वरन् उनमें आदान-प्रदान, संचार तथा सहयोग भी निहित होता है।

"अब तक मौखिक शिक्षण, निश्चित रूपधारी विषयों तथा पुस्तकों द्वारा शिक्षा प्राप्ति पर जो पहले अत्यधिक निर्भर किया जाता था, आज उससे हटने तथा शिशु की वास्तविक रुचियों के अनुकूल और भी विविध तथा बहुअंगी व्यक्तिगत कार्यशीलताओं की ओर अग्रसर होने की सामान्य प्रवृत्ति प्रतीत होती है। यह तथ्य सम्भवतः अधिकतम सरलता तथा स्पष्टता से हैडो की प्रारम्भिक पाठ-शाला सम्बन्धी रिपोर्ट में प्रस्तुत किया गया है कि पाठ्यक्रम का निर्माण कार्य-शीलता तथा अनुभव के आधार पर होना चाहिये, प्राप्त की जाने वाले ज्ञान तथा संचय किये जाने वाले तथ्यों के आधार पर नहीं।"[1]

हम देखते हैं कि ऐबट और वुड की रिपोर्ट में भी इसी तथ्य पर जोर दिया गया है।

'यह चीज अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, कि लघु शिशुओं को लगातार लम्बे समय तक चुपचाप न बैठना पड़े। यह सत्य है कि छोटे बच्चे को विश्राम की आवश्यकता होती है, परन्तु यदि उसे पाठशाला में अपनी उपस्थिति से दैनिक सन्तुष्टि प्राप्त करनी है तो उसे यह भी चाहिये कि खेले, खोज करे तथा शारीरिक रूप में कार्यशील रहे। संक्षेप में, उसे निर्देश की अपेक्षा अनुभव की अधिक आवश्यकता है।"[2]

---

१. एजुकेशन इन ए चेञ्जिग कॉमनवेल्थ—पृ० २०२—(न्यू एजुकेशन फ़ेलोशिप)

२. ए० ऐबट ऐन्ड एस० एच० वुड—रिपोर्ट ऑन वोकेशनल एजुकेशन इन इण्डिया—पृ० १०।

इस प्रकार हम जो पाठ्यक्रम निर्धारित करते हैं, उसके द्वारा शरीर तथा मस्तिष्क की कार्यशीलता निश्चित रूप से होनी चाहिये। हम देख चुके हैं कि यह कार्य परियोजना पद्धति द्वारा किस प्रकार किया जा सकता है। वास्तव में परियोजना पद्धति कोई शिक्षण-पद्धति नहीं है। यह पाठ्यक्रम निर्धारित करने का एक साधन है। इसके द्वारा यह भी निश्चित हो जाता है कि पाठ्यक्रम के केन्द्र में कोई न कोई कार्यशीलता वर्तमान रहती है और सभी विषय इस कार्यशीलता से सम्बद्ध हैं। हमें सदैव यह भी याद रखना चाहिये कि जब हम कार्यशीलता की बात करते हैं तो हम केवल शारीरिक कार्यशीलता, अथवा हस्त-कार्यशीलता ही को ध्यान में नहीं रखते, यद्यपि वह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। हम मानसिक कार्यशीलता को भी उसी में सम्मिलित करते हैं।

तो यह कार्यशीलता सम्बन्धी सिद्धान्त जो कुछ मांग करता है उसकी पूर्ति करने तथा शिशु जीवन के जिस उपक्रम में हैं, उसमें उसका विकास निश्चित बना देने के लिये आवश्यक है कि शिशु पाठशाला में जो कुछ करे, उसका जीवन से सम्बन्ध हो। यदि हम शिशु को विकास में सहायता देने का प्रयत्न कर रहे हैं, तो उसकी कार्यशीलतायें ऐसी होनी चाहियें जिनके द्वारा उसे अपना जीवन इस ढंग से निर्वाह करने में जैसी कि उससे आशा की जाती है, अर्थात अपने वातावरण के भीतर अपनी समस्त शक्तियों का सम्पूर्ण उपयोग करने में सहायता मिल सके। बहुधा देखा गया है कि शिशु पाठशाला में जिन विषयों की शिक्षा-प्राप्त करता है, उनका जीवन से किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। पाठशाला एक कृत्रिम स्थान है। यदि ऐसा है, और यदि पाठ्यक्रम इस प्रकार का है कि पाठशाला के भीतर शिशु के एक ऐसे जगत में कार्य करना पड़ता है जो उसके लिये अपरिचित है और उसका विचार अथवा कार्यशीलता के साधारण जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है तो हम अपने निमित्त मूलोद्देश्यों को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

पाठ्यक्रम को शिशुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिये। स्वभावतः उनका शिशुओं के जीवन से सम्बन्ध होता है। परन्तु पाठ्यक्रम तभी यह कार्य कर सकता है, (जैसा कि हम देख चुके हैं) जब कि उसका केन्द्र शिशु हो, विषय नहीं, अर्थात यदि हमारा मूलोद्देश्य शिशु को उन्नति करने तथा अपनी शक्तियों का विकास करने में सहायता देना हो। जब शिशु पहले पहल पाठशाला आता है तो उस समय और कुछ समय बाद तक उसे खेलने की

आवश्यकता है। खेल उसके स्वभाव की एक आवश्यकता है। वह सबसे उत्तम शिक्षा तभी प्राप्त करता है जब वह खेल के भाव से कार्य कर रहा हो। इसलिये खेल रूपी बराबर विषय उसके अध्ययन के लिये अवश्य होने चाहियें। (यद्यपि अध्ययन शब्द से शिशु की स्वतंत्र विनोदात्मक कार्यशीलता के सम्बन्ध में एक भ्रमपूर्ण आभास कराता है)। वह जिज्ञासा से भरा होता है, और इसलिये वह विषय जो इस जिज्ञासा की सन्तुष्टि करते हों, पाठ्यक्रम में अवश्य होंगे। जब हम शिशु की आवश्यकताओं को ध्यान में रखेंगे तो कार्यशीलता उपलब्ध करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी।

"शिशु के अनुभव को विस्तृत करने का एक साधन विषय-सामग्री है, परन्तु उसका चयन तथा उसकी व्यवस्था शिशु की कार्यशीलतापूर्ण आवश्यकताओं के सम्बन्ध में शिक्षक के पूर्णज्ञान द्वारा ही निर्धारित होनी चाहिये।

शिशु के विकास को एक परिवर्तनशील वातावरण द्वारा उत्पन्न विघ्नों का एक क्रम समझा जा सकता है, और उसका प्रतिवादन उस विघ्न का उन्मूलन करने अथवा स्वयं अनुकूलीकरण कर लेने के लिये होता है। यह प्रक्रिया मुख्यतः पुनरअनुकूलीकरण की प्रक्रिया होती है और शिशु एक कलाकार की भांति पुरानी सामग्री को नया रूप देकर नई वस्तु का निर्माण करता रहता है।"[1]

हम जिन सिद्धान्तों का अध्ययन कर रहे थे, जब कोई व्यक्ति उन सिद्धान्तों पर विचार करता है और एक ऐसा पाठ्यक्रम बनाने का प्रयास आरम्भ करता है तो उन सभी सिद्धान्तों को पूरा कर सके, तो तुरन्त ही उसके समक्ष यह सत्य उपस्थित हो जाता है कि पाठशाला जीवन की तो बात ही क्या, स्वयं जीवन इतना संक्षिप्त है कि एक उत्तम पाठ्यक्रम की मांग के अनुसार समस्त कार्य करना तथा समस्त वस्तुओं की शिक्षा प्राप्त कर लेना असम्भव है। हमें पाठ्यक्रम को बोझल बना देने के विरुद्ध निरन्तर पुकार सुनाई देती है। यह पुकार वर्तमान काल में बहुधा न्यायोचित होती है। प्रत्येक विशेषज्ञ हठ करता है कि उसका विषय सब से महत्वपूर्ण नहीं तो कम से कम सबसे महत्वपूर्ण विषयों में से एक अवश्य है, और उसे पाठ्यक्रम में अवश्य सम्मिलित करना चाहिये। इस प्रकार हमें विषयों की एक बहुत बड़ी संख्या को पाठ्यक्रम में

---

१. एफ० स्मिथ ऐन्ड ए० ऐस० हैरिसन—प्रिन्सिपुल्ज ऑव् क्लास टीचिंग—पृ० ३२-३ (मैकमिलन)

स्थान देने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि या तो शिशुओं पर कार्य का बोझ अत्यधिक बढ़ जाता है और वह भयंकर मानसिक अपच के रोग में फंस जाता है और या विषयों को बिलकुल ऊपरी ढंग से लिया जाता है। इस भ्रमजाल से बाहर निकलने की क्या विधि है ?

सर्वप्रथम, हमें याद रखना चाहिये कि कुछ प्रारम्भिक निपुणताओं तथा यंत्रों जैसे पढ़ना, लिखना और अंकगणित में चारों साधारण रीतियों का उपयोग को छोड़कर महत्व इसका नहीं होता कि शिशु ने जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसकी मात्रा क्या है, महत्वपूर्ण यह है कि उसने प्राप्त किस विधि से किया है। अपने शिशुओं तथा पूरे समाज के जीवन के लिये पाठशाला का मुख्य योगदान यह नहीं है कि वह अपने शिष्यों के मस्तिष्क में तथ्य का एक भंडार भर देती है, वास्तव में योगदान यह है कि वह उन्हें कार्य, चिन्तन तथा जीवन निर्वाह की पद्धतियों की प्रशिक्षा देती है। पाठशाला को 'क्या' के ज्ञान पर अपना ध्यान केन्द्रित करने की अपेक्षा 'कैसे' ज्ञान प्रदान करते रहना चाहिये। जिन तथ्यों का सीखना सभी के लिये पूर्णत्या परमावश्यक है, उनकी न्यूनतम संख्या की शिक्षा प्राप्ति के अतिरिक्त, शिशुओं के लिये महत्वपूर्ण बात यह है कि जब वह पाठशाला छोड़े तो उनकी जिज्ञासा स्थाई रूप से कार्यशील हो चुकी हो, अनुसंधान करने की इच्छा जागृत हो गई हो और यह ज्ञान हो गया हो कि तथ्यों का पता कैसे लगाया जाये, पुस्तकों का उपयोग कैसे किया जाये, अध्ययन कैसे किया जाये, कैसे तार्किक ढंग से चिन्तन किया जाये, तथ्य-सामग्री का मूल्य-निर्णय कैसे किया जाये तथा उन्हें तौला कैसे जाये और दूसरों के संग कैसे जीवन निर्वाह कार्य किया जाये। इसलिये पाठ्यक्रम निर्धारित करने में हमें दुनिया भर के सभी विषयों को सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं है। हम प्रतिरूप विषयों को सम्मिलित कर सकते हैं। हम शिशुओं को अपने सभी विषयों में तथ्यपूर्ण ज्ञान की एक भारी मात्रा उपलब्ध करने का प्रयत्न करने की अपेक्षा हमारा लक्ष्य यह हो सकता है कि भावी मानसिक साहस-कार्य के लिये मार्ग खोल दें। किये गये कार्य का गुण मुख्य तथ्य है, मात्रा नहीं।

"पाठशाला के सम्बन्ध में हमारा विचार यह होना चाहिये कि वह मुख्यतः ऐसा स्थान नहीं है जहाँ कुछ ज्ञान की प्राप्ति होती है वरन् वह ऐसा स्थान है जहाँ युवकों को कार्यशीलता के कुछ विशेष रूपों में, जो विस्तृत संसार में सब

से अधिक तथा स्थायी महत्व रखते हैं, अनुशासित किया जाता है। वह कार्यशीलतायें स्वाभाविक रूप में दो श्रेणियों में विभक्त हो जाती हैं। प्रथम वह कार्यशीलतायें हैं जो व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की परिस्थितियों की रक्षा करती हैं और उनके स्तर को बनाये रखती हैं। जैसे स्वास्थ्य तथा शारीरिक सुन्दरता, शिष्टाचार, सामाजिक व्यवस्था, नैतिकता, धर्म की रक्षा। दूसरे वह विशुद्ध सृजनात्मक कार्यशीलतायें हैं जिनको सभ्यता का ताना-बाना कहा जा सकता है।...पाठशाला के पाठ्यक्रम में इन सभी कार्यशीलताओं का प्रतिनिधित्व होना चाहिये।"[1]

विभिन्न उपक्रमों में पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये जाने वाले विषय

दो ऐसे विषय हैं (कोई अच्छा शब्द न मिलने से हम उन्हें विषय ही कहेंगे) जो पाठशाला जीवन के प्रत्येक उपक्रम में अवश्य आते रहेंगे। इनमें से एक शारीरिक कुशलता है और दूसरा धर्म। यह दोनों विशेष कम कार्यशीलता अधिक हैं, या उन्हें ऐसा होना चाहिये। उनके लिये चाहे विषय घन्टे नियुक्त किये जायें चाहे न किये जायें, परन्तु उनकी शिक्षा दी जा सकती है।

शारीरिक कुशलता जीवन में समस्त प्रगति और विकास की आधार शिला है। स्वास्थ्य-शिक्षा के लिये नियुक्त घन्टे रहेंगे अथवा नहीं रहेंगे, यह प्रश्न, उत्पन्न होने वाली विशेष समस्याओं पर निर्भर करेगा। शारीरिक कुशलता का सिद्धान्त तो बहुत कुछ सामान्य विज्ञान ही में वर्णित हो जायेगा। परन्तु इस कार्यशीलता में प्रगति मुख्यतः उचित आदतों के निर्माण की समस्या है। शारीरिक कुशलता की प्रत्येक शिक्षक को प्रत्येक कक्षा के भीतर तथा पाठशाला में और पाठशाला के बाहर चिन्ता होनी चाहिये। यह घर की उत्तम परिस्थितियों, खेलकूद की उचित व्यवस्था और आवश्यक व्यायाम पर निर्भर करती है। इस विषय पर और भी अधिक ध्यान केवल इस कारण देना होगा क्योंकि उसे दूसरे विषयों के समान एक विषय नहीं माना जाता जिसके घन्टे आदि निश्चित हों, और फिर उसकी उतनी नियमित शिक्षा भी नहीं दी जाती।

---

१. पी० नन—एजुकेशन, इट्स डेटा ऐण्ड फ़र्स्ट प्रिंसिपुल्ज, पृ० २११ (ई० आर्नल्ड)

शारीरिक कुशलता में नियमित शारीरिक प्रशिक्षा भी सम्मिलित होगी छोटे शिष्यों को मुख्यतः खेलों द्वारा और बड़े शिष्यों को खेलों के साथ- नियमित व्यायाम द्वारा प्राप्त होती है । बहुत छोटे शिशुओं की शारी प्रशिक्षा पूर्णत्या खेलों तथा खेल के अभ्यासों द्वारा होगी । शारीरिक कुश में ऐसी चीजें भी सम्मिलित हैं जैसे आसनों की प्रशिक्षा, भार, लम्बाई क का हिसाब रखना, स्वास्थ्य क्लब, रेडक्रास सोसाइटियाँ, विश्राम के घन्टे, थ स्वच्छता और कमरों, कपड़ों, शरीर तथा पास पड़ोस की सफाई पर ध्यान आदि आदि । आवश्यकता पड़ने पर शिक्षक यथाशक्ति रोक-थाम तथा तोड़ उपाय भी करेंगे और इसके लिये या तो वह स्वयं रेडक्रास सोसाइटी अ पाठशाला में औषधालय को सहायता से जो कुछ कर सकते हैं करेंगे या डाक्टर मिल सकेगा तो उससे परामर्श कर और उसकी सहायता से जो कर सकते हैं करेंगे । पाठशाला में प्रत्येक शिशु के लिये नियमित दैनिक की उत्तम व्यवस्था करने पर विशेष ध्यान देना होगा । शारीरिक कुशलत सम्बन्ध में पाठशाला के भीतर कोई दूसरी कार्यशीलता सम्भवतः इतनी मा पूर्ण नहीं है जितनी यह होती है ।

धर्म एक अधिक कठिन समस्या है । फिर भी बहुत कम व्यक्ति ऐसे जो यह कहेंगे कि उसे पाठ्यक्रम के भीतर प्रत्येक उपक्रम में स्थान नहीं मि चाहिये । यह भी एक ऐसा विषय है जिसका की विशेष घन्टे नियुक्त किये भी शिक्षा दी जा सकती है । इसी के साथ-साथ धर्म तथा पूजन की शिक्ष लिये प्रतिदिन छोटे घन्टे निश्चित होने चाहियें । इससे भिन्न-भिन्न धर्म-समु के शिष्यों वाली पाठशालाओं के लिये एक जटिल समस्या खड़ी हो जाती परन्तु, ऐसे स्थान पर भी जहाँ निश्चित धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा स धार्मिक भाव उत्पन्न कर देना सम्भव होता है ।

"धर्म में दो तथ्य हैं, जिनमें भली-भांति अन्तर करना होगा । एक के धार्मिक भाव कह सकते हैं और दूसरा धर्म शास्त्र है जो उन पदार्थों का सिद्ध है जिनके द्वारा धार्मिक भाव को जागृत किया जाता है । धार्मिक भाव विशेषता यह है कि वह स्वीकार करती है कि कुछ परम तथा विश्व व्यापी की वस्तुएँ अवश्य वर्तमान हैं जो ठीक ही हमारी श्रद्धा तथा सेवा की हैं । उसी के साथ यह भावना भी उसमें होती है कि हम चाहे अपनी श हीनता तथा अयोग्यता के कारण हम कभी उनके 'अहितकारी सेवक' भ

बन जायें परन्तु उनका मान न करना अथवा उनके प्रति अपनी भक्ति का पालन न करना लज्जाजनक कार्य तथा कलंक होगा। इस प्रकार मनुष्य सत्य अथवा कला या मानव जाति की प्रेमपूर्ण सेवा के प्रति भक्ति के द्वारा अपने धार्मिक भाव को प्रकट कर सकता है। जैसा कि हम कह चुके हैं, इस प्रकार की भक्ति तथा सेवा की भावना एक दैवी कर्तव्य के रूप में उत्पन्न होती है, जिसको वह टाल नहीं सकता। यद्यपि उसका रूप, व्यक्तित्व के रूप के अनुसार, सभी के लिए समान होना आवश्यक नहीं है।"[१]

यह धार्मिक भाव सभी पाठशालाओं में होना चाहिये। इसके लिये कोई घन्टे नहीं होंगे, परन्तु शिशु पाठशाला में रहते हुये किसी भी या प्रत्येक घन्टे में उसे 'पकड़' लेंगे। यह पाठ्यक्रम में भी प्रथम से दशम कक्षा तक सम्मिलित रहेगा चाहे उसका रूप अस्पष्ट ही क्यों न हो। जिन पाठशालाओं में भिन्न-भिन्न समुदायों के शिष्यों अथवा अपक्षपाती प्रबंध का झंझट न हो, इस अस्पष्ट प्रभाव की पाठशाला ही में नियमित धार्मिक शिक्षा द्वारा पूर्ति की जा सकती है।

प्रारम्भिक पाठशाला में हस्तकला कार्य को यथा सम्भव कार्यों का केन्द्र, विशेषकर पहले तीन वर्षों में, रहना चाहिये। यह कार्य परियोजना पद्धति के द्वारा सबसे अधिक सफलता से हो सकता है। यह सृजनात्मक कार्य है और इसमें कोई कठिनाई नहीं पड़ती। सृजनात्मक कार्य दूसरे विषयों के सम्बन्ध में भी करना चाहिये, परन्तु उसमें अधिक चिन्तन तथा प्रयोजन की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ तो हमें एक सृजनात्मक रचनात्मक कार्य ऐसे रूप में प्राप्त है जो प्रत्येक शिशु को अत्यन्त आकर्षक लगता है। याद रखना चाहिये कि प्रारम्भिक पाठशाला में हस्तकला कार्य व्यवसायिक नहीं होता। प्रारम्भिक पाठशाला का लक्ष्य ऐसे व्यक्ति तैयार करना नहीं है जो अपनी जीविका प्राप्त करने के लिये प्रशिक्षित हों। ऐसे कार्य का मूल्य केवल उसकी सृजनात्मिकता तथा इसमें निहित है कि किसी कार्य के प्रयोजन तथा पूर्ति मे वह क्या प्रशिक्षा देती है, हाथ और आँख का कैसे प्रसाधन करती है, और मस्तिष्क तथा शरीर की कार्यशीलता के लिये क्या अवसर उपलब्ध करती है। हस्तकला कार्य का

---

१. पी० नन्न—एजुकेशन, इट्स डेटा ऐन्ड फर्स्ट प्रिन्सिपुल्ज—पृ० २१३ (इ० आर्नल्ड)

बहुत विस्तृत अर्थ लेना चाहिये। वह काष्ठकला और बुनाई जैसी एक दो प्रसिद्ध कार्यशीलताओं तक सीमित नहीं है। हाथ और शरीर की कोई भी कार्यशीलता सम्मिलित की जा सकती है। इसमें रेखाङ्कन तथा कला भी सम्मिलित है।

एक बार फिर ऐबट तथा बुड की रिपोर्ट का उद्धरण लीजिये।

"शारीरिक कार्यशीलताओं को पाठ्यक्रम में स्थान इसलिये मिलना नहीं चाहिये कि शिशु, अथवा उनमें से कुछ, अपनी जीवका शारीरिक श्रम द्वारा उपार्जित कर लेंगे, वरन् यह स्थान इसलिये मिलना चाहिये कि निर्माण अथवा सृजन की इच्छा की सन्तुष्टि संतुलित विकास के लिये आवश्यक है। वास्तव में बहुधा यह बालक के शान्त-चित्त की कुञ्जी होती है।

"शारीरिक अथवा रचनात्मक कार्य उस समय शिक्षापूर्ण होता है जब उसकी योजना बनती रहती है और जब उसको सचमुच कार्यान्वित करने का समय आता है। यह कुछ अन्य कारणों से भी मूल्यवान है। यह शिष्यों द्वारा ऐसी रुचियों का निर्माण करा सकता है जो अवकाश के समय में उनके आड़े आयेंगी। और शिक्षा का एक ऐसे साधन के रूप में जो नवयुवक को असहनीय अवकाश काल, अर्थात् बेरोजगारी को मानपूर्ण ढंग से सहन करने के योग्य बना दे, जितना भी महत्व समझा जाये कम है। इसके अतिरिक्त शारीरिक कार्य बालक को चरपरापन प्रदान कर देता है, जो सामान्य पाठशालाओं से व्यवसायिक पाठशालाओं में जाने वालों के लिये अत्यन्त बहुमूल्य होता है।

"शारीरिक कार्य से हमारा अर्थ केवल बढ़ई का काम अथवा बुनाई या ऐसी कोई दूसरी कार्यशीलता, जिसे कोई निश्चित नाम दिया जा सके, नहीं है। हम इसमें किसी भी ऐसे कार्य को सम्मिलित कर लेते हैं जिसमें बालक की निपुणता, निर्णय-शक्ति, अवलोकन तथा अनुमान-शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती हो, और जो इन सभी या इनमें से कुछ को एक रचनात्मक परिश्रम के भीतर मिला देता हो जिसमें कि वह एक ऐसे उद्देश्य की प्राप्ति कर सके, जिसकी उसे स्वयं इच्छा है। हो सकता है कि यह उद्देश्य किसी ऐसी वस्तु की रचना करना हो जिसे वह अपने पास रखना अथवा दूसरों को देना चाहता हो। या यह उद्देश्य गणित, विज्ञान अथवा भूगोल के किसी सिद्धान्त को ठोस सामग्री में रूपान्तरित करना भी हो सकता है। जिस वस्तु की रचना होती है, अथवा जो कार्य किया जाता है उसका इतना शिक्षात्मक मूल्य नहीं होता जितना कि

कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक संयोजन का होता है। बहुत से बालक जिन्हें 'ठस और पिछड़ा हुआ' गिन लिया गया है, जब प्रशिक्षण का जोर शिक्षा-प्राप्ति से हट कर करने की ओर आता है तो वह आश्चर्यजनक व्यवहारिक योग्यता का परिचय देते हैं।"[1]

बहुधा हम देखते हैं कि बालक 'शारीरिक कार्य' को पसन्द नहीं करते। वह अपना कोट उतार कर काम में लग जाना नहीं चाहते। यह तथ्य ग्रामीण पाठशालाओं की अपेक्षा नगरों की पाठशालाओं के लिये सम्भवतः अधिक सत्य है। परन्तु जहाँ कहीं भी ऐसी परिस्थिति तथा ऐसा दृष्टिकोण प्रतीत हो, वहाँ वास्तविक कारण यह होता है कि शिशुओं को रचनात्मक हस्तकार्य करने के जो अवसर मिलने चाहियें थे, वह उन्हें पाठशाला के प्रारम्भ ही से प्राप्त नहीं हुये। वह अवसर और समय तो चूक गया और धीरे-धीरे इस प्रकार की कार्य-शीलता की इच्छा भी लुप्त हो गई। यह भी स्वतः भावना की क्षणिकता की एक समस्या है। यदि हस्तकार्य को केवल प्रारम्भिक पाठशाला नहीं, वरन् प्रत्येक पाठशाला के पाठ्यक्रम में स्थान मिलता रहे, तो थोड़े ही समय में हमें उसके प्रति एक बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण दिखाई देगा। जब वह पाठशाला में रखा जाये तो यह याद रखना चाहिये कि कारखाना (वर्कशाप) एक ऐसा स्थान होना चाहिये जहाँ शिशु किसी ऐसी वस्तु पर कार्य कर सके जिसकी वह स्वयं रचना करना चाहता है। कार्य की योजनायें अधिक नियमनिष्ठ नहीं होनी चाहियें। उन्हें लचीली होना चाहिये और यद्यपि प्राकृतिक रूप से कुछ चीजें ऐसी हैं, जिन्हें यदि बालक जो कुछ कर रहा है उसमें सफलता प्राप्त करने की इच्छा रखता है तो अवश्य सीखना ही पड़ेगा, तथापि उसे उचित सीमाओं के भीतर यथा सम्भव स्वतंत्रता दे देनी चाहिये कि स्वयं उस विशेष वस्तु को चुन ले जिसे वह बनाना अथवा करना चाहता है।

जैसा कि देखा जा चुका है, हस्तकार्य उन लोगों के विशेष रूप से उपयोगी होता है जो अप्रयोगात्मक विषयों में पिछड़े हुये समझे जाते हैं। शिक्षकों को, इसीलिये, चाहिये कि ऐसे शिशुओं को अधिक हस्तकार्य दें। शिक्षक जब शिष्यों को आदेश दे रहे हों कि वह कौन सा विशेष हस्तकार्य लें, तो उन्हें अपने शिशुओं की विशिष्ट क्षमताओं का भी थोड़ा बहुत पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये।

---

१. ए० ऐबट ऐण्ड एस० एच० वुड—रिपोर्ट ऑन वोकेशनल एजुकेशन इन इन्डिया—पृ० १६-२०

स्वभावतः मातृभाषा का प्रारम्भिक पाठशाला के पाठ्यक्रम में प्राधान्य रहेगा। सदैव याद रखना चाहिये कि यद्यपि मातृभाषा पाठ्यक्रम के भीतर एक पृथक विषय के रूप में आयेगी, परन्तु वह **प्रत्येक** विषय का एक अंग और आधार शिला होगी। प्रत्येक शिक्षक जिस भी विषय की शिक्षा देता है, अपने प्रत्येक विषय, अपने प्रत्येक पाठ में मातृभाषा का शिक्षक होता है।

प्रारम्भिक पाठशाला के पाठ्यक्रम में दूसरे विषय अङ्कगणित, साधारण विज्ञान और सामान्य ज्ञान होंगे, जिनमें भूगोल, नागरिक शास्त्र तथा इतिहास सम्मिलित हैं। (इतिहास को प्रथम दो कक्षाओं में मातृभाषा से सम्बद्ध किया जा सकता है, परन्तु आगे चलकर उसके अलग घन्टे होने चाहियें)। संगीत का भी चाहे पाठ्क्रम के एक भाग अथवा पाठशाला की अतिरिक्त कार्य-शीलता के रूप में स्थान होगा।

प्रारम्भिक पाठशाला से अगले उपक्रम की ओर अवस्था ग्यारह-बारह वर्ष की आयु में होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि प्रारम्भिक पाठशाला की पढ़ाई साधारणतः छः वर्ष की होनी चाहिये और एक वर्ष तैयारी—कक्षा का हो। अभी तक भारत में प्रारम्भिक पाठशालाओं की पढ़ाई साधारणतः चार-पांच वर्ष की होती है। आर्थिक कारणों से प्रारम्भिक पाठशालाओं की पढ़ाई की अवधि बढ़ाने का साधारणतः प्रश्न नहीं उठता।

अगला उपक्रम निम्न माध्यमिक अथवा माध्यमिक पाठशाला का होता है। इसकी तीन-वर्षीय पढ़ाई होनी चाहिये। इस उपक्रम में पाठ्यक्रम के भीतर निम्नलिखित विषय सम्मिलित होने चाहियें—मातृभाषा, गणित, सामान्य विज्ञान (जिसमें कृषि शास्त्र तथा प्रारम्भिक जीवशास्त्र भी सम्मिलित रहे), सामान्य ज्ञान (भूगोल, इतिहास, नागरिक शास्त्र), अंग्रेजी, कला तथा हस्तकला (संगीत सहित)। कुछ लोग इसी उपक्रम में कोई प्राचीन भाषा, अथवा अन्य आधुनिक भाषा भी सम्मिलित करना चाहेंगे। यदि यह वृद्धि करनी है, तो माध्यमिक उपक्रम के अन्तिम खण्ड में करनी चाहिये। यदि यह वृद्धि उच्चतर पाठशाला के उपक्रम के लिये छोड़ दी जाये तो निश्चय ही अधिक लाभ होगा।

दो-एक शब्द अंग्रेजी के स्थान के सम्बन्ध में भी सुन लीजिये। अंग्रेजी को एक द्वितीय भाषा होना चाहिये और उसे निश्चित रूप से अपने स्थान पर रखा जाये। दूसरे सभी विषयों में समस्त शिक्षण मातृभाषा में होना चाहिये। ग्रामीण पाठशालाओं में अंग्रेजी ऐच्छिक रहे, अनिवार्य न हो।

हस्तकला काय का पाठ्यक्रम में श्रेष्ठ स्थान बना रहना चाहिये। पाठशालाओं को वर्तमान काल की भांति मुख्यतः अप्रोगिक-सैद्धान्तिक दिशा में विकास करने की आज्ञा नहीं देनी चाहिये। जहाँ कहीं सम्भव हो सृजनात्मक तथा रचनात्मक कार्य पर पूरा जोर देना चाहिये। इसका पूरा-पूरा प्रबंध होना चाहिये कि पाठ्यक्रम का शिष्यों के दैनिक जीवन से सम्बन्ध विच्छेद न होने पाये।

'शारीरिक तथा मानसिक कार्य के अवास्तविक भेद के फलस्वरूप 'माध्यमिक' श्रेणी की पाठशाओं की प्रगति में बाधा पड़ गई है। प्रकट रूप से यह पाठशालायें एक मनुष्यत्वपूर्ण तथा उदार शिक्षा, अर्थात् व्यक्तिगत आत्म-विकास पर उचित जोर देने वाली शिक्षा प्रदान करने का उद्देश्य लेकर स्थापित हुई थीं। व्यवहारिक शारीरिक कार्य की अपेक्षा मानसिक कार्य को अधिक महत्व प्रदान कर देने के कारण इन पाठशालाओं ने एक गणित शास्त्रीय-भाषात्मक प्रशिक्षण पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दिया है, जिसके द्वारा तथा कथित "बौद्धिक मनोशक्तियों" को अनुशासित किया जा सके। फलतः उनके पाठयक्रम बहुधा अपने शिष्यों के बहुमत के दैनिक व्यवहारिक जीवन से लगभग पूरी तरह अलग कट गये हैं। सबसे पहले तो मानसिक और शारीशिक कार्य का भेद अनुचित है। सभी सचेत मानवीय कार्यशीलता के भीतर मानसिक तथा शारीरिक दोनों तत्व निहित रहते हैं। वास्तव में एक माध्यमिक पाठशाला का शिष्य को गणित के सूत्र और व्याकरण के नियम स्मरण करने में अपने अवलोकन, निर्णय-शक्ति, रुचि तथा बुद्धि का जितना उपयोग करता है, उससे कहीं अधिक एक निपुण शिल्पकार को किसी रचनात्मक शिल्पकार्य में व्यस्त होकर करना पड़ता है। दूसरे, कोई भी शिक्षा उस समय तक सचमुच उदारतापूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि स्वयं शिष्य में अपने कार्य के लिये अपने आप ही उत्साहपूर्ण रुचि न उत्पन्न हो जाये। बहुत से शिष्यों में रचनात्मक, व्यवहारिक, तथा कलापूर्ण क्षमतायें वर्तमान होती हैं, जिनकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति तथा सन्तुष्टि केवल सम्बंधित कार्यशीलताओं के द्वारा ही हो सकती है। इसी कारण **कुछ शिष्यों के लिये** एक सुव्यवस्थित व्यवहारिक पाठ्यक्रम, एक सैद्धान्तिक गणितशास्त्रीय-भाषात्मक पाठ्यक्रम की अपेक्षा उदार शिक्षण का अधिक उपयोगी माध्यम होता है।[1]

---

१. ए० पिन्सेन्ट—दि प्रिन्सिपुल्ज ऑव टीचिन्ग मेथड, पृ० २१ (हैरप)

उपरोक्त तथ्य इंगलैंड की परिस्थितियों के सम्बंध में लिखे गये थे। यहाँ यह कहना अनावश्यक है कि उनका एक-एक शब्द इस देश की पाठशालाओं की परिस्थितियों के लिये सत्य सिद्ध होता है।

अब हम उच्चतर पाठशाला पर आते हैं। उच्चतर पाठशाला का पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय द्वारा वशीभूत, वरन् प्रशासित होता है। और जब तक कि इस अत्यन्त अस्वस्थ परिस्थिति का अन्त नहीं किया जाता, उच्चतर पाठशाला की शिक्षा को जिस प्रकार का होना चाहिये, कभी भी नहीं हो सकती। प्रवेशिका (हाई स्कूल) परीक्षा द्वारा ही यह पूर्ण निर्णय होता है पाठशाला जीवन के अन्तिम दो वर्षों में **सभी** शिष्यों को बिना यह देखे कि वह विश्वविद्यालय में जाने वाले हों अथवा नहीं, क्या शिक्षा दी जाये। विश्वविद्यालय के लिये उन शर्तों का निर्धारित कर देना तो पूर्णत्या उचित है जिनके अनुसार वह अपनी कक्षाओं में विद्यार्थियों को भर्ती करेगा। परन्तु उसके लिये उच्चतर उपक्रम में पाठशाला में पढ़ने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये शिक्षा की शर्तें निर्धारित करना पूर्णत्या अनुचित है। उच्चतर पाठशालाओं में अधिकांश शिष्यों के पाठ्यक्रम इस प्रकार का होना चाहिये कि वह प्रवेशिका (हाई स्कूल) परीक्षा की छाया में निर्धारित न हो वरन् इस दृष्टि से तैयार किया जाए कि जो उच्चतर पाठशाला से सफल होकर अपनी नियमित शिक्षा समाप्त करने वाले हैं उन्हें उत्तम से उत्तम शिक्षा प्राप्त हो सके।

वर्तमान परिस्थिति में विश्वविद्यालय के प्राधान्य से बचने का सम्भवतः केवल उपाय है कि शिक्षा विभागों की स्वयं अपनी-अपनी परीक्षायें हों। आज कल जिस प्रकार की परीक्षायें होती हैं, जब तक उनकी प्रथा बनी रहती है, उनका पढ़ाये जाने वाले विषयों पर भारी प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। यदि हम चाहते हैं कि उच्चतर पाठशाला में एक उत्तम पाठ्यक्रम तथा उत्तम पाठ्य-व्यूह रहे, तो एक उत्तम प्रस्थान परीक्षा भी होनी चाहिये। यदि शिक्षा विभाग स्वयं अपनी प्रस्थान परीक्षायें चालू कर दें जिनमें वह लोग बैठें जो उच्चतर पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् विश्वविद्यालय में प्रविष्ट नहीं होना चाहते, और जो लोग सफल हो जायें उन्हें प्रमाण-पत्र प्रदान कर दिया जाये, तो वह धीरे-धीरे हाई स्कूल परीक्षा तथा हाई स्कूल प्रमाण पत्र को पदच्युत कर देंगे और उन्हें अपने अपने उचित स्थान पर पहुँचा देंगे, जिसका अर्थ यह है कि उन्हें विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिये आवश्यक योग्य बनाकर रख देंगे। जो लोग विश्वद्यालय में नहीं जाना चाहते, बल्कि इस

समय केवल हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण होना चाहते हैं, जिससे कि वह कोई ऐसा कार्य कर सकें जिसमें हाई स्कूल तक की शिक्षा की आवश्यकता होती है, उन सब के लिये विभागीय परीक्षा अत्यन्त उपयोगी होगी, क्योंकि इस प्रकार वह उच्चतर पाठशाला में एक ऐसा कोर्स ले सकेगा जो उन समस्त नियमों के विरुद्ध नहीं होगा जिन पर पाठ्यक्रम को आधारित होना चाहिये।

तो फिर अब हम उन विषयों को लेते हैं जिनको उच्चतर पाठशाला के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिये जो उस आयु के शिष्यों की उस विकास के उपक्रम पर आवश्यकताओं की वास्तव में पूर्ति कर सकेंगे।

१. मातृभाषा को पाठ्यक्रम के भीतर एक प्रतिष्ठित स्थान मिलना चाहिये। यह स्थान आज जितना है उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ होना चाहिये। शिक्षण मातृभाषा में हो और निम्न माध्यमिक तथा प्रारम्भिक पाठशाला की भांति ही याद रखना चाहिये कि यद्यपि उसे एक पृथक विषय माना जाता है परन्तु वह एक पृथक विषय उतना नहीं जितना कि पूरे पाठ्यक्रम की आधार शिला है। प्रत्येक शिक्षक मातृभाषा का शिक्षक होता है। मातृभाषा में सृजनात्मक कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये विशेष रूप से प्रयत्न करना चाहिये।

२. कला तथा शिल्पकला को भी उच्चतर पाठशाला के पाठ्यक्रम में प्रतिष्ठित स्थान मिलना चाहिये। इस उपक्रम में शिष्यों को किसी एक विशेष कला अथवा शिल्पकला में विशेष निपुणता प्राप्त करने की आज्ञा होनी चाहिये।

३. गणित का भी पाठ्यक्रम में स्थान होगा। परन्तु जो गणित पढ़ाई जाये उसका वर्तमान काल की अपेक्षा जीवन से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध होना चाहिये। जब शिशु पाठशाला छोड़ता है तो पढ़ाई हुई बहुत कुछ गणित उसके लिये व्यर्थ हो जाती है और उसके द्वारा प्राप्त तथा कथित मानसिक प्रशिक्षा केवल उसी समय रूपान्तरित होती है. जब विषय-सामग्री समान हो अथवा जहाँ कार्य की समान पद्धतियों का प्रयोग हो सकता हो और फिर यह भी कि ऐसी पद्धतियों के मौलिक तत्वों की शिष्यों के समक्ष व्याख्या भी की जा चुकी हो। अधिकतर प्रशिक्षा का रूपान्तरित होना अत्यन्त कम होता है और वास्तव में उस पर जितना परिश्रम तथा समय व्यय होता, उसको देखते हुए उसका मूल्य कुछ भी नहीं होता। गणित के पाठ्य-ब्यूह को बहुत अधिक सरल बनाने की आवश्यकता है। उसकी शिक्षा एक यंत्र के रूप में देनी चाहिये जो हस्तकला कार्य तथा जीवन के साधारण व्यवहार में उपयोगी होता है। इससे अधिक उसका

महत्व नहीं होना चाहिये। इससे अधिक विशेषज्ञ का कार्य है।

४. सामान्य विज्ञान की निम्न माध्यमिक पाठशाला की भांति ही शिक्षा देनी चाहिये जिसमें किसी एक विशेष विज्ञान में विशेषज्ञ बनने की सम्भावना भी हो।

५. सामान्य ज्ञान, जिसमें इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र सम्मिलित हैं, पाठ्यव्यूह का एक और मुख्य अंग होगा।

६. अंग्रेजी एक द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाई जायेगी और वर्तमान काल की अपेक्षा मौखिक कार्य पर अधिक ध्यान दिया जायेगा।

यह पाठ्यक्रम उस प्रकार की शिक्षा प्रदान करेगी जिसकी नवयुवकों को आवश्यकता है। जहाँ कहीं सम्भव हो प्रत्येक विषय में सृजनात्मक कार्य को प्रोत्साहित करना चाहिये और पाठशाला में शिष्य के परिश्रम का मूल्याङ्कन करते समय, इस सम्बन्ध में दिखलाई गई उत्सुकता को भी महत्व देना चाहिये। ऐसी पढ़ाई के अन्त पर होने वाली परीक्षा में कला तथा शिल्प की परीक्षा भी सम्मिलित होनी चाहिये।

जो लोग विशेषज्ञ बनना चाहते हैं, अर्थात् जो विश्वविद्यालय में जाना चाहते हैं, वह एक अन्य पढ़ाई (कोर्स) ले सकेंगे, जिसके द्वारा विश्वविद्यालय की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी। गणित की पढ़ाई लगभग गणित की वर्तमान पढ़ाई के समान रहेगी। एक प्राचीन भाषा ली जा सकती है और अंग्रेजी पर और अधिक समय देना होगा। इस विशेषज्ञतापूर्ण पढ़ाई में भी कला तथा शिल्प का एक स्थान होना चाहिये। विज्ञान प्रत्येक विद्यार्थी को लेना चाहिये, यद्यपि स्वयं विषय सामान्य विज्ञान होगा और यदि आवश्यक हुआ तो पूरे विषय को विज्ञान की एक दो शाखाओं तक सीमित रखने की अपेक्षा, किसी एक शाखा में विशेषज्ञता प्राप्त करने की सुविधा भी रहेगी।

पाठ्यक्रम की इस व्यवस्था के फलस्वरूप पाठशालाओं में पृथक-पृथक पढ़ाइयों की आवश्यकता पड़ेगी। वर्तमान उपक्रम में यह अनिवार्य है। प्रश्न यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार की पाठशालायें हों अथवा एक ही पाठशाला में कई-कई पढ़ाइयाँ हों। दूसरी व्यवस्था सम्भवतः अधिक उत्तम व्यवस्था है। कुछ पाठशालाओं के भीतर कुछ हस्तकलाओं में विशेषज्ञता प्राप्त करने की सुविधा होनी चाहिये जिससे कि दूसरे कार्य के संग-संग व्यवसायिक शिक्षा भी दी जा सके। कर्मचारियों तथा सामग्री की व्यवस्था में आर्थिक कठिनाइयों के कारण

ऐसा करना सभी पाठशालाओं के लिये सम्भव नहीं होगा। परन्तु जहाँ-तहाँ पाठशालाओं में ऐसा अवश्य होना चाहिये।

प्रश्न उठता है कि ग्रामीण तथा नागरिक पाठशालाओं के लिये भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम होने चाहियें अथवा नहीं। सामान्य मत तो यही है कि दोनों प्रकार की पाठशालाओं के लिये केवल एक ही पाठ्यक्रम होना चाहिये, परन्तु कुछ विषयों में सारतत्व पाठशाला के वातावरण के अनुसार थोड़ा बहुत भिन्न रहेगा। उदाहरणतः हस्तकला को प्रत्येक पाठशाला के पाठ्यक्रम में, चाहे वह ग्रामीण हो अथवा नागरिक, स्थान प्राप्त होना चाहिये, परन्तु पाठशाला में पढ़ाई जाने वाली हस्तकलाओं में पाठशाला के कार्य-स्थल के अनुसार अन्तर होगा। नागरिक शास्त्र की शिक्षा ग्रामीण तथा नागरिक दोनों पाठशालाओं में दी जायेगी, परन्तु उनका सारतत्व भिन्न होगा। उदाहरणतः नगर का बालक को दमकल (आग बुझाने वाली टुकड़ी) के सम्बन्ध में कुछ सीखना होगा परन्तु यह ग्रामीण बालक की दृष्टि के बाहर होगा, जिसको स्वयं पशु-पालन के सम्बन्ध में कुछ शिक्षा प्राप्त करनी होगी। फिर भी सामान्य सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं होगा। जिन सिद्धान्तों पर पाठ्यक्रम आधारित होता है वह ग्रामीण तथा नागरिक दोनों ही पाठशालाओं पर समान लागू होते हैं।

यह अत्यन्त अनुचित बात होगी कि पाठ्यक्रमों में इस प्रकार का भेद उत्पन्न किया जाये जिसके फलस्वरूप नगर और ग्राम के बीच आज जो खाई पड़ी हुई है वह और भी गहरी हो। सभी एक देश के नागरिक हैं और हमें कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिसके फलस्वरूप हमारा शिशु दो डेरों में बँट जायें।

नारी शिक्षा समिति की रिपोर्ट के उद्धरण के अनुसार :—

"इसके अतिरिक्त, कभी-कभी मांग की जाती है कि ग्रामीण प्रारम्भिक पाठशाला का पाठ्यक्रम नागरिक पाठशाला के पाठ्यक्रम जैसा नहीं होना चाहिये। समिति ने शिशु को कार्यशीलताओं को उसके वातावरण से सम्बद्ध करने के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे यह परिणाम निकलता है कि विभिन्न विषयों के सारतत्व पर जोर में पाठशालाओं के कार्य स्थल के अनुसार अन्तर होगा। इस प्रकार एक नागरिक पाठशाला में उद्योग तथा सम्बन्धित कार्यशीलताओं पर जोर देने के अधिक अवसर उपलब्ध करेगा, जब कि ग्रामीण पाठशाला में खुले मैदान की कार्यशीलता, बगीचा लगाने की कला और

सम्बन्धित विषयों के लिये अधिक सुविधायें प्राप्त होंगी। यह विषयों के अन्तर का उतना प्रश्न नहीं है, जितना कि एक ही विषय के भीतर उचित सारतत्व पर जोर देने का।"

एक अंग्रेजी विचार के उद्धरण के अनुसार :—

"हम इस विचार से सहमत नहीं हैं जो कभी-कभी प्रस्तुत किया जाता है कि ग्रामीण पाठशालाओं के लिये एक विशेष पाठ्यक्रम की रचना होनी चाहिये। यह तो और भी अनुचित होगा कि ग्राम्य शिक्षा को नागरिक बना दिया जाये। पाठशाला का कार्य उत्तम मनुष्य का निर्माण करना है; ग्रामीण, अथवा नागरिक नहीं। यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि ग्रामीण शिशुओं की एक बड़ी संख्या आगे चलकर नगरों में निवास तथा कार्य करेगी। आवश्यक तो केवल यह है कि पाठशाला का पाठ्यक्रम शिष्यों के वातावरण का पूरा-पूरा उपयोग करे।"[१]

अमेरिकन मत भी लीजिये :—

"ग्रामीण क्षेत्रों में, प्रारम्भिक शिक्षा के मूलोद्देश्य नगर से भिन्न नहीं होते, परन्तु उनकी प्राप्ति के साधन, तथा प्राप्त सामग्री और जनसंख्या के बड़े केन्द्रों के साधन व सामग्री में अन्तर होता है।...प्रारम्भिक शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य सभी स्थानों के लिये एक ही है परन्तु उनके सारतत्व तथा प्राप्ति की पद्धति में अन्तर होता है।"[२]

'ग्राम्य शिक्षा के सामान्य मूलोद्देश्य उसी स्तर पर नागरिक शिक्षा के मूलोद्देश्यों से भिन्न नहीं होते। दोनों को चिन्ता रहती है कि अधिकतम व्यक्तिगत उन्नति तथा आत्म-अभिव्यक्ति प्राप्त हो और आने वाली पीढ़ियों में अधिक सामाजिक भलाई तथा प्रगति को आगे बढ़ाया जा सके। उसका उत्तरदायित्व शिशु तथा सामूहिक रूप से समाज के प्रति होता है, उस स्थानीय समूह के प्रति नहीं होता जिसके शिशुओं को शिक्षित किया जा रहा है।"[३]

हमें यह आशा नहीं करनी चाहिये कि प्रत्येक शिशु जिसने ग्राम में जन्म

---

१. दि प्राइमरी स्कूल पृ० २४ (बोर्ड ऑव् एजुकेशन)

२. रिसर्च इन कन्सट्रक्टिंग दि एलिमेन्ट्री स्कूल कैरिकुलम पृ० २६० थर्ड इयर बुक, (नैशनल सोसाइटी फॉर दि स्टडी ऑव् एजुकेशन)

३. थर्टीन्थ इयर बुक ऑव दि नेशनल सोसायटी फॉर दि स्टडी ऑफ एजकेशन—पृ० २३०

नया, अपने पूरे जीवन में ग्राम ही में निवास करने जा रहा है। और न तो गर में जन्म लेने वाले शिशु ही अपने सारे जीवन भर नगर ही में रहने वाला । शिक्षक अथवा अध्यापक होने के नाते हम यह निर्णय करने का भार अपने पर नहीं ले सकते हैं कि शिशु क्या बनने जा रहा है। हमारा कार्य यह है कि से अपनी शक्तियों और योग्यताओं तथा रुचियों को यथा सम्भव अधिक से धिक विकसित करने में सहायता दें। तभी वह निर्णय कर सकता है कि वह या करने जा रहा है और उसे अपना जीवन कहाँ व्यतीत करना है। यदि हमें सा करना है तो हमारा पाठ्यक्रम शिशु और उसकी आवश्यकताओं तथा म्भावनाओं द्वारा निर्धारित होगा, जैसा कि हम पहले जोर देकर कह चुके हैं, ह उस विशेष वातावरण द्वारा निर्धारित न होगा, जिसमें वह संयोगवश निवास रता है। इस प्रकार, शिशु कहीं भी रहे, परन्तु पाठ्यक्रम सामान्य सिद्धान्तों अनुसार एक ही रहेगा।

इसी प्रकार का प्रश्न बालिकाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में भी उठता है। या बालिका पाठशालाओं का पाठ्यक्रम बालकों के पाठशालाओं के पाठ्यक्रम भिन्न हो अथवा एक ही पाठशाला में बालकों और बालिकाओं के पाठ्यक्रम न्न-भिन्न हों? यहाँ भी उत्तर वही है कि सामान्य पाठ्यक्रम दोनों के लिये एक होना चाहिये। केन्द्रीय-शिक्षा-परामर्श-मण्डल की नारी शिक्षा समिति ने भी स सबन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

"समिति का विचार है कि बालकों की पाठशालाओं के पाठ्यक्रम का ालिकाओं की पाठशालाओं के पाठ्यक्रम से भिन्न होना आवश्यक नहीं है और यह आवश्यक है कि इस पाठ्यक्रम की शिक्षा देने की पद्धतियाँ भिन्न हों। सके परिणाम यह निकलता है कि समिति बालकों और बालिकाओं की पृथक-थक पाठशालाओं की अपेक्षा सम्मिलित पाठशालाओं को केवल आर्थिक ाधार पर ही नहीं वरन् शिक्षात्मक दृष्टि से अधिक उपयोगी समझती है।"

और एक पुरुष का मत यह है :—

"परन्तु भारत में सामान्य प्रवृत्ति स्त्री-पुरुषों को समान शिक्षा देने के पक्ष रही है। जैसा कि श्री० के० नटराजन का कथन है 'मेरा विश्वास है, कि मारे देश की वर्तमान परिस्थिति में जब कि नारी की मानसिक तुच्छता की क परम्परा से शताब्दियों से हमारे ऊपर छाई रही है, यह आवश्यक है, कि ब तक इसका पूर्ण रूप से उन्मूलन न हो जाये पढ़ाई के विषयों में, विशेषकर

उच्च शिक्षा में जिसके द्वार स्त्री-पुरुष सभी के लिये खुले हैं, किसी प्रकार का अन्तर न किया जाये।"[१]

बालकों और बालिकाओं के बीच कोई मानसिक भेद इससे अधिक नहीं होता जितना स्वयं बालक-बालक अथवा बालिका में होता है। लिंग-भेद से मानसिक भेद उत्पन्न नहीं होता। बालकों और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में किसी प्रकार का भेद नहीं होना चाहिये क्योंकि दोनों की आवश्यकतायें तथा रुचियाँ समान होती हैं। परन्तु उच्चतर कक्षाओं में कुछ विषयों के सार-तत्व के भीतर अन्तर करना होगा, जैसे बालिकाओं के लिये सामान्य विज्ञान में गृह-विज्ञान की ओर अधिक झुकाव होगा। शिक्षण की पद्धति में किसी प्रकार के अन्तर की आवश्यकता नहीं है।

सारांश यह है कि, पाठ्यक्रम की रचना में हमें यही आधुनिक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। पहले, एक प्रवृत्ति है कि पाठ्यक्रम का केन्द्र शिशुओं की रुचियों तथा उद्देश्यों को बनाया जाये। यह, जैसा कि हम देख चुके हैं, परियोजना पद्धति का मूलाधार है। दूसरे एक प्रवृत्ति यह है, कि पाठ्यक्रम के सभी विषयों को किसी कार्यशीलता के चारों ओर, जो शिशुओं की रुचि का केन्द्र हो, सम्बद्ध किया जाये। तीसरे आधुनिक पाठ्यक्रम में पिछले काल की अपेक्षा अधिक विस्तृत, या कम से कम अधिक प्रतिनिधि बनने की प्रवृत्ति वर्तमान होती है। यदि हम परियोजना पद्धति के द्वारा कार्य करें तो हम देखेंगे कि हमारे शिष्य धीरे-धीरे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और उनकी रुचि का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। परियोजना पद्धति पुराने ढंग के पाठ्यक्रम की अपेक्षा कहीं अधिक ज्ञान तथा सामग्री की माग शिक्षक से करती है। अन्तर में, एक स्पष्ट प्रवृत्ति यह भी है कि पाठ्यक्रम तथा पाठशाला के कार्य को व्यक्तिगत शिष्य तथा उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल बना लेने की छूट दे दी जाये। अभी तक भारत में इस प्रवृत्ति का केवल प्रारम्भ ही है, परन्तु स्पष्ट लक्षणों द्वारा यह आशा उत्पन्न होती है कि प्रगति की दिशा यही होगी।

---

१. एस० नटराजन—सोशल प्रॉब्लम्स—न० ७ आक्सफर्ड पैम्फलेट्स ऑन इण्डियन एफ़ेयर्स, पृ० २२ (ओ० यू० पी०)

शब्दानुक्रमणिका

Attitude व्यवहार, दृष्टि, दृष्टिकोण
Acquisition प्राप्ति, अर्जन
Abstract अमूर्त । भावमय
Adolescence युवावस्था, किशोरावस्था
Apprehension प्रबोधन
Association साहचर्य
Appreciation गुणांकन
Action कार्य, क्रिया
Assimilation ग्रहण, अन्तर्निहित करना
Awareness जानकारी
Academic अप्रयोगिक, सैद्धान्तिक
Ability योग्यता
Annoyance स्कुढ़न
Attached अनुलग्न
Associative tendency साहचर्यात्मक प्रवृत्ति
Attention ध्यान, अवधान
Attendant learning परिलग्न शिक्षाप्राप्ति
Accomplishment क्षमता
Alertness चौकसी
Assignment नियुक्त कार्य
Acceptance अनुमोदन
Attainment प्राप्ति
Advantage श्रेष्ठता, लाभ
Aptitude क्षमता, झुकाव
Active क्रियाशील, क्रियात्मक
Activity क्रियाशीलता, क्रियात्मिकता
Affection स्नेह
Application प्रयोग
Brain मानस, मस्तिष्क
Brain-matter मनोपदार्थ, मस्तिष्क पदार्थ
Brain-centre मनोकेन्द्र, मस्तिष्क केन्द्र
Brute retentive power, प्राकृतिक धारणा शक्ति
By-product गौण फल
Boarding School निवास पाठशाला
Boredom उकताहट
Communication संचार
Crux मूलाधार

Correction शुद्धि, शुद्धीकरण
Concept सामान्य प्रत्यय (विचार बोध)
Conceptual प्रत्यय सम्बन्धी, प्रत्ययात्मक
Concomitant learning सहभाविक शिक्षाप्राप्ति
Contrast विरोध
Contiguity सामीप्य
Complacency आत्मसन्तोष
Cause and effect कारण तथा परिणाम
Character चरित्र, आधार
Connection अन्तर्सम्बन्ध
Cell अणुकोष्ठ
Curriculum पाठ्यक्रम
Conservative रूढ़िवादी
Conation इच्छाशक्ति का प्रयत्न, चेष्टा
Cognition ज्ञानानुभव, प्रबोध, ज्ञान
Curiosity जिज्ञासा
Course कोर्स, पढ़ाई
Compulsory अनिवार्य
Craft शिल्प, हस्तकला, शिल्प-कला
Class-teaching कक्षा शिक्षण कक्षा-अध्यापन
Comparision तुलना
Contrast अन्तर निकालना, वैपरीत्य
Crude रूक्ष
Danger खटका, भय
Delivery वाक्यशैली
Dependableness अवलम्ब-नीयता, निर्भर योग्यता
Disuse अनुपयोग
Desire इच्छा
Discipline अनुशासन
Deduction अनुमान-शास्त्र, अनुमान
Deductive अनुमानिक
Drill व्यायाम
Drill-work कटु अभ्यास-कार्य
Drill-memory-work कटु-अभ्यास स्मरणकार्य
Expedition साहसिक यात्रा
Emotion मनोभाव, संवेग
Emotional stability मनो-भाविक स्थिरता, संवेगात्मक स्थैर्य्य
Environment वातावरण
Experience अनुभव
Experiment अनुसन्धान परी-क्षण, प्रयोग
Exposition निर्दर्शन। व्याख्या, स्पष्टीकरण, विवरण
Expression अभिव्यक्ति
Exploration खोज
Exact पूर्णशुद्ध
Elementary प्रारम्भिक, तात्विक
Education शिक्षा, अध्यापन

Educative शिक्षापूर्ण
Educational शिक्षात्मक
Endowment मेघ, योग्यता
Finalize अन्तिम रूप देना
Faculty मनोशक्ति,
Fatigue थकन
Feel अनुभूति करना
Feeling भावना, अनुभूति, अनुभूति सम्बन्धी
Forward looking Principal अग्रदर्शक सिद्धांत
Factual knowledge तथ्यपूर्ण ज्ञान
Frankness निष्कपटीपन
Formulation युक्तिकरण
Fallacy भ्रान्ति
General सामान्य
Generalization सामान्य सूत्र, सामान्य सिद्धान्त, सामान्यीकरण
Goal निमित्त विन्दु
Guidance पथप्रदर्शन
Gang period मण्डली काल
Generic similarity जाति समानता
Guides to study question अध्ययन के पथप्रदर्शक प्रश्न
Group समूह
Grade क्रम, श्रेणी, वर्ग
Graded क्रमिक रूप से, क्रमिक, क्रमबद्ध, श्रेणी बद्ध
Herd instinct झुण्ड भावना, समूह प्रवृत्ति
Henristic method अन्वेषण पद्धत्ति
Humane and liberal education मनुष्यत्वपूर्ण तथा उदार शिक्षा
Home work घर से कर लाने वाला काम, गृहकार्य
Heredity आनुवंशिकता, वंशानुक्रम
Hereditary endowment आनुवंशिक मेघ, वंशानुक्रमिक
Humour हास्यभाव
Habit आदत
Integration संयोजन
Induction उपमान
Information सूचना, ज्ञानपरिचय
Inherited परम्परा प्राप्त
Instruction निर्देश, आदेश, अध्यापन
Imagination कल्पना
Imagery कल्पना चित्र
Imitation अनुकरण
Inferiority तुच्छता। आत्महीनता, दैन्य
Instinct स्वतःभावना, मूलप्रवृत्ति
Interpretation अर्थ निरूपण

Instinctive स्वतःभाविक, मूल-प्रवृत्यात्मक
Immediacy तत्क्षणता
Intelligence बुद्धि
Image प्रतिबिम्ब
Instinctive urge स्वतःभाविक प्रेरकभावना, मूलप्रवृत्यात्मक
Initiative पहलकारिता, प्रथम-कारिता
Intellectual बौद्धिक
Innate आन्तरिक, जन्मजात
Inert निश्चल
Intrinsic मौलिक
Inanition कार्यशून्यता
Inspiration प्रेरणा
Insecurity अनिश्चय, अरक्षा
Inter-action अन्तर्क्रिया
Idea धारणा, विचार
Judgement निर्णयशक्ति, निर्णय
Knowledge ज्ञान
Letter and spirit शब्द तथा भाव
Law व्यवहार विधि, नियम
Line of action कार्य दिशा, कार्य रेखा
Liking चाव
Learning शिक्षा प्राप्ति
Learn by heart हृदयगंम करना, याद करना
Laziness आलस्य
Leaving Examination प्रस्थान परीक्षा
Logical तर्कात्मक, तर्कसंगत
Line of thought चिन्तन दिशा
Malnutrition पोषण भाव
Maturation परिपक्वता
Memorize स्मरण करना
Memory स्मरण शक्ति, स्मृति
Mindset मनोकृति
Motivation उत्प्रेरणा
Motive प्रेरक उद्देश्य
Memories स्मृति, सहायक
Make-up कृति
Measures कार्यवाही
Maxim मूलसूत्र
Multiple learning बहुअंगी शिक्षा प्राप्ति
Mind मानस
Manners शिष्टाचार
Meaning unit अर्थ इकाई
Mastery सम्पूर्ण प्राप्ति
Visual memory दृष्टात्मक स्मृति, दृष्ट्यात्मक स्मृति
Audile श्रवणात्मक
Tactile स्पर्शात्मक
Kinaesthetic लालित्य ज्ञानात्मक
Muscular मांसपेशिक
Mental-state मनोस्थित्वि
Nerve-centre स्नायुकेन्द्र

Nervous system स्नायुसंस्थान
Nerve-path स्नायुमार्ग
Native-intelligence स्वाभाविक समझदारी
Noise कोलाहल, हल्ला
Narrow-specialism संकीर्ण विशेषज्ञतावाद
Observation अवलोकन
Object वस्तु, मूलोद्देश्य
Objective यथार्थ, उद्देश्यात्मक
Outline रूपरेखा
Order व्यवस्था
Orderly व्यवस्थित
Outdoor Activity खुले मैदान की क्रियाशीलता, बहिरांगण क्रियात्मिकता
Poor क्षुद्र
Purpose उद्देश्य
Pragmatic प्रयोगिक, कार्यसाधक
Perception वस्तुबोध, प्रत्यक्ष
Particular ability विशिष्ट योग्यता
Playway method खेलरूपी पद्धति
Preparation तैय्यारी
Pugnacity कलह
Practical व्यवहारिक
Passive अकर्मण्य
Punishment दण्ड
Point बिन्दु, तथ्य-बिन्दु
Part पात्र-नियोग (नाटक)
Precedent पूर्व-उदाहरण
Perfection पूर्णत्व
Project Method परियोजना पद्धति
Process प्रक्रिया
Physical Drill व्यायाम, शारीरिक व्यायाम
Planning प्रयोजन, नियोजन
Preparatory class तैय्यारी-कक्षा
Presentation प्रस्तुति
Procedure कार्य-विधि
Practice अभ्यास
Progress and Reasoning क्रमिक वृद्धि तथा तर्क
Point of departure चढ़ाव बिन्दु
Quality गुण
Quantity मात्रा
Response प्रतिवादन
Refinement विमलता
Revision दुहराना
Repetetion पुनरावृत्ति
Recaptulation पुनरुक्ति
Routine ढर्रा, नित्यकर्म, नित्यक्रम
Rate वेगमाप
Readiness तत्परता
Realization आभास

Recency सद्यस्कता
Religious Appeal धार्मिक भाव, धर्मभाव
Reading Lesson पठन पाठ
Retention धारण शक्ति
Retentiveness धारणशीलता
Record पूर्वकार्य
Recitation पठन, कविता पाठ
Responsiveness प्रतिवाद-नात्मक
Recuperative पुनर्लाभात्मक
Representative subject प्रतिरूप विषय
Reaction प्रतिक्रिया
Rendering प्रतिपादन
Spirit भाव
Spirit of play खेलभाव
Supervision अवेक्षण
Supervisor अवेक्षक
Smart चरपरा
Sensitivity शीघ्रप्रतिक्रिया-शक्ति
Stage उपक्रम, अवस्था
Selection चयन
Stimulation मनोवेग वर्धन, उद्दीपन
Sublimation उत्कर्षन, उत्कृष्टी-करण, शोधन
Suggestion संकेत, संकेत-कार्य, निर्देश
Sincerity सत्यहृदयता
Sentiment मनोभाव, स्थायीभाव
Sense ज्ञानेन्द्रिय
Sensation सर्वेदन
Subject matter विषय सामग्री
Section उपकक्षा
Synthetic सम्मिश्रित
Similarity तुल्यता, समरूपता
Sustained Attention स्थिर रुचि
Screed उत्कट भाषा
Step पद
Spacing वितरण
Summarize सारांश निकालना
Studying together Joint Study सह-अध्ययन
Silent Reading मौन पठन
Subject विषय, अनुसंधानाधीन व्यक्ति
Spoiled work रद्दी
Syllabus पाठ्यव्यूह
Store of knowledge ज्ञान-भंडार
Starting points प्रारंभ विन्दु, आरंभ विन्दु, प्रारंभिक विन्दु
Sense of value मूल्याङ्कन भाव
Second language द्वितीय भाषा
Systematize नियम बद्ध करना
Skill निपुणता
Self-expression आत्म-अभि-व्यक्ति

Tabulation सारिणीकरण
Trial and error method परीक्षा तथा त्रुटि पद्धति
Term वर्षखण्ड
Transitoriness क्षणिकता
Team खेलमंडली
Tenacity टिकाऊपन
Thoroughness परिपूर्णता
Technique विधिकला
Transition अवस्थान
Training प्रशिक्षण
Tendency प्रवृत्ति
Topic प्रकरण
Upto the mark यथास्तर
Urge प्रेरक भावना
Use उपयोग
Variety विविधता भिन्नता
Vitality जीवन शक्ति
Ventilation वायु के आवागमन की व्यवस्था
Way of working कार्य-विधि
Wolf cub शेरबच्चा
Vague अस्पष्ट
Warming up गर्माना
Working Teacher कार्यलग्न शिक्षक
Vocational व्यावसायिक
Women's Education Committee नारी शिक्षा समिति